



तुलनात्मक राजनीति—मुद्दे और प्रवृत्तियाँ

MPS-004 की विशेषज्ञ समिति

प्रो. ए. एस. नारंग
संयोजक
राजनीति विज्ञान संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. आर. नारायणन
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
इंडियन कौन्सिल फॉर सोशल
साइन्स रिसर्च, नई दिल्ली

प्रो. अनिरुद्ध दास गुप्ता
पूर्व डीन,
अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन विद्यापीठ,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

प्रो. दरवेश गोपाल
राजनीति विज्ञान संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. शोभनलाल दत्ता गुप्ता
राजनीति विज्ञान विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय,
कोलकता

प्रो. मोहित भट्टाचार्या
पूर्व उप-कुलपति
वर्धवान विश्वविद्यालय
वर्धवान, पश्चिम बंगाल

डॉ. एस. विजयाशंकर रेड्डी
रीडर, राजनीति विज्ञान संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. सुधा पाई
अध्यक्ष,
राजनीति अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रो. सुशीला कौशिक
पूर्व विभाग प्रमुख
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

MPS कार्यक्रम संयोजक:

प्रो. दरवेश गोपाल एवं डॉ. अनुराग जोशी

विकास समिति पाठ्यक्रम निर्माण दल

इकाई

- 1 एवं प्रो. सुधा पाई
- 7 अध्यक्ष, राजनीति अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली
- 2 एवं डॉ. के. के. मिश्रा
- 3 रीडर, राजनीति विज्ञान
हिन्दू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- 4 डॉ. एन. डी. अरोड़ा
पूर्व रीडर, राजनीति विज्ञान
डी.ए.वी. कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- 5 डॉ. आशुतोष कुमार
रीडर, राजनीति विज्ञान
राजनीति विज्ञान विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
- 6 प्रो. मोहित भट्टाचार्या
पूर्व उप-कुलपति
वर्धवान विश्वविद्यालय
वर्धवान, पश्चिम बंगाल

इकाई

- 8 एवं डॉ. एस. बी. जैन
- 9 उप-प्रधानाचार्य, सत्यावती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- 10 डॉ. दीपक सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़
- 11 डॉ. आर. सी. विरमानी
रीडर, राजनीति विज्ञान
श्यामलाल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- 12 डॉ. उज्ज्वल कुमार सिंह
फैलो, एन एम एम एल
नई दिल्ली
- 13-15 डा. एस.के. चौबे (सेवानिवृत्त)
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

सम्पादकीय सहायक

डॉ. शैलजा गुल्लापल्ली
कनिष्ठ परामर्शदाता
राजनीति विज्ञान संकाय
इग्नू नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक

प्रो. ए. एस. नारंग
संयोजक
राजनीति विज्ञान संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू नई दिल्ली

पाठ्यक्रम सम्पादक

प्रो. ए. एस. नारंग
संयोजक
राजनीति विज्ञान संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू नई दिल्ली

अनुवादक

कुमारी सुजाता मिश्रा

सामग्री निर्माण

श्री अरविंद कुमार

सचिवालयी सहायक

आर. रमेश कुमार
निजी सहायक-II

अगस्त, 2004

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

ISBN-81-266-1366-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिनियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विप्लवविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. कपिल कुमार, निदेशक (सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित प्रकाशित।

लेज़र टाइपसेट: मै. एच.डी. कंप्यूटर क्लॉफ्ट, ई.ए. 1-75, इन्द्रपुरी मैन मॉर्किट, नई दिल्ली-110012

"Paper used : Agro based environment friendly"

मेसर्स डी.के. प्रिंटर्स 5/37ए, कीर्ति नगर इंडि एरिया, नई दिल्ली-110015 द्वारा मुद्रित।

विषय सूची

परिचय

इकाई - 1	तुलनात्मक राजनीति : स्वरूप, महत्व और विकास	11
इकाई - 2	तुलनात्मक दृष्टिकोण और प्रणालियाँ : व्यवस्था प्रणाली, संरचनात्मक और सार्वजनिक नीति	22
इकाई - 3	तुलनात्मक दृष्टिकोण: राजनीतिक अर्थव्यवस्था, निर्भरता और विश्व व्यवस्थाएँ	42
इकाई - 4	राज्य के सिद्धान्त	63
इकाई - 5	विकासशील समाजों में राज्य: एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमरीकी अनुभव	80
इकाई - 6	राज्य-नागरिक समाज सम्बन्ध: उभरते हुए प्रतिमान	97
इकाई - 7	भूमण्डलीकरण और राज्य	111
इकाई - 8	क्षेत्रीय संघटन और राज्य	123
इकाई - 9	अंतर्राष्ट्रीय संगठन और राज्य	138
इकाई - 10	संक्रमणकालीन बहुराष्ट्रीय निगम और राज्य	152
इकाई - 11	राष्ट्रवाद: विभिन्न दृष्टिकोण	164
इकाई - 12	राष्ट्रवाद के स्वरूप	188
इकाई - 13	उपनिवेशवाद और उपनिवेश-विरोधी आंदोलन	203
इकाई - 14	राष्ट्रीयता और आत्मनिर्णय	216
इकाई - 15	राज्य निर्माण और संविधानवाद	226
कुछ उपयोगी पुस्तकें		243

परिचय

तुलनात्मक अध्ययन राजनीति अध्ययन का एक प्राचीनतम तरीका रहा है। तुलनात्मक तरीके की सबसे पहले शुरुआत ईसा से चौथी शताब्दी पहले से पाई जा सकती है जब अरस्तू ने उस समय की सरकारों तथा सत्ताओं की विशेषताओं को कुछ विस्तार में वर्णन करने के लिए पहला प्रयास किया था। तत्पश्चात् विभिन्न कालों में अनेक विचारकों तथा दार्शनिकों ने तुलनात्मक प्रणाली विज्ञान का उपयोग किया है। इनमें रोमन विद्वानों में सिसरो, प्लायवियस, और टाइसिटस, पुर्नजागरण काल के अन्य विद्वानों में मैकियावेली, प्रबुद्ध (इनलाइटैन्मेन्ट) मानस्टैकी और 19वीं शताब्दी में ताकविलै, मार्क्स, मिल, वैगहॉट, मुस्का और अन्य शामिल हैं। राजनीति शास्त्र में तुलनात्मक विधि के उपयोग के पीछे मुख्य तर्क, जैसा कि बर्त्राण बॉडी ने कहा है कि विज्ञान की शक्ति और वैधता उसी वर्ग के पदार्थों के बीच समानताओं और विषमताओं की तुलना करने और उनकी मात्रा निश्चित करने की गुजाइश पर प्रायः निर्भर करती है। राजनीति शास्त्र इस नियम का अपवाद नहीं है। और इस हद तक है कि यह एक विज्ञान बन चुका है और विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है इसके संस्थापकों ने तुलनात्मक विधियों पर प्रयोग के विकल्प के रूप में स्वयं को केन्द्रित किया। तुलनात्मक विधि के तर्क का एक अन्य पहलू भी है। देगान और पोलास्सी ने अपने अध्ययन 'राष्ट्रों की तुलना कैसे करें' में इस वक्तव्य से शुरुआत की है "दार्शनिकों का एक पुराना विचार यह है कि स्वयं के बारे में ज्ञान अन्य लोगों के बारे में ज्ञान प्राप्ति के जरिये किया जाता है।"

तुलनात्मक विधि के पुराना होने के बावजूद, इस विधि के इस्तेमाल करने के पीछे तुलनात्मक राजनीति शास्त्र के बारे में अस्पष्टता है। सामान्य रूप में तरीके का मुख्य जोर, वास्तव में, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से एक से ज्यादा देशों पर रहा है। इसमें यह बात भी निहित है कि तुलना में जो अवधारणाएँ इस्तेमाल में लाई जाती हैं, वे एक से अधिक देशों पर लागू होती हैं। परन्तु देशों और अवधारणाओं के चयन के संदर्भ में असहमतियाँ होती रही हैं। तुलनात्मक राजनीति को भी अपेक्षाकृत व्यापक विभाग क्षेत्रों, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध अथवा क्षेत्रीय अध्ययनों अथवा नीति शोध में रखते समय भी असहमतियाँ होती रही हैं। इसी के अनुसार अध्ययन के लिए उपयोग में लाई जाने वाली तकनीकों और दृष्टिकोणों के संबंध में भी अंतर रहे हैं। राजनीति शास्त्र के एक उपविषय के रूप में तुलनात्मक राजनीति में भी कई कारणों से अवनति के काल में बीसवीं शताब्दी के बाद के वर्षों में प्रवेश कर गई है।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद की अवधि, जो उपनिवेशवाद की समाप्ति का भी काल थी, उपशिक्षणों में, खास तौर पर, महत्वपूर्ण वाद-विवाद तथा परिवर्तनों का दौर देखा गया। उस समय तक तुलनात्मक राजनीति काफी हद तक पश्चिमी देशों के अध्ययन की तुलनात्मक राजनीति वह भी सरकारों और संस्थानों, ऐतिहासिक सैद्धान्तिक, कानूनी अध्ययनों का इस्तेमाल करते हुए सीमित रही। उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद इस दृष्टिकोण को छोड़ देना पड़ा। यह महसूस किया गया कि राजनीतिक दायरे को केवल पश्चिमी दुनिया तक ही कृत्रिम रूप से सीमित नहीं रखा जा सकता है, जैसा कि बर्त्रात

बॉडी ने भी कहा था कि महाशक्तियाँ जिस नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करने की कोशिश कर रही थी, इस स्वीकृति पर निर्भर करती थी, विश्व के सभी समाज आधुनिक औद्योगिक समाज के एक ही मॉडल के प्रति, चाहे वह पूँजीवादी हो अथवा समाजवादी, एक ही ओर अभिमुखी हो रहे थे और यही राजनीतिक अनुसंधान नीतियों का निर्धारण कर रहे थे। तुलना करने से उनकी विविधता अथवा पिछड़ापन अथवा स्थापित राजनीतिक व्यवस्था के ज्ञात प्रकार के संबंध में उनकी विफलता में शामिल बातों का पता लगा।

जल्दी ही, इस दृष्टिकोणों पर भी इन बातों को लेकर आक्रमण होने कि या तो वे व्यवहार तत्वों को बहुत महत्व दे रहे हैं अथवा राज्य की उपेक्षा कर रहे हैं जिसे मुख्य सरोकार माना जाता था।

विकासशील देशों को जिन विभिन्न मसलों का सामना करना पड़ रहा था, उनके प्रति भी चिन्ताएँ व्यक्त की गईं, जैसे नव उपनिवेशवाद और नये सामाजिक आन्दोलन आदि। ऐसे विचार भी उभरे कि सांस्कृतिक विभिन्नताओं के संदर्भ के बिना राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। उन कारकों के संदर्भ द्वारा उनको स्पष्ट करने की आवश्यकता है जो खास ऐतिहासिक मामलों के बीच भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार यह तथ्य उभरा कि विभिन्न समाजों के बारे में एक ही भिन्नता पैदा करने वाले राजनीतिक प्रभावों पर विशेष ध्यान देते हुए तुलनाएँ करना और अधिक संभव नहीं है। सार्वभौम विश्लेषणात्मक सिद्धान्त से एकात्मक तर्क निकालकर उसका विभिन्न तत्वों के साथ व्याख्या करना और भी अस्वीकार्य है।

तुलनात्मक राजनीति के विद्वान यद्यपि अवधारणाओं, विधियों तथा प्राथमिकताओं को लेकर उन पर सहमति और असहमति के दृष्टिकोणों पर कुछ नई आम सहमति बना लिये हों फिर भी, ऐसे दृष्टिकोण जारी रह सकते हैं। विश्लेषण के अनेक स्पष्ट तरीके साथ-साथ जारी रहते हैं। राष्ट्र-राज्य के आधारभूत ढाँचे के अंदर अध्ययन करने के अलावा सूक्ष्म स्थितियों के तुलनात्मक विश्लेषण करने पर जोर दिया जाना भी आवश्यक है, जैसे किसी स्थान विशेष पर प्रतिरोध का इतिहास अथवा क्षेत्रीय संस्कृतियाँ तथा परम्पराएँ अथवा श्रमिकों, जातियों तथा स्त्री-पुरुषों के संघर्ष आदि। राज्य की प्रकृति का तुलनात्मक विश्लेषण क्रांतियाँ, विकास नीतियाँ, राजनीतिक प्रणालियाँ तथा प्रक्रियाएँ जारी हैं। लेकिन आवश्यकता से अधिक साधारणीकरण से बचा जा रहा है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में अब सार्वभौमिकता तथा खास तत्व को ही महत्ता देने जैसे विचारों को अब अस्वीकार किया जाता है।

यहाँ आप जिस तुलनात्मक राजनीति के पाठ्यक्रम को पढ़ रहे हैं, वह इन सभी गतिविधियों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। यहाँ आपको शिक्षा की उस प्रकृति तथा परिवर्तनों से परिचय कराएँगे जिनमें दायरे के मामले में तथा दृष्टिकोण के उपयोग में कुछ बदलाव आए हैं और आपको विभिन्न प्रक्रियाओं, विशेषताओं, विकासों और राजनीति में उभरती हुई चिन्ताओं तथा प्रवृत्तियों को समझाना है।

पाठ्यक्रम आठ क्रेडिट पाठ्यक्रम है जिनमें 30 इकाइयाँ हैं। इसका उद्देश्य आपको राज्य

के बहुराष्ट्रीय अध्ययन, सरकारी संस्थाओं, सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं के बीच आपसी सम्बंध, राजनीतिक प्रक्रियाओं, उभरते मुद्दे, घटनाओं, प्रवृत्तियों, गतिविधियों तथा व्यापक सामाजिक आर्थिक आधार के बारे में अच्छी तरह समझाना है। इस पुस्तक में 15 इकाइयाँ हैं जिनमें चार प्रमुख पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, जैसे तुलनात्मक राजनीति में क्रमबद्ध मामले; तुलनात्मक राजनीति में राज्य; राज्य तथा भूमंडलीकरण; एवं राष्ट्रवाद।

इकाई 1 तुलनात्मक राजनीति के बारे में स्वरूप, महत्व तथा विकास पाठ्यक्रम से आपका परिचय करता है और यह इस शिक्षण की प्रकृति और दायरे से आपको अवगत कराएगा। इकाई 2 में हम तुलनात्मक राजनीति में तरीकों, दृष्टिकोणों के अध्ययन की ओर आपको ले चलते हैं। इस इकाई में तीन दृष्टिकोणों को समझाया गया है: प्रणालियाँ, सरचनात्मक-कार्यात्मक तथा सार्वजनिक नीति। ये दृष्टिकोण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समय में विशेषकर 1950-60 के दशकों के दौरान महत्वपूर्ण हो गए। आप इन दृष्टिकोणों की बुनियादी विशेषताओं के साथ ही साथ उनकी सीमाओं, आलोचनाओं तथा सार्थकता के बारे में अध्ययन करेंगे। इकाई 3 में आप दृष्टिकोणों के बारे में अध्ययन जारी रखेंगे। यह इकाई मुख्य रूप से राजनीतिक अर्थव्यवस्था के बारे में हैं जिनमें सामान्य राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण निर्भरता तथा विश्व प्रणालियों के दृष्टिकोण शामिल हैं। ये दृष्टिकोण हालाँकि आमतौर पर मार्क्सवादी विचारधारा के लोग शामिल करते हैं उदारवादियों के विभिन्न वर्गों में भी ये लोकप्रिय हो गए हैं। आप इन पहलुओं के साथ-साथ इन दृष्टिकोणों की सीमाओं और आलोचनाओं के बारे में भी पढ़ेंगे।

इकाई 4, 5 और 6 राज्य के बारे में हैं। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि तुलनात्मक राजनीति में राज्य का अध्ययन उपेक्षित हो गया है परन्तु अब यह सोच उभरी है कि राज्य राजनीति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू हैं। अतः यह महत्वपूर्ण है कि राज्य के विभिन्न पहलुओं इसकी उत्पत्ति, स्वरूप, कार्य तथा विभिन्न स्थितियों में इसकी भूमिका के बारे में समझा जाए। इकाई 4 में राज्य के विभिन्न सिद्धान्तों के बारे में अध्ययन करेंगे। इनमें उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों ही शामिल हैं। इस इकाई में राज्य के प्रमुख पहलुओं के बारे में जानकारी दी गई है। इकाई 5 में विकासशील समाजों में राज्य की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ विचार-विमर्श करते हुए बताया गया है कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासशील विश्व के संदर्भ में राज्य के क्या सिद्धान्त रहे हैं। वर्ग-राज्य सम्बंधों के मामले में इन समाजों में राज्य की क्या स्थिति है और भूमंडलीकरण, निजीकरण तथा स्थानीयकरण की स्थिति में राज्य की क्या भूमिका है। इसमें बुनियादी स्वीकृति यह है कि एक सभ्य समाज के सिद्धान्त के बिना राज्य का सिद्धान्त नहीं हो सकता। इसलिए इस इकाई में सभ्य समाज के अर्थ और स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। विभिन्न विचारधाराओं द्वारा सभ्य समाज की प्रमुख विशेषताओं और राज्य के साथ उसके सम्बंधों पर भी प्रकाश डाला गया है।

भूमंडलीकरण की स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस पाठ्यक्रम में उसे विशेष ध्यान दिया गया है तथा राज्य पर उसके प्रभावों के बारे में जानकारी दी गई है यहाँ भूमंडलीकरण को संकीर्ण आर्थिक पहलू के अर्थ में नहीं लिया गया है, अपितु इसके व्यापक आर्थिक, राजनीतिक तथा सुरक्षा आयामों को ध्यान में रखकर किया गया है। एक साथ में

भूमंडलीकरण की विशेषताओं के उभरने, राज्य की प्रभुसत्ता पर इसके प्रभावों को समझने के विभिन्न दृष्टिकोणों तथा राज्यों पर इसके पड़ने वाली विभिन्न चुनौतियों को ध्यान में रखकर जानकारी दी गई है। इकाई 8 क्षेत्रीय एकता और राज्य के बारे में है। यहाँ उद्देश्य राज्यों के हाल के इस रवैये को समझना है जो क्षेत्रीय समूहों या संघों के साथ अपना समूह बनाते हैं। यहाँ एकीकरण के विभिन्न दृष्टिकोण होते हैं। विस्तार से इकाई विश्लेषण से राज्य की प्रभुसत्ता कार्य संचालन और प्रकृति पर ऐसे क्षेत्रीय संघों से विभिन्न उदाहरण मिलते हैं। इकाई 9 अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रभाव को ध्यान में रखता है और उन विभिन्न प्रभावों को रेखांकित करता है, जो राज्यों की प्रभुसत्ता और काम काज पर डालते हैं। अंत में भूमंडलीकरण के संदर्भ में इकाई 10 उन प्रभावों के बारे में सूचना उपलब्ध करता है जो ट्रांसनेशनल और बहुराष्ट्रीय निगम पर डालते हैं। इकाई उन परिवर्तनों का वर्णन करता है जो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की प्रकृति के अनुसार आए हैं और इन निगमों तथा प्रभावों पर अपना शिकंजा बढ़ाते जाते हैं जो राज्य के काम काम और प्रभुसत्ता पर अपना दबदबा रखते हैं।

पुस्तक के इस भाग में इकाइयों का अंतिम सेट राष्ट्रवाद पर है यहाँ प्रमुख चिंता उपनिवेशवाद के संदर्भ में 'राष्ट्रवाद के उभरने और राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया के प्रति है। इकाई 11 में राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय पहचान आदि के अर्थों का वर्णन किया गया है। यह राष्ट्रवाद के अध्ययन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का विश्लेषण भी करती है और वैश्वीकरण के संदर्भ में विशेषकर उभरती प्रवृत्तियों का विश्लेषण करती है। इकाई 12 राष्ट्रवाद के विभिन्न स्वरूपों के बारे में हैं। यह राष्ट्रवाद की प्राचीन और आधुनिक अवधारणाओं, यूरोपीय और गैर-यूरोपीय राष्ट्रवाद की प्रकृति का वर्णन करती है और यह निष्कर्ष प्रस्तुत करती है कि सामान्य एक रूप अथवा माड्युलर किस्म जैसा कोई राष्ट्रवाद नहीं होता है। इकाई 13 में उपनिवेशवाद तथा उपनिवेशवादी संघर्षों को लक्षित करके उपनिवेशवाद की उत्पत्ति और वृद्धि तथा उपनिवेश-विरोधी संघर्षों की प्रतिक्रिया के बारे में वर्णन किया गया है। इस इकाई में विभिन्न क्षेत्रों में उपनिवेशवाद की प्रकृति और उपनिवेश विरोधी संघर्षों के विभिन्न रूपों का भी वर्णन किया गया है। इकाई 14 आपको पहचान के अर्थ में राष्ट्रीयता के अर्थ के बारे में अवगत कराता है और उसके साथ ही राष्ट्रीयता तथा आत्मनिर्णय के बारे में भी जानकारी देता है यह उपनिवेशवाद तथा स्वतंत्र राज्यों के बीच राष्ट्रीयता के आवागमन के विभिन्न मामलों पर विचार-विमर्श प्रस्तुत करता है। इस पुस्तक में अंतिम इकाई राज्य के निर्माण तथा संवैधानिकता के बारे में है। यहाँ आपको राज्यों के कार्यों के बारे में बताना है कि वे ढाँचे और संगठनों को मजबूत करते हैं। संवैधानिकवाद की प्रक्रिया के बारे में खास विचार-विमर्श किया गया है जो राज्य निर्माण की प्रक्रिया के दौरान व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। यहाँ आपको राज्य के संदर्भ में अधिकारों तथा उनकी सीमाओं के बारे में विचारों के बारे में भी पढ़ेंगे।

आपसे आशा की जाती है कि इन सभी इकाइयों को पढ़ें। हर इकाई के अंत में दिये गये सवालों का उत्तर देते हुए अपनी प्रगति का अनुमान लगाएँ। अपने अध्ययन केन्द्र में आप अपने परामर्शदाताओं से अपने संदेहों के बारे में स्पष्टीकरण प्राप्त कर सकते हैं। हम आप सभी की सफलता की कामना करते हैं।

इकाई 1 तुलनात्मक राजनीति: स्वरूप, महत्व तथा विकास

संरचना

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 तुलनात्मक राजनीति और इसका विकास क्या है?
- 1.3 तुलनात्मक प्रणाली
- 1.4 समसामयिक महत्व
- 1.5 सारांश
- 1.6 बोध प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान को जिन कई भागों में विभक्त किया जाता है, उन कई क्षेत्रों या उपभागों में तुलनात्मक राजनीति मात्र एक है, जिसमें वास्तविक स्तर के बजाय क्रमबद्ध तरीका अपनाया जाता है। तुलनात्मक राजनीति के विषय और सीमाएँ बहुत अच्छी तरह परिभाषित नहीं की गई हैं। कुछ तो इस क्षेत्र में अस्पष्ट मिश्रण के तरीके और विषय क्षेत्रों के कारण हैं। कुछ विद्वानों ने तुलनात्मक राजनीति को “झंझटों का केन्द्र” बताया है क्योंकि इसमें तुलना पर विशेष जोर दिया जाता है और तुलनात्मक प्रणाली को राजनीतिक जाँच का एक तरीका बताया गया है। सभी विश्लेषणों में तुलना का कुछ न कुछ अंश होता है क्योंकि उसके बिना अलग-अलग विशेषताओं को समझा नहीं जा सकता, तुलनात्मक राजनीति हमें यह सिखाती है कि ऐसा कैसे किया जा सकता है। यह इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक कठोरता और तकनीक को भरने की कोशिश करता है। तुलनात्मक सरकार लम्बे समय तक उपभाग के रूप में रहती है, तुलनात्मक राजनीति द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि से अपेक्षाकृत एक नया क्षेत्र है। इस क्षेत्र को परिभाषित करना दुष्कर कार्य है क्योंकि इसमें अनेक परिवर्तन हो चुके हैं और 1980 के दशक तक यह एक ऐसी ऊँचाई तक पहुँच चुका है जहाँ से यह आगे नहीं बढ़ सकता है लेकिन हाल के वर्षों में तुलनात्मक लोक नीति जैसे नये क्षेत्रों के उभरने के कारण इसमें फिर दिलचस्पी बढ़ने लगी है।

1.2 तुलनात्मक राजनीति और इसका विकास क्या है?

मौटे तौर पर तुलनात्मक राजनीति का लक्ष्य विभिन्न देशों के बीच प्रमुख राजनीतिक समानताओं और विषमताओं के बारे में जानकारी एकत्र करना है। कुछ साम्यताओं तथा विभिन्नताओं के मिश्रण के परिप्रेक्ष्य में विकास करने का कार्य है जो विश्व की सरकारों और जिन स्थितियों में वे संचालन करती हैं, उन संदर्भों को स्पष्ट करता है। तुलनात्मक सरकार शब्द बिल्कुल पुराना है जबकि ऊपर वर्णित तुलनात्मक राजनीति शब्द अपेक्षाकृत नया है। परिवर्तन महत्वपूर्ण है क्योंकि दोनों के बीच अनेक मतभेद उनके नाम से बहुत

आगे तक जाते हैं। पहले का उल्लेख परम्परागत दृष्टिकोण के रूप में किया जा सकता है जबकि दूसरे को आधुनिक दृष्टिकोण के रूप में देखा जाता है। 1995 में आर. सी. मेक्राइडिस ने दोनों का स्पष्ट अंतर बताते हुए कहा कि परंपरागत दृष्टिकोण गैर-तुलनात्मक, विवरणात्मक, पक्षपातपूर्ण, गतिहीन तथा प्रबंधकीय हैं। इन विशेषताओं पर संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

परंपरागत दृष्टिकोण गैर-तुलनात्मक तथा विवरणात्मक था। इसमें मानक पाठ्यपुस्तकों में एक के बाद एक अनेक देशों के विवरण दिए गए होते हैं परन्तु तुलना की बहुत कम कोशिश की जाती है, इसलिए यह प्रबंधकीय स्वरूप का हो गया। जैसे हमारे यहाँ देशों के उत्कृष्ट अध्ययन किए गए हैं परन्तु यह समझने की कोशिश नहीं की गई कि किन्हीं खास देशों में क्यों बहुदलीय प्रणाली थी अथवा किसी एक देश में लोकतंत्र दूसरे देश की तुलना में बेहतर क्यों रहा। इसका कारण यह था कि परंपरागत दृष्टिकोण दायरे में अपेक्षाकृत कम संकीर्ण था और यह औपचारिक वैधानिक दृष्टिकोण पर आधारित था जो कुल मिलाकर राजनीति शास्त्र की विशेषता व्यक्त करता है। परिणामस्वरूप, जैसा कि इसके नाम का अर्थ होता है, यह सरकारों और संस्थानों की औपचारिक प्रक्रियाओं के अध्ययन तक सीमित था, इसके विपरीत तुलनात्मक राजनीति दायरे में अपेक्षाकृत व्यापक होती है तथा यह न केवल संस्थाओं को अपने दायरे में कर लेती है बल्कि राजनीतिक प्रक्रियाओं को भी अपने अंदर समाहित कर लेती है, जैसे यह राजनीतिक दलों पर दबाव डालने वाले समूहों और अनौपचारिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को भी शामिल कर लेती है। यह राज्यों के अंदर और राज्यों के बीच प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं के बेहतर विश्लेषण को करने में सक्षम होती है। इसलिए एक प्रकार से यह तुलनात्मक हो सकती है लेकिन वह परंपरागत दृष्टिकोण नहीं हो सकता है। दूसरा, परंपरागत दृष्टिकोण के विपरीत तुलनात्मक राजनीति दृष्टिकोण में बहु-विषयक है, यह न केवल राजनीति शास्त्र से ग्रहण करता है बल्कि इतिहास, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र से भी ग्रहण करता है। इसका कुछ हिस्सा राजनीति विज्ञान की शाखा में परिवर्तनों के कारण था और कुछ हिस्सा व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण था। जिसे हम प्रभावित तुलनात्मक राजनीति में भी देख सकते हैं। तीसरा, परंपरागत दृष्टिकोण संकुचित था जो कि यूरोपियन सरकारों तक सीमित था जिनके कारण इसके विचार एवं विश्लेषण यूरोप केन्द्रित थे। युद्ध के उपरांत की अवधि ने इस क्षेत्र के दायरे में बढ़ोतरी पायी क्योंकि उपनिवेशवाद के बाद राज्यों में वृद्धि हुई जिससे नए सैद्धान्तिक तथा क्रमबद्ध प्रश्न सामने आने लगे। अंततः, पारम्परिक दृष्टिकोण स्थैतिक हो गए, इसने यह समझने का प्रयास नहीं किया कि व्यवस्था में परिवर्तन क्यों होता है। जबकि इसके विपरीत तुलनात्मक राजनीति, राजनीतिक व्यवस्था में परम्परा से आधुनिकता की ओर परिवर्तन कैसे होता है तथा त्वरित परिवर्तन से कैसे उत्पन्न कर सकती है तथा कुछ व्यवस्थाओं में परिवर्तन दूसरे की तुलना में धीरे-धीरे क्यों होते हैं तथा उसमें पारम्परिक विशिष्टता बनी रहती है।

सन् 1950 तथा 1960 के दशकों में हैरोल्ड लासवेल तथा गैबरियल अलम्ड जैसे प्रसिद्ध विद्वानों ने तुलनात्मक राजनीति को तराशने का बीड़ा उठाया और तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को प्रतिस्थापित किया। उनका मूल कार्य एक राजनीतिक सिद्धान्त से इसे अलग रखना तथा दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों तथा क्षेत्र अध्ययन से अलग रखना था।

तुलनात्मक राजनीति को राजनीतिक सिद्धान्त से भिन्न बतलाया गया है क्योंकि इसमें न केवल सैद्धान्तिकरण सम्मिलित था अपितु वर्गीकरण, श्रेणीकरण तथा विभिन्न भिन्नताओं के बीच सम्बंधों की तलाश करना उपसिद्धान्त का निर्माण और साम्राज्यवादी परीक्षण आदि शामिल थे। यह सुझाव दिया गया कि सिद्धान्त और तुलनात्मक राजनीति के बीच वृत्तीय संबंध की संकल्पना की जा सकती है। तुलनात्मक शोध सुस्थापित सिद्धान्त को लेकर कार्य शुरू करता है, अनेक स्थितियों में क्षेत्र में परीक्षण करते हुए तथा तथ्यों के प्रकाश में सिद्धान्त को और परिशुद्ध करते हुए कार्य करता है। इस प्रकार अनेक सैद्धान्तिक उपकरणों, जैसे पार्टी प्रणालियों, संघवाद तथा संसदीय प्रणाली आदि को फार्मूलाबद्ध किया गया।

तुलनात्मक राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के साथ सीमा संबंधी समस्याएँ थीं और अब भी बनी हुई हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि उनके बीच सामान्य आधार हैं, इनमें से पूर्ववर्ती प्रायः विश्व पूँजीवादी प्रणाली के दायरे के अंदर घिरे हुए देशों का प्राय अध्ययन करता है। ए. जी. फ्रैंक तथा इम्मैनयुअल, वालरस्टीन जैसे अनेक विद्वानों ने इस प्रणाली का उपयोग करते हुए बड़े पैमाने पर निर्भरता तथा कम विकास जैसे दृष्टिकोणों का विकास किया है। परन्तु यहाँ कई बड़े मतभेद हैं, तुलनात्मक राजनीति देशों के बीच राजनीतिक विशिष्ट की तुलना पर गहराई से केन्द्रित करते हुए देशों के बीच सम्बंधों तक ही सीमित नहीं रहती। जबकि अन्य के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध ही मुख्य विषय हैं। क्षेत्र अध्ययन दूसरे विश्व युद्ध के समय तब उठे जब नीति निर्धारण करने के लिए युद्ध के दौरान सामरिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों के इतिहास संस्कृति अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक संरचना के बारे में जानकारी रखने की आवश्यकता थी। इसके लिए विभिन्न विषयों के विद्वानों का दल बनाने की आवश्यकता हुई जिनमें समाजशास्त्री होते थे जो गम्भीरता से किसी क्षेत्र पर प्रकाश डाल सकते थे तथा अपेक्षित सूचना उपलब्ध करा सकते थे। तुलनात्मक राजनीति में 'क्षेत्रों' का भी गम्भीरता से अध्ययन किया जाता है, एक प्रमुख अंतर यह है कि क्षेत्र अध्ययन विशेषज्ञ ऐसे आँकड़े पर्याप्त रूप से उपलब्ध करा सकते हैं जो तात्कालिक घटनाओं को स्पष्ट करता है तथा अपेक्षाकृत गहन प्रवृत्तियों के लिए ऐसे विश्लेषणात्मक तथा सैद्धान्तिक उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें केवल तुलनात्मक राजनीति ही उपलब्ध करा सकती है लेकिन इन दोनों उप-विधाओं के बीच एक जटिल प्रस्ताव ही रह जाता है।

इस प्रकार तुलनात्मक सरकार से राजनीति की ओर जो अंतरण होता है। उस संबंध में युद्ध के पश्चात् के तात्कालिक अवधि में दो परिवर्तनों का संकेत मिल सकता है। राजनीति शास्त्र के विषय के साथ आंतरिक विकास तथा दूसरा साम्राज्यवादी क्षेत्र का विस्तार ताकि उसमें ऐसे नए राज्यों को शामिल किया जा सके जो उपनिवेशीकरण के पश्चात् अस्तित्व में आए। 1950 के दशक के अंतिम वर्षों के दौरान राजनीति शास्त्र व्यावहारिक क्रान्ति द्वारा प्रभावित हुआ था जिसने मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र को पहले ही प्रभावित किया था। इसने अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक इच्छा तथा बहुविभाज्य दृष्टिकोण की आकांक्षा पैदा की। व्यवहार संबंधी क्रान्ति का तात्पर्य यह था कि नियमों की तुलना में व्यवहार अधिक महत्वपूर्ण है इस प्रकार विभिन्न देशों तथा विभिन्न क्षेत्रों में राजनीति के क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में आँकड़ों का क्रमबद्ध तरीके से संग्रह की आवश्यकता पड़ने

लगी। सिद्धान्त के बिना आँकड़े आधे रह जाते हैं, व्यावहारिक क्रांति में अवधारणाओं, आदर्शों और उप-सिद्धान्तों का स्पष्ट विस्तार था। विकासशील विश्व के उभरने से राजनीति और समाज तथा समृद्ध और गरीब देशों - विकास तथा आधुनिकीकरण के बीच भिन्नताओं के स्पष्टीकरण के प्रति समग्र नवीन दृष्टिकोण को प्रेरित किया।

इससे तुलनात्मक राजनीति में दो ढाँचों के इस्तेमाल की प्रक्रिया सम्मिलित हुई: प्रणालियों का दृष्टिकोण तथा संरचनात्मक कार्य विश्लेषण। प्रणाली की धारणा जीव-विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के लिए ली गई जहाँ मानव शरीर या कोई मशीन एक प्रणाली के रूप में अभिकल्पित होती है उसके साथ-साथ उपप्रणालियों (अंगों या हिस्सों) की अभिकल्पना की जाती है जिनकी सीमाएँ होती हैं परन्तु जो अत्यंत निकटता से अंतरसंबंध तथा अतिक्षादित कर लेती हैं। इसलिए मानव समाज विभिन्न प्रणालियों राजनीतिक प्रणाली, आर्थिक प्रणाली आदि से बना हुआ है जिनमें से प्रत्येक विशेष कार्य संपन्न करता है। ऐसा तर्क दिया जाता है कि सभी समाज साधारण से जटिलता की ओर बढ़ते जा रहे हैं जैसे व्यक्तियों द्वारा निभाई जा रही भूमिकाएँ अपेक्षाकृत विशेषज्ञता की ओर बढ़ती जाती है जिससे स्पष्ट प्रणालियाँ उभरती जाती हैं जिनकी स्पष्ट सीमाएँ तथा कार्य निर्धारित हो जाते हैं। प्रणाली जितनी ही अधिक जटिल है, उतनी ही अधिक विकसित है अथवा आधुनिक है। इस प्रकार मानव समाज अपेक्षाकृत अधिक विशिष्टीकरण और आधुनिकीकरण की ओर बढ़ता जाता है। राजनीतिक प्रणाली की अवधारणा ऐसी प्रणाली के रूप में की गई जिसमें नीतियों पर अमल की कार्रवाई और अधिक विकास के लिए की जानी चाहिए। संरचनात्मक कार्य दृष्टिकोण में इसके पूरक के रूप में समाजशास्त्र से ग्रहण करते हुए मूल्य मुक्त राजनीतिशास्त्र तैयार करने का प्रयास किया जो सभी प्रणालियों के बारे में बताता है और जिसमें बुनियादी ढाँचा तथा कार्य है जिनमें उनकी राजनीतिक सामाजिक तथा आर्थिक प्रणालियों के स्तर का ध्यान नहीं रखा गया है जिनकी तुलना की जा सकती है तथा जिनका विश्लेषण किया जा सकता है। इन सभी प्रणालियों ने संतुलन बिन्दु तक पहुँचने के लिए साधारण से जटिल या परम्परा से आधुनिक की ओर जाने का प्रयास किया है।

उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया की समाप्ति के परिणामस्वरूप अनेक नए राज्यों के उभरने से इस प्रकार के सिद्धान्तों को पनपने का प्रोत्साहन मिला। प्रणालियों के विश्लेषण तथा संरचनात्मक कार्य के ढाँचे, सभी राजनीतिक प्रणालियों का इस्तेमाल करते हुए यह महसूस किया गया कि विभिन्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, आर्थिक विकास, संस्कृति और मूल्यों के स्तर का अध्ययन किया जाना चाहिए। मुख्य दुविधा यह थी कि क्या जिन सैद्धान्तिक उपकरणों तथा तकनीकों का इस्तेमाल यूरोपीय सरकारों के लिए किया जाता था क्या नए राज्यों के अध्ययन के लिए भी उन्हीं का इस्तेमाल किया जाए अथवा उसके लिए किसी परिवर्तन की आवश्यकता है बहुदलीय प्रणाली संघवाद संसदीय तथा राष्ट्रपतीय प्रणालियों जैसी अवधारणाएँ लम्बे समय से पश्चिमी सरकारों के तुलनात्मक निरीक्षण के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आईं। क्या वे गैर पश्चिमी सरकारों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए उपयोगी रहेंगी अथवा जैसा कि लूसियन पाई ने दावा किया कि इतिहास तथा संस्कृति की विभिन्नताओं के कारण कोई गैर पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रिया स्पष्ट रूप से उभरी। पूर्व और पश्चिम के बीच विभिन्नताओं के मामले में केवल यही रियायत

की जा सकती है कि विश्लेषण में कुछ सांस्कृतिक विभिन्नताओं को अनुमति दी जाए। इसके अलावा, जैम्स कोलमैन, गैब्रीयल अलमंड तथा लूसियन पाई, जैसे विद्वानों द्वारा राजनीतिक विकास तथा नए राज्यों के तुलना तथा विश्लेषण के लिए उपयोगी मानी गई हैं। इसके वाम पंथ के रूप में भी इसी प्रकार का विकास तथा बड़े पैमाने पर इसी प्रकार की अवधारणाओं को देखा जा सकता है, जैसे विकासशील देशों को समझने के लिए क्रमबद्ध विकास तथा निर्भरता जैसी अवधारणाओं को पश्चिमी देशों के साथ उनके अंतर को स्पष्ट करने के लिए सामने लाया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक प्रणाली के बारे में बड़े पैमाने पर सिद्धान्तों को सामने लाने तथा 'ग्रेड थ्योरी' पर जोर दिया गया।

ये दृष्टिकोण शुरू से ही लोगों को पसंद नहीं आए। इन्हें यूरोप केन्द्रित, न्यूनतावादी तथा अति महत्वाकांक्षी कहकर आलोचना की गई। इस पैमाने पर तुलनाएँ बहुत कठिन सिद्ध हुई इसलिए अपेक्षाकृत अधिक नियामक विज्ञान की ओर रुझान शुरू हुआ जिसमें तुलनाओं को कठिन बनाने वाले सांस्कृतिक मतभेदों की उपेक्षा नहीं की गई और अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर तुलना करने वाले मध्यम स्तर के सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं की गई। अनेक विद्वानों को अपने ही प्रयासों से मोह भंग हो गया। समाजशास्त्र पर अंतर्राष्ट्रीय विश्व कोश में अलमंड ने यह तर्क दिया है कि तुलनात्मक राजनीतिशास्त्र उत्कृष्ट रूप में एक आन्दोलन है और यह राजनीतिशास्त्र के भीतर उप-विभाग नहीं है। 1970 के दशक के अंत तक तुलनात्मक राजनीति एक निश्चित ऊँचाई तक पहुँच गई; इसके कुछ हिस्से राजनीतिक सिद्धान्त में शामिल किए गए तथा कुछ हिस्से क्षेत्र अध्ययन में शामिल किए गए। अपेक्षाकृत और अधिक आशावादी आंकलन यह होगा कि एक ओर जहाँ परंपरागत दृष्टिकोण पर आक्रमण सफल था तो दूसरी ओर सुझाए गए नवीन विकल्प भी सीमितताओं से मुक्त नहीं थे। तुलनात्मक राजनीति के पुनः अभिमुखीकरण से सैद्धान्तिक गहराई के रूप में इसके उप-विभाग का विस्तार हुआ और साम्राज्यवादी दायरे में ऐसे प्रयास किए गए कि सिद्धान्त के माध्यम से बढ़ते हुए लेकिन ज्ञान की हताशाभरी संस्था को समेकित किया जाए।

1.3 तुलनात्मक प्रणाली

अनेक विद्वान तुलनात्मक प्रणाली के तरीके और दायरे पर सहमत नहीं हैं। ए. एन. आइसेनसद्दात जैसे कुछ विद्वानों ने तर्क दिया है कि तुलनात्मक प्रणाली शब्द में किसी खास तरीके का उचित रूप से बोध नहीं होता, अपितु समाजों के विशाल सामाजिक पहलुओं अथवा संस्थागत पहलुओं और समाज के विभिन्न वर्गों पर विशेष ध्यान देने एवं सामाजिक विश्लेषण पर विशेष जोर दिया जाता है। अरेन्ड लिजहोड जैसे अनेक विद्वानों का विचार है कि निश्चित रूप से यह एक तरीका है, यह मात्र सुविधाजनक शब्द नहीं है जिसमें किसी के शोध हितों पर अस्पष्ट रूप से संकेत किया गया है। परन्तु इसे बुनियादी तरीकों में से एक तरीके के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है। अन्य तरीकों में प्रायोगिक, सांख्यायिकी तथा मामलों के अध्ययन के तरीके - सामान्य सिद्धान्त स्थापित करने जैसे शामिल हैं। दूसरी ओर, हैराल्ड लासवेल का तर्क है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति जो राजनीतिक विशेषताओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखता है, उसके

लिए स्वतंत्र तुलनात्मक तरीके का विचार दकियानुसी विचार जैसा लगता है क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण में तुलना अपरिहार्य होता है। गैबरियल अलमंड ने भी वैज्ञानिक तरीके के साथ तुलनात्मक विधि की समानता दिखाई है। परन्तु यह रेखांकित करना आवश्यक है कि विद्वान तुलनात्मक तरीके को माप का तरीका नहीं बल्कि विभिन्नताओं में साम्राज्यवादी संबंधों का पता लगाने का एक तरीका मानते हैं। विभिन्नताओं को माफ करने का तरीका उनमें संबंधों को तलाश करने के प्रारंभिक चरण की तार्किक परिणति है, यह उन चरणों का दूसरा चरण जिसका उल्लेख तुलनात्मक तरीके में किया जाता है। अन्ततः तरीके और तकनीक के बीच अंतर किया जाना चाहिए। तुलनात्मक तरीका सामान्य तरीका या व्यापक मापक (ब्राडगेज़) है न कि संकीर्ण विशेष तकनीक। यही कारण है कि विद्वान तुलनात्मक तरीके का उल्लेख करते हैं या कुछ तुलनात्मक दृष्टिकोण शब्द को बेहतर मानते हैं क्योंकि इसे तरीका कहकर पुकारने में संक्षिप्तता का अभाव रहता है। तुलनात्मक तरीका केवल मात्र अनुसंधान में सहायक तकनीक नहीं है, बल्कि इसे एक बुनियादी शोध नीति भी कहा जा सकता है।

तुलनात्मक तरीके को उस समय सर्वोत्तम रूप में समझा जाता है जबकि इसे प्रायोगिक, सांख्यायिकी अध्ययन के तरीके के संक्षिप्त तुलनात्मक के रूप में समझा जाए। प्रायोगिक तरीके को नियंत्रित स्थिति में दो भिन्नताओं के बीच संबंध के रूप में समझा जाता है। राजनीतिशास्त्र में ऐसे प्रयोग संभव नहीं है, इसलिए इसका वैकल्पिक तरीका है। सांख्यायिकी प्रणाली जिसमें अनेक भिन्नताओं के बीच निपेक्षित संबंधों का पता लगाने के उद्देश्य से साम्राज्यीय आँकड़ों का अवधारणात्मक उपयोग किया जाता है। यह नमूने को विभिन्न रूपों में विभाजित करके (उदाहरण के लिए आयु, आमदनी, शिक्षा आदि) आंशिक या संबंधों या विभिन्न गणितीय तरीकों के द्वारा तथा चयन किए गए दो विभिन्न रूपों में सह संबंधों को ध्यान में रखते हुए समस्या को नियंत्रित करता है। यह एक मानक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा चुका है तथा लगभग सभी साम्राज्यवादी शोध कार्यों में अनुप्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सांख्यायिकी प्रणाली प्रायोगिक विधि का एक प्रकार से निकट का संबंध है क्योंकि यह भी उसी तर्क का प्रयोग करता है। इसलिए तुलनात्मक विधि एक प्रकार से सांख्यायिकी प्रणाली से साम्य रखता है। अंतर केवल इतना है कि जितने मामलों की संख्या को यह अपने इस्तेमाल के लिए लेता है सांख्यायिकी प्रणाली की तुलना में यह बहुत कम होते हैं परन्तु यह समझना आवश्यक है कि तुलनात्मक प्रणाली प्रायोगिक विधि के लिए उस तरह का पर्याप्त विकल्प नहीं है जैसा कि प्राकृतिक विज्ञानों में है।

परन्तु ये खामियाँ कई प्रकार से अत्यधिक कम की जा सकती हैं। जहाँ समूचे राजनीतिक प्रणालियों के मामले की तुलना की जा रही हो जहाँ तक संभव हो सांख्यायिकी प्रणाली की तुलना सर्वोत्तम है उसके पश्चात् तुलनात्मक प्रणाली का उपयोग करना होगा। दोनों ही विधियों का एक साथ तालमेल करते हुए भी किया जा सकता है। इसमें तुलनात्मक विश्लेषण प्रथम चरण है जिसमें सावधानीपूर्वक बड़ी-बड़ी परिकल्पनाएँ की जाती हैं जिनमें प्रायः कुछ प्रणालियों के संरचनात्मक तत्वों को शामिल किया जाता है और सांख्यायिकी चरण दूसरे स्थान पर है जिसमें सूक्ष्म निरीक्षणों को अधिक से अधिक नमूनों के रूप में शामिल किया जाता है दूसरी, बात यह है कि नकारात्मक जानकारी को बहुत अधिक

महत्व नहीं देना चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी परिकल्पना के लिए जब नमूना छोटा हो तो किसी एक आधार के न मिलने पर उसे अस्वीकृत कर देना। इसके अपेक्षा शोध का लक्ष्य संभावना जन्य होना चाहिए न कि सार्वभौम साधारणीकरण। तीसरा, जहाँ तक संभव हो, मामलों की संख्या बढ़ाई जाए क्योंकि यदि बहुत कम नमूने होंगे तो वह अधिक उपयोगी नहीं होगा। तुलनात्मक राजनीति ने प्रगति की है क्योंकि अनेक देशों में या उनमें राजनीतिक घटनाओं की तुलना के आधार पर सार्वभौम रूप से उपयोग में लाई जाने वाली सिद्धान्तों या बड़े सिद्धान्तों को तैयार करने के कारण उनकी प्रगति हुई है। उदाहरण के लिए, संरचनात्मक कार्य विश्लेषण सिद्धान्त ने तुलनात्मक शोध की एक ऐसी दुनिया ला दी है जिसके बारे में पहले ज्ञान ही नहीं था। चौथा, यदि मामलों की संख्या अधिक न हो तो विभिन्नताओं की संख्या बढ़ा दें, हालाँकि इसका और अधिक साधारणीकरण संभव है। पाँचवा, तुलनीय मामलों पर विशेष प्रकाश, जैसे जिनमें तुलनीय विशेषताओं या भिन्नताओं की संख्या बहुत अधिक हो जो लगातार हो लेकिन उन विभिन्नताओं से अधिक से अधिक भिन्न हो जो एक दूसरे से संबंध होना चाहते हों। इस प्रकार हम विशिष्टताओं का संचालनात्मक अध्ययन करते हैं। वह अध्ययन चाहे सांख्यिकी प्रणाली से या तुलनात्मक विधि से। यहाँ दायरा या क्षेत्रीय दृष्टिकोण उपयोगी होता है। उदाहरण के लिए, लैटिन अमेरिका अथवा स्कैंडिनेविया के देशों का तुलनात्मक अध्ययन। परन्तु अनेक विद्वानों ने यह संकेत दिया है कि यह मात्र प्रबंधकीय तर्क है जो विचारों को बंधन में बांधने वाला तर्क नहीं होना चाहिए। दूसरा, विकल्प है देशों के अंदर क्षेत्रों का अध्ययन अथवा भिन्न-भिन्न समय पर उनका अध्ययन करना क्योंकि समस्या का नियंत्रण अपेक्षाकृत सामान्य रहता है क्योंकि एक प्रकार के संघीय ढाँचे के भीतर होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संघ के अंदर स्थित राज्यों का अध्ययन तुलनात्मक शोध के लिए एक अच्छी प्रयोगशाला उपलब्ध कराता है, हालाँकि अभी तक इसका उपयोग नहीं किया गया है। अंत में, अनेक विद्वान महसूस करते हैं कि प्रमुख अथवा संदर्भ की भिन्नताओं की ओर मुख्य ध्यान देना चाहिए क्योंकि बहुत ज्यादा भिन्नताओं से समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। यह न केवल प्रबंधनीयता की सुविधा प्रदान करता है अपितु मध्यम स्तर की सैद्धान्तिक तथा राजनीतिक प्रणालियों की आंशिक तुलना उपलब्ध कराता है। यह तरीका नृवंशशास्त्रीय अध्ययनों में सफलतापूर्वक लाया गया है क्योंकि जनजातीय प्रणालियाँ अधिक पैचीदी नहीं हैं। राजनीतिक शास्त्री भी भिन्नताओं की संख्या को कम करके इसे कर सकते हैं।

जब केवल एक ही मामले का विश्लेषण किया जा रहा हो तो 'केस स्टडी मेथड' का इस्तेमाल किया जा सकता है परन्तु यह तुलनात्मक तरीके के साथ बहुत निकटता से जुड़ा है और जब ऐसे अनेक मामलों की तुलना करनी हो तो किसी एक मामले का गहन अध्ययन तुलनात्मक अध्ययन का एक अभिन्न हिस्सा बन जाता है। 'केस स्टडी प्रणाली' का वैज्ञानिक स्तर कुछ हद तक अस्पष्ट होता है क्योंकि विज्ञान न तो साधारणीकरण है, न सुस्थापित साधारणीकरण को अस्वीकार करने का कोई आधार है, परन्तु इसका महत्व उस समय है, जब राजनीति शास्त्र में साधारण प्रस्ताव का कोई प्रखंड बनाने के लिए या सिद्धान्त बनाने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाता है और जबकि उसी जैसे विषयों पर कई 'केस स्टडी' किए जा चुके हैं। 'केस स्टडी' कई प्रकार

से किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, गैर सैद्धान्तिक या व्याख्यात्मक, सिद्धान्त पुष्टि करने वाले अथवा उसे कमजोर करने वाले, खास स्थितियों में सभी मामले लाभकारी होते हैं इस प्रकार तुलनात्मक तथा 'केस स्टडी' विधि में बड़ी खामियाँ हैं क्योंकि इन तरीकों की अपरिहार्य प्रतिबंध होने के कारण तुलनात्मक राजनीति में शोधकर्ता के सामने चुनौती है कि वे इन तरीकों का इस प्रकार उपयोग करे कि निहित शक्तियों का भरपूर इस्तेमाल कर सके तथा वैज्ञानिक, राजनीतिक जाँच में वे उपयोगी उपादान बन सके। अनेक विद्वानों ने युद्धोत्तर काल की अवधि में इन प्रणालियों के इस्तेमाल में लगातार सुधार लाने के लिए अपना पर्याप्त समय लगाया है।

1.4 समसामयिक महत्व

युद्धोत्तर अवधि में, तुलनात्मक राजनीति अनेक दौरों से होकर गुजरी है। इनमें से प्रत्येक दौर में परिवर्तन हुए हैं और भविष्य में भी विद्वानों द्वारा परिवर्तन लाने का सिलसिला जारी रहेगा। तुलनात्मक राजनीति में सर्वप्रथम निवेश पर ध्यान केन्द्रित रखा गया और राजनीतिक समाज शास्त्र पर निर्भरता रखी गई और इस प्रकार का दावा किया गया कि राजनीतिक प्रणालियों की बुनियादी विशेषताओं को संरचना के बारे में पृष्ठभूमि सूचना और समाज में प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि में समझा जाएगा, इस प्रकार यह दावा किया गया कि राजनीतिक संघर्ष आयामों को सामाजिक ढाँचें में आयाम विभेद के अनुसार तैयार किया जाएगा। इसे कम करने वाले दृष्टिकोण के कारण सैमुअल हैटिंगटन जैसे राजनीतिज्ञों द्वारा एक प्रतिक्रिया व्यक्त की गई जिसमें उसने सामाजिक और आर्थिक कारकों के संदर्भ में राजनीति की स्वायत्तता के लिए तर्क दिया इसलिए आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में दूसरे चरण का उद्देश्य राजनीतिक प्रणालियों के विभिन्नता के संस्थागत विश्लेषण और दलों तथा दल प्रणालियों के घटक भागों को लक्ष्य कर किया गया। इसके मध्य में लोकतंत्र के विभिन्न प्रकारों के बीच निर्णायक भेद, सत्तावादी शासन तथा राजनीति को आधुनिक बनाने वाले तत्व प्रमुख थे। स्थिर संस्थाओं के जरिये लोकतंत्र से 'व्यवस्था' की ओर स्थानांतरण था। अंततः राजनीति शास्त्र के अंदर राजनीति के उत्पादन पक्ष की ओर बढ़ती हुई दिलचस्पी ने तुलनात्मक राजनीति को भी प्रभावित किया। यदि नीतियों के लिए राजनीति महत्वपूर्ण नहीं लगता तो विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों का अध्ययन क्यों किया जाता है। परिदृश्य के दाएँ और बाएँ दोनों ही ओर राज्य के मध्य बिन्दु के पुनः अन्वेषण के कारण यह भी संभव हुआ। इसलिए तीसरे चरण का तात्पर्य लोकनीति तथा राजनीतिक अर्थव्यवस्था से तुलनात्मक राजनीति का विलय करना और यह समझने का प्रयास करना कि विभिन्न राजनीतिक प्रणालियाँ (नीति निवेश) तथा वास्तविक प्राप्ति (नीति परिणाम) के लिए क्या करती हैं।

इससे तुलनात्मक लोकनीति की ओर गमन हुआ। जो लोग निवेश पक्ष की ओर जोर देते हैं, वे सामाजिक दरारों के प्रभाव का मुख्य रूप से बुनियादी समस्या की ओर देखते हैं और यह भी देखते हैं कि वातावरण किस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था का निर्धारण करता है। सामाजिक संरचना में विदारण आयामों के प्रति राजनीति को घटाते हुए विदारण दृष्टिकोण संस्थावाद अथवा परिकल्पना जैसे अतिशयोक्तिपूर्ण सा लगता है, जैसे सामाजिक

तथा आर्थिक कारकों और राजनीतिक प्रणाली के बीच कोई संबंध ही न हो। परन्तु कोई व्यक्ति सामाजिक और आर्थिक दृढ़तावाद तथा राजनीतिक अदृढ़ता अथवा नई संस्थागतता के बीच किस प्रकार संतुलन बनाए रख सकता है। विभिन्न देशों में राजनीति प्रणाली के तुलनात्मक विश्लेषण में कोई किस प्रकार निर्णायक अवधारणाओं की पहचान कर सकता है जिससे प्रणाली विभेदों तथा समानताओं में समाधान निकाल सकता है। परम्परागत विकासशील तथा आधुनिक राजनीति को अलग करने की कोशिश इन मूल्य से लदे प्रवृत्ति वाले अवधारणाओं के परिणाम में विफल हो गई, लोकतांत्रिक तथा सत्तावादी सरकारों के बीच मूलभूत अंतर हो गया है लेकिन यदि लोकतंत्र शब्द के अर्थ और अनुप्रयोग में एकात्मकता हो जाए तो लोकतांत्रिक सत्ता को पहचान दिलाने वाले संकेतकों अथवा विशेषताओं के बीच में असहमति हो जाती है। दो बहुत ही भिन्न प्रकार के लोकतांत्रिक माडलों की पहचान कर ली गई है: वेस्टमिनिस्टर प्रकार का लोकतंत्र बनाम सहमति अथवा सहयोगी प्रकार का लोकतंत्र। परन्तु गैर-लोकतांत्रिक प्रणालियों के अपेक्षाकृत बड़ी व्यवस्था के बारे में क्या आवश्यकता है। आज हमारे सामने 160 से अधिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ हैं जिन्हें हम तीसरी दुनिया अथवा तृतीय विश्व (Third World) अथवा विकासशील देश कहते हैं। तृतीय विश्व की राजनीति के वर्गीकरण के बारे में कोई सहमति नहीं है। निःसंदेह भविष्य के तुलनात्मक शोध का बहुत कुछ केन्द्र बिन्दु गैर-लोकतांत्रिक सत्ताओं पर केन्द्रित होगा ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि वे कुछ बुनियादी आयामों में मामलों में किस प्रकार भिन्नतापूर्ण है।

सामयिक महत्व का एक प्रमुख विकास है, सार्वजनिक नीति के तुलनात्मक विश्लेषण का आविर्भाव या राजनीतिक अर्थव्यवस्था जिसने 1970 के दशक के मध्य से तुलनात्मक राजनीति में एक नया आयाम जोड़ दिया है। जहाँ तक यह राजनीतिक प्रणाली के ब्लॉक बॉक्स के 'परिणाम' पक्ष पर केन्द्रित है, उस हद तक अतीत से उसकी सत्यता बनी हुई है। यह अंतर 'राजनीतिक विकास' तथा 'आधुनिकीकरण' की समस्याओं के विशाल तुलनात्मक सिद्धान्त से विकास में राज्य तथा इसकी केन्द्रीय भूमिका जैसे अपेक्षाकृत अधिक संकीर्ण क्षेत्र और केन्द्रित होने जैसा है। यह परिवर्तन मेटा विश्लेषण से मेसो विश्लेषण की ओर है। जिसमें समस्याओं की परिभाषा, कार्यसूचियों को तय करना, निर्णय करने तथा कार्यान्वयन की प्रक्रियाओं के बीच केन्द्रित करने जैसा है। इससे तुलनात्मक राजनीति को अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट समस्या हल करने तथा नीति अभिमुखीकरण से युक्त किया है। तुलनात्मक राजनीति बहुविषयक बना हुआ है लेकिन समाजशास्त्र से दूर होते हुए यह अर्थशास्त्र के अपेक्षाकृत अधिक निकट पहुँच गया है। यह वैज्ञानिक तरीकों पर लगातार जोर देने के बजाय अपेक्षाकृत अधिक नियामक चिंताओं की ओर लौट रहा है। इसने शैक्षिक राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन के अभ्यासकर्त्ताओं के बीच के संपर्क को भी फिर से कायम कर लिया है।

समाज संसाधनों की बाध्यता के बावजूद सार्वजनिक नीति के माध्यम से माल के उत्पादन और सीमाओं के बीच जितना संभव है, संबंध को परिभाषित करने में सक्षम है। परन्तु यह प्रश्न उठता है कि निजी क्षेत्र में समाज के दायरे में क्या उपयुक्त है और किन नीतियों से विकास होता है। इस सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर तुलनात्मक विश्लेषण के जरिए राज्य क्या करते हैं। इस आधार पर वे राज्य के उपयुक्त क्षेत्र को सिद्धान्तबद्ध करने

में सक्षम होते हैं। परिणामस्वरूप, लोकनीति अपने दृष्टिकोण में वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक और निर्देशात्मक है। राजनीति अब अनेक वैकल्पिक नीतियों में लोक इच्छा की अवधारणा तैयार करती है और इसका उद्देश्य ज्ञान को ऐसे विशाल अनुशासन के दायरे में लाना है जो लोगों के रुचियों का विश्लेषण करने और निर्णय करने तथा समाज के लोकतंत्रीयकरण में सहयोग करने वाला है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था उत्पादन तथा वस्तु विनिमय तथा सेवाओं के बारे में राजनीतिक चयन के प्रभावों के प्रति खास तौर पर उत्सुक होती है। यह उन राजनीतिक इच्छाओं के परिणामों का विश्लेषण होती है जिसे राजनीतिक दुर्लभ संसाधनों को शामिल करके राजनीतिक नेता करते हैं। दृष्टिकोण का महत्व यह महसूस करने में होता है कि विकासशील समाजों में, वास्तव में, चयन ही विकास का असली रास्ता होता है नेताओं के सामने चयन सार्वजनिक नीतियों के जरिये होता है जो महज सहयोग करने, प्रेरित करने अथवा मौलिक, सामाजिक, अथवा आर्थिक परिवर्तन करने के लिए होता है। इसलिए राजनीतिक अर्थव्यवस्था के अंदर 'राजनीति विकास' को बदलती और विस्तार करती हुई क्षमता को पूरा तथा प्रेरित करने और ऐसा करने के लिए संसाधनों को पैदा करने के लिए समर्थ होने के लिए अपनी क्षमता को बढ़ाने वाली होने के रूप में पुनर्परिभाषित किया गया है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था, जहाँ सिद्धान्त उपलब्ध कराती है, सार्वजनिक नीति वह तरीका है जिसके जरिये इन नीतियों को कार्य रूप में परिणित किया जाता है। इन सब परिणामों का कुल तात्पर्य यह है कि मुख्य ध्यान अपेक्षाकृत छोटी-छोटी तुलनाओं पर या जो संभव है, उस पर दिया जाता है। आजकल मध्यम दायरे की तुलना अपेक्षाकृत अधिक संतुलित होती है जिसमें किसी एक ही क्षेत्र या क्षेत्रों के तुलनीय विषय पर केन्द्रित रहती है। संक्षेप में, तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र खंडित है और तुलनात्मक राजनीति की कोई एक परिभाषा विद्यमान नहीं है। यह इसका गुण भी है, इसका तात्पर्य यह है कि यह उस पर मुख्य जोर देता है जो महत्वपूर्ण और लाभकारी है और यह आवश्यक नहीं कि वह विश्वस्तरीय है या पहले की सभी विशेषताओं को अपने दायरे में कर चुका है।

1.5 सारांश

इस इकाई में आपने राजनीति शास्त्र के अपेक्षाकृत बड़े विधा में तुलनात्मक राजनीति के स्वरूप और विकास के बारे में पढ़ा है। यद्यपि राजनीति शास्त्र के अध्ययन का एक सबसे पुराना स्वरूप है, इसने द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात बहुत दिलचस्पी पैदा की है और इसे अपेक्षाकृत एक नए क्षेत्र के रूप में पेश किया है। परम्परागत दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक संकुचित और प्रबंधकीय है। लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण का दायरा अपेक्षाकृत बड़ा है। यह राजनीतिक संस्थाओं में घटित तीव्र परिवर्तनों का विश्लेषण करने के प्रयास और उन्हें परम्परा से हटाकर आधुनिकता की ओर ले जाने के प्रयास में सफल रहा। इस इकाई का दूसरा अनुभाग तुलनात्मक प्रणाली की संभावना पर केन्द्रित है। यद्यपि अनेक विद्वान तुलनात्मक प्रणाली को तार्किक कदम के रूप में मान्यता देते हैं, लेकिन उसके अनुप्रयोग के बारे में, चाहे वह वैज्ञानिक, सांख्यिकी, प्रायोगिक अथवा केवल बुनियादी तरीका है। परन्तु उनके मतभेद हैं। इस बारे में व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं, समय समय पर इन विधियों के इस्तेमाल में सुधार लाने के प्रयास किए जा रहे हैं। अंतिम अनुभाग में

तुलनात्मक राजनीति की सामयिक प्रासंगिकता पर मुख्य रूप से प्रकाश डाला गया है। यह विषय यद्यपि स्वरूप में बहुविषयक है, सार्वजनिक नीति तथा राजनीति अर्थव्यवस्था के साथ इस उपविषय के विलय से इन विश्लेषणों में एक नया आयाम जुड़ गया है कि भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाएँ क्या करती हैं (नीति के निवेश तथा उत्पादन) में क्या उपलब्धियाँ हैं। इस प्रकार यह नीति अभिमुखिकरण तथा कार्यान्वयन की प्रक्रियाओं के बीच सम्पर्क कायम करता है।

1.6 बोध प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति क्या है? उप विधा के रूप में इसके विकास का संक्षेप में विश्लेषण कीजिए।
2. तुलनात्मक प्रणाली की क्षमता तथा दुर्बलता का विश्लेषण कीजिए।
3. तुलनात्मक प्रणाली के समसामयिक महत्व तथा योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 2 तुलनात्मक दृष्टिकोण और प्रणालियाँ — व्यवस्था, संरचना, सार्वजनिक नीति

संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति और अभिविन्यास

2.3 डेविड इस्टन : सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त

2.3.1 डेविड इस्टन की अवधारणात्मक संरचना

2.3.2 इस्टन के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव

2.3.3 व्यवस्थाओं के विश्लेषण का अनुप्रयोग

2.4 इस्टन के वर्गीकरण की आलोचना

2.5 संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण का विकास

2.5.1 गैब्रियल आलमॉण्ड की अवधारणात्मक संरचना

2.5.2 आलमॉण्ड के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव

2.6 आलमॉण्ड के वर्गीकरण और सिद्धान्त की आलोचना

2.7 सार्वजनिक नीति : कुछ परिप्रेक्ष्य

2.8 सारांश

2.9 बोध प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

राजनीतिक और सामाजिक विचारकों ने राजनीति शास्त्र की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए प्रणाली की कुछ अवधारणा के बारे में प्रायः अधिघोषणाएँ की हैं। मार्क्स ने समाजों के उत्पादन के तरीके के आधार पर प्रणालियों के रूप में उनका वर्गीकरण किया है, जैसे सामंतवादी, मध्यमवर्गीय, सर्वहारा वर्ग; वेबर के समाजों को सत्ता, परम्परा, करिश्मा और तर्क-कानूनी आधार पर विभक्त किया। उसने सोचा कि व्यवस्था का परिवर्तन बोली के आधार पर है, जबकि वेबर का विश्वास था कि यह क्रांतिकारी है।

प्रतिष्ठित लेखकों ने राजतंत्रीय कुलीन तंत्र और लोकतंत्र को राजनीतिक व्यवस्थाओं के रूप में रखा है। आलमॉण्ड ने आदिम, परम्परागत, सक्रांतिक काल तथा आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के रूप में वर्गीकृत किया है। कोलमैन ने अर्ध-प्रतिस्पर्धात्मक तथा सत्तात्मक व्यवस्थाओं का उल्लेख किया तथा बाद में उन्हें अधिनायकवादी कुलीन तंत्र तथा प्रतिनिधिमूलक व्यवस्थाओं के रूप में विभक्त किया।

आईजेन्सद्दात ने आदिम पितृसत्ताक कुलीन तंत्र, अफसरशाही, लोकतांत्रिक अधिनायक,

सर्वहारा तथा अल्प विकसित व्यवस्थाओं का सुझाव दिया। एडवार सेल्स ने आधुनिक व्यवस्थाओं को राजनीति लोकतंत्रों उपाधिधारी लोकतंत्रों आधुनिकता की ओर उन्मुख कुलीनतंत्रों, सर्वसत्तात्मक कुलीन तंत्रों और परम्परागत कुलीन तंत्रों के रूप में आधुनिक व्यवस्थाओं के रूप में वर्गीकरण किया है।

व्यवस्थाओं के वर्गीकरण से विभिन्न व्याख्याओं का पता चलता है, अनेक नए देशों के उभरने और नए आँकड़ों के संग्रह तथा प्रौद्योगिकी प्रगतियों ने इस विषय की जटिलता को बढ़ा दिया है। अनेक समाजशास्त्री अब अपने राजनीतिक विश्लेषण की बुनियादी अवधारणा के रूप में व्यवस्था का इस्तेमाल करते हैं।

इस प्रकार व्यवस्था वास्तविक समाज का अमूर्त रूप है। किसी भी सामाजिक विशेषता को एक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। ये विशेषताएँ एक दूसरे से आपस में जुड़ी हुई हैं। फिर भी, विभिन्न व्यवस्थाओं, जैसे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक व्यवस्थाओं पर विचार विमर्श करने के लिए सीमाएँ लगाई जाती हैं। विश्लेषक समूचे समाज से कुछ तत्वों को संक्षेप में ग्रहण करता है जो अपेक्षाकृत अधिक सुसंगत हैं और उन्हें एक व्यवस्था का नाम देता है। अवधारणात्मक रूप से माप करने योग्य परिमाण को सच्चा कहा जाता है, सतत रहने वाले तत्वों को प्राचालिक कहा जाता है। राजनीतिक व्यवस्था की वास्तविकताओं में संरचना, कार्य, भूमिका, कार्यकर्ता, मूल्य, सिद्धान्त, लक्ष्य, निवेश, उत्पादन, प्रतिक्रिया, जानकारी 'फीड बैक' (पुनर्निवेशन) आदि शामिल हैं। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का विश्लेषण करते समय हम इन शब्दों के बारे में बाद में विश्लेषण करेंगे।

2.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति और अभिविन्यास

व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण की उत्पत्ति के बारे में अनेक विज्ञानों से जानकारी मिल सकती है। इस बारे में लिलियमफिल्ड ने जीव विज्ञान, साइबरनेटिक्स तथा प्रचालन अनुसंधान के क्षेत्रों का उल्लेख किया है। यही दृष्टिकोण मानव विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र से ही जुड़ा हुआ है। लुडविग वोन बरटैनलफी कुछ अन्य विद्वानों ने सोसाइटी फार जनरल रिसर्च फार्म की स्थापना की तथा व्यवहार संबंधी एक पत्रिका का भी प्रकाशन किया। उन्होंने बताया कि व्यवस्था सिद्धान्त का लक्ष्य 'विभिन्न विज्ञानों, प्राकृतिक तथा सामाजिक का एकीकरण है। नार्वड वियनेर का विश्वास है कि फीड बैक के जरिए साइबरनेटिक की अवधारणा राजनीतिक प्रणाली में सरकारी संचालनों को वैधता देने के लिए एक प्रतिमान हो सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ऑपरेशन्स रिसर्च ने रेडार प्रतिष्ठानों के उपयोग के व्यवस्था दृष्टिकोण को लागू किया। कार्यनीति, चालें तथा हथियारों की डिजाइन के आधार पर सैन्य परिणामों का पूर्वानुमान लगाने के लिए किया जाता था। बाद में शांतिकाल में संचालन शोध कार्य प्राकृतिक तथा सामाजिक शास्त्रों के व्यवस्थाओं के विश्लेषण का समानार्थक जैसे बन गया।

सामाजिक शास्त्रों में व्यवस्था सिद्धान्त के लिए अर्थशास्त्र ने सबसे पहले योगदान किया। आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों में संबंध का विश्लेषण करने के लिए निवेश और

उत्पादन के विश्लेषण के साथ-साथ आर्थिक तकनीकों तथा कम्प्यूटरों का उपयोग किया गया।

चुनाव कार्यनीतियों के राजनीतिक विश्लेषण तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के बाहरी संबंधों के विश्लेषण के मामलों में खेल सिद्धान्त का इस्तेमाल किया गया है। राजनीतिक शास्त्रियों ने तर्क संगत चयन सिद्धान्त के परीक्षण के अमल में इसका प्रयोग किया है। इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति प्रायः उन कार्यों को इस्तेमाल में लाते हैं जिनसे उन्हें सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो।

समाजशास्त्र भी व्यवस्थाबद्ध शैली में मानव चिंतन को मार्ग-निर्देश वाले तरीकों की ओर संकेत करता है। हम प्रायः अमरीकी सरकार द्वारा प्रयोग किए जाने वाले शब्दों 'योजना-प्रोग्रामिंग-बजट व्यवस्था' का उपयोग करते हैं। डेविड सिंगर ने (1) व्यवस्था विश्लेषण (2) सामान्य व्यवस्था के दो भिन्न-भिन्न अभिनवीकरणों के बीच अंतर को स्पष्ट किया है। उसकी राय में व्यवस्था विश्लेषण सार तैयार करने से प्रभावित होता है और उसमें प्रगतिशील तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अभाव होता है। उन्होंने सामान्य व्यवस्था जैसे वाक्यों का उपयोग किया जिसमें विभिन्न व्यवस्थाओं में नियमिताओं का अध्ययन किया। पी.जी. कासानोव ने इसी तरह के अंतर का सुझाव दिया। पहले प्रकार का प्रतिनिधित्व तालकोट पारसंस करता है और इसकी जड़ 19वीं शताब्दी के सकारात्मक सिद्धान्तों में है। दूसरे प्रकार को प्रणाली विश्लेषण कहा जाता है जो निर्णय करने पर जोर देता है और गणितीय अनुप्रयोगों और प्रचालनात्मक शोधों से लाभान्वित है। कासानोवा ने आधुनिक व्यवस्थाओं में इतिहास के परिवर्तनों का अध्ययन किया। इतिहास तथा नीति उन्मुख शोध पर उसके जोर देने के कारण उसे विश्लेषण तथा कार्यात्मकता दोनों व्यवस्थाओं की मौलिक पुनर्व्याख्या करने में उसे सक्षम बनाया।

रुनाल्ड चिलकोट ने व्यवस्थाओं के सिद्धान्त के साहित्य में तीन प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान की है। यह प्रवृत्ति अभिमुखीकरण में गैर-ऐतिहासिक है और इसे कभी-कभी ग्रैण्ड थ्योरी (ग्रैण्ड सिद्धान्त) कहा जाता है। यह प्राकृतिक ज्ञानों से निकलकर बढ़ा है। यह डेविड इस्टन के लेखन में पूर्णता को प्राप्त हुआ है। इस्टन का प्रभाव व्यापक था और तुलनात्मक तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति दोनों पर ही इसका गहरा प्रभाव था। कार्लड्यूड्स, मार्टनकपलान और हर्बर्ट स्पीरो उससे अत्यधिक प्रभावित हुए थे।

संरचनात्मक तथा कार्य प्रचालनात्मक नाम से प्रसिद्ध एक अन्य प्रवृत्ति पूर्ण होने का प्रयास करती है परन्तु उसका प्रवाह गैर-ऐतिहासिक तथा मध्यम स्तर के विश्लेषण की ओर है। यह दो शैक्षिक परम्पराओं से बढ़ी है। पहली परम्परा में हम मालिनोवस्की, रैडक्लिफ ब्राउन तथा तालकोट पारसंस के कार्यों को रख सकते हैं। दूसरी परम्परा में हम आर्थर बैन्टली तथा डेविड ट्रूमैन के कार्यों का उल्लेख कर सकते हैं। ये दोनों ही परम्पराएँ गैबरियल आलमॉण्ड के योगदानों में मिश्रित हो गई हैं। गैबरियल आलमॉण्ड के संरचनात्मक - कार्यात्मक दृष्टिकोण ने तुलनात्मक राजनीति पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है।

तीसरी प्रवृत्ति मूलभूत है और मार्क्सवादी समीक्षा तथा व्यवस्था सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या है। यह लोकनीति के काफी मुद्दों को उठाती है और यह तर्क देती है कि हमारे ज्ञान

को सामाजिक दृष्टि से तर्क संगत तथा सार्थक बनाने के लिए राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में उनका पता लगना चाहिए। इसके अतिरिक्त मूल पुनर्व्याख्या राज्य के प्रसंग में प्रणाली की पुनर्व्याख्या करती है और पूँजीवादी राज्यों के सिद्धान्तों पर ध्यान देती है।

2.3 डेविड इस्टन : सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त

कार्लमैनहिन ने समाज के अपने अध्ययन में 'व्यवस्थाबद्ध समाजशास्त्र' का प्रस्ताव किया है। उसका अनुसरण करते हुए चार्ल्स मेरियम ने व्यवस्थाबद्ध राजनीतिशास्त्र के बारे में लिखा। समाज और राजनीतिक व्यवस्था की प्रणालीबद्ध व्याख्या के लिए इस शोध को डेविड इस्टन ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए सामान्य व्यवस्थाओं के सिद्धान्त के अपने अनुप्रयोग के लिए जारी रखा। निम्नलिखित विचार-विमर्श ने सर्वप्रथम इस्टन की अवधारणात्मक संरचना के एक वक्तव्य तथा दूसरे इस्टन के दृष्टिकोण को आकार देने के प्रभावों, तीसरे उसके विचारों के अनुप्रयोग तथा अंत में इस्टन के वर्गीकरण के एक आलोचक को शामिल किया जाएगा।

2.3.1 डेविड इस्टन की अवधारणात्मक संरचना

इस्टन की अवधारणात्मक संरचना तीन चरणों में विकसित हुई। प्रथम चरण का प्रतिनिधित्व 1953 में प्रकाशित *द पॉलिटिकल सिस्टम* से होता है। दूसरे और तीसरे चरणों का प्रतिनिधित्व *ए फ्रेमवर्क ऑफ पॉलिटिकल एनालिसिस* तथा *ए सिस्टम एनालिसिस ऑफ पॉलिटिकल लाइफ* द्वारा होता है। ये दोनों ही पुस्तकें एक के बाद एक करके 1965 में प्रकाशित हुईं।

उसकी अवधारणात्मक संरचना चार बातों पर आधारित है।

- (1) ज्ञान के लिए व्यापक तलाश करते समय व्यवस्थाबद्ध सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता होती है जैसे साधारणीकरण का उच्चतम स्तर।
- (2) राजनीति शास्त्रियों को चाहिए कि वे राजनीतिक व्यवस्थाओं को समग्र रूप में देखें केवल कुछ खास समस्याओं का समाधान पर केन्द्रित न रहें। उन्हें वास्तविक जानकारी तथा व्यापक आँकड़ों का सम्मिश्रण करना चाहिए।
- (3) मनोवैज्ञानिक आँकड़े तथा स्थितिजन्य आँकड़ों से राजनीतिक व्यवस्था पर शोध किया जाता है। जिसे बड़ी हस्तियों तथा भागीदारों को प्रेरित करने और प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण से निकलने वाले प्रभावों दोनों से ही ये आँकड़े इकट्ठे किये जाने चाहिए।
- (4) राजनीतिक जीवन आमतौर पर असंतुलन की स्थिति में रहता है और व्यावहारिक स्थिति में उस संतुलन का प्रतिपूरक संतुलन कभी प्राप्त नहीं होता।

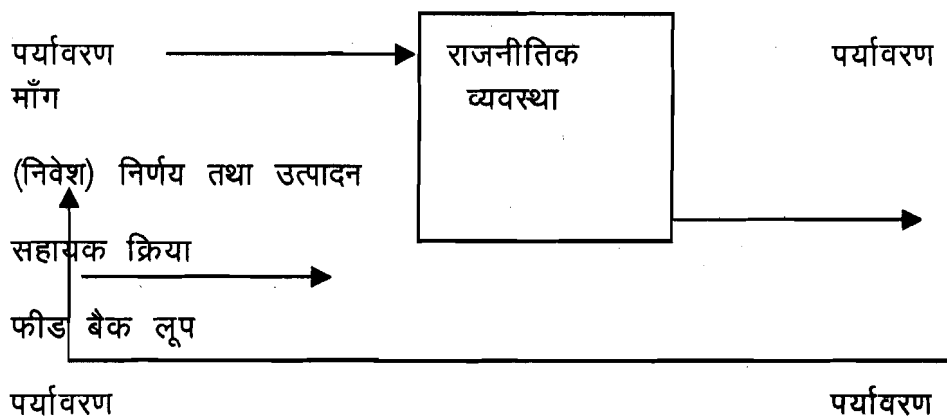
इस्टन ने राज्य की अवधारणा को भ्रम तथा उसके अनेक अर्थों का जिक्र करते हुए अस्वीकार कर दिया उसने शक्ति को एक महत्वपूर्ण अवधारणा माना जो समाज में

सत्तात्मक राजनीति को ढालती है तथा आगे बढ़ती है। यह अन्य लोगों पर कार्य का प्रभाव डालने की योग्यता पर निर्भर करती है। इसलिए नीति के अंतर्गत "फैसलों और कार्यों का जाल होता है जो मूल्यों का निर्धारण करते हैं।"

राजनीतिक जीवन के बारे में इस्टन की अवधारणा समाज के लिए मूल्यों का सत्तात्मक आवंटन है और उसकी दृष्टि में शक्ति, सत्ता, निर्णय करना तथा नीति महत्वपूर्ण है। उसने राजनीतिक व्यवस्था के निम्नलिखित अंगों की पहचान की है:

1. इकाइयाँ तथा सीमाएँ
2. निवेश तथा उत्पादन
3. व्यवस्था के अंदर भिन्नता
4. व्यवस्था के अंदर एकीकरण

राजनीतिक व्यवस्था के बारे में इस्टन का रेखाचित्र



आरेख यह इंगित करता है कि विश्लेषण के उद्देश्य के लिए व्यवस्था का उपयोग, राजनीतिक जीवन को अन्य समाज से अलग करने की अनुमति देता है। 'राजनीतिक क्रियाएँ' राजनीतिक व्यवस्था की इकाइयाँ हैं। माँग तथा सहायता के रूप में निवेश, राजनीतिक व्यवस्था के आहार हैं। पर्यावरण से माँग आती हैं या व्यवस्था के भीतर ही उठती है। माँगों से मुद्दे बनते हैं जो व्यवस्था के चिन्हित चैनलों द्वारा हल किए जाते हैं। सहायताएँ ही क्रियाएँ हैं या पूर्वाभिमुखीकरण तत्परता या राजनीतिक व्यवस्था का विरोध।

राजनीतिक व्यवस्था से बंधनकारी निर्णय तथा नीति क्रियाओं के रूप में परिणाम उत्पन्न होते हैं। इन निर्णयों तथा क्रियाओं को व्यवस्था के कुछ सदस्यों की माँग पूरा करके वापस पर्यावरण में डाला जाता है। बदले में वे, व्यवस्था के लिए सहायता जुटाते हैं। असंतुष्टीकरण का बुरा नतीजा व्यवस्था में नए माँग के रूप में हो सकता है।

अपने दूसरे फेज में, इस्टन ने अपनी पिछली रूपरेखा का विवरण दिया तथा बहस की कि राजनीतिक व्यवस्था "एक पारस्परिक क्रिया का सेट है जो सामाजिक व्यवहारों के कुल योग का पृथक्करण है।" उन्होंने व्यवस्था के स्थायित्व तथा गतिशीलता के बारे में

विचार-विमर्श किया। राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन के समय भी बना रहता है। वे दबाव तथा तनाव का सामना करते हैं। उनमें विवादों को सहन करने की क्षमता होती है।

अपने तीसरे फेज में, इस्टन ने साधारण सिद्धान्त की रचना का प्रयास किया तथा समझाया कि क्यों लगातार संकट की स्थिति में भी प्रणाली दृढ़ रहती है। इसमें उन्होंने व्यवस्था पर पड़ने वाले दबावों के उत्तरों को पढ़ा तथा उनके नतीजों पर विशेष सहायता नियंत्रक के रूप में विचार-विमर्श किया। अंतः उन्होंने आनुभविक खोज का ढाँचा प्रदान करने की उम्मीद जताई।

इस्टन ने दावा किया कि उनका राजनीतिक विश्लेषण स्थिर होने के बजाय गतिशील है तथा व्यवस्था स्थायित्व की उनकी अवधारणा बनावट में परिवर्तन की तब तक अनुमति देता है, जब तक उनका नियम बनाने वाली प्रक्रिया की ओर पूर्णतः विलय नहीं हो जाता है। प्रणाली सिद्धान्त क्रांतिकारी परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकती है।

2.3.2 इस्टन के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव

मेकेंनजी के अनुसार, इस्टन एक आन्दोलन में शामिल हो गया जिसका उसने आरम्भ नहीं किया था और इस संबंध में इस्टन द्वारा बनाए गए सिद्धान्त का प्रतिपादन भी नहीं किया है। उस पर 40 वर्ष पूर्व शुरु एक परम्परा से अपने विचार ग्रहण किए जिसे चार्ल्स मेरियम जार्ज कैटलिन हैराल्ड लासवेल और कुछ अन्य विचारकों ने शुरु किया था। उन्हीं की तरह इस्टन का भी विश्वास था कि कानूनी संस्थाओं, दलों और उन पर प्रभाव डालने वाले समूहों की ओर ध्यान अब पुरानी प्रणाली हो चुकी है और राजनीति विज्ञान को राजनीतिक प्रणाली के बारे में समग्र रूप से सिद्धान्त तैयार करना चाहिए।

इस्टन ने तालकोट पारसंस की ओर भी ध्यान दिया था जिसने वेबर से संदर्भ कार्य प्रेम प्राप्त किया था जिसका इस्तेमाल सामाजिक विज्ञान के वृहत् सिद्धान्त पर किया जा सकता है। तालकोट पारसंस ने सिद्धान्त व्यवस्था के बारे में साधारणीकरण के सूत्र तैयार किए, परन्तु डेविड इस्टन के अनुसार उसने राजनीतिक सिद्धान्त की वैधता पर सवाल खड़ा किया। इसका तात्पर्य यह है कि इस्टन के दृष्टिकोण पर उसका प्रभाव सीमित था। इस्टन के कार्य में कहीं-कहीं पर कुछ मानव विज्ञानियों - मालिनोवाकी रैंडक्लीफ - ब्राउन तथा मार्टन और लेवी, जैसे समाजशास्त्रियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इस्टन ने यह भी तर्क दिया कि तथाकथित संरचनात्मक विश्लेषण कोई सिद्धान्त नहीं है बल्कि सभी वैज्ञानिक शोधों के लिए मूलभूत अवधारणा है वास्तव में यह आधारभूत रूप से सैद्धान्तिक विषयों से रहित है।

सामाजिक मनोविज्ञान पर किए गए कार्यों ने इस्टन पर प्रभाव डाला जिससे राजनीतिक विश्लेषण के लिए उसके अवधारणात्मक ढाँचे में निर्णय करना एक तत्त्व बन गया। इस्टन का दृष्टिकोण वृहत् आर्थिक अवधारणाओं द्वारा भी प्रभावित हुआ था। विलियम मीटचेल ने कहा कि इस्टन की आवंटन की अवधारणा अर्थशास्त्र में संसाधनों के आवंटन तथा वितरण के सिद्धान्तों विशेषकर नवउत्कृष्ट सिद्धान्त से साम्य रखता है। डेविड इस्टन ने अर्थशास्त्र से अभाव, आवंटन, प्रतियोगिता, अधिकतमीकरण होमियोस्टैटिक संतुलन,

कार्यात्मक अंतर-निर्भरता, आत्मनियमन, लक्ष्य-अन्वेषण तथा फीड बैक जैसे अवधारणाओं को अपनाया। इस्टन के व्यवस्था दृष्टिकोण भी भौतिक और जीव विज्ञानों से लिये गये थे। इस प्रकार वह समग्र प्रणाली को समझने के अंतर-विभागीय परम्परा में सम्मिलित हो गया। इरविन लास्जलो ने निष्कर्ष दिया है:

अनवेषी मस्तिष्क के लिए आजकल जो सबसे सतत तथा सर्वाधिक उपलब्ध प्रतिमान है वह है व्यवस्थाओं का निदर्शन - प्रणालियों का दार्शनिक उदाहरण जो मनुष्य को एक ठोस और वास्तविक भौतिक, जैविक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं जैसे प्राकृतिक क्रम परम्पराओं को अपने दायरे में समाहित किए हुए हैं।

इस्टन ने “संचार विज्ञानों” द्वारा प्रभावित हुआ है और उसकी निवेश तथा उत्पादन संरचना कार्ल ड्यूस के संचार माडल की अपेक्षा अधिक निकट है। दोनों का विश्वास है कि राजनीतिक व्यवस्था में ऐसी फीडबैक प्राप्त करने की व्यवस्थाएँ हैं जो व्यवस्था के लिए सकारात्मक या नकारात्मक तरह की सूचना संप्रेषित करने में सक्षम है। इस प्रकार संतुलन की एक खास स्थिति समग्र व्यवस्था की राजनीतिक पहचान में कोई गड़बड़ी पैदा किए बिना बदलाव ला सकती है।

2.3.3 व्यवस्थाओं के विश्लेषण का अनुप्रयोग

लास्जलो, लेविन तथा मिलसम ने उत्तर-औद्योगिक समाजों के समझ उपस्थित समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने के बारे में अपनी चिन्ताएँ व्यक्त की हैं। इस्टन का अनुसरण करते हुए उनका लक्ष्य था ‘व्यवस्था को नियंत्रण करने तथा व्यवस्था के लिए योजना इस प्रकार तैयार करना जिसमें सामाजिक दृष्टि से अच्छी तरह काम किया जा सके।’ मिलियट व्यवस्था विश्लेषण का इस्तेमाल तथा अनुरूप चाहता था क्योंकि उसके विचारमें भविष्य का पता लगाने प्रस्तावित कार्य के प्रभावों को समझने और मानवजाति के सामने मौजूद तमाम समस्याओं को हल करने के लिए हमारे लिए अनुरूप ही अच्छी तकनीक है। एब्रामसन तथा इंग्लेहास्ट, टियोनो तथा ओस्ट्रोवस्की जैसे अनेक लेखकों ने उपयुक्त अनुभवजन्य आँकड़ों का उपयोग करते हुए राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण किया।

व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण के अन्य महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हरवेस्ट, स्पीरो, कार्लड्यूस्च, मोरटेन कापलॉन की कृतियाँ उपलब्ध हैं। वे या तो इस्टन की अवधारणा योजना का अथवा समान्तर संरचना का अनुसरण करते हैं। स्पीरो का कार्य तुलनात्मक राजनीति से सीधे संबंध हैं। कापलॉन का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर केन्द्रित है। कार्ल-ड्यूस्च दोनों से समान रूप से संबंधित है।

स्पीरो ने राजनीतिक व्यवस्था को ऐसे समुदाय के तौर पर परिभाषित किया जो मुद्दों को प्रोसेस करता है। ये मुद्दे, समस्याओं, आवश्यकताओं तथा लक्ष्यों से संबंधित होते हैं जिनके बारे में आम सहमति या मतभेद बना रह सकता है। कार्ल ड्यूल ने राजनीति को “मानव व्यवहार के कौशल या संचालन के रूप में निरूपित किया।” उसने संचार

और नियंत्रण के अध्ययन, फैसले के बिन्दुओं, फीड बैक तथा प्रवाह पथ के अध्ययन पर आधारित प्रणाली को तैयार किया।

2.4 इस्टन के वर्गीकरण की आलोचना

इस्टन के वर्गीकरण की आलोचनाओं में तीन क्षेत्रों पर विशेष जोर दिया जाता है। (1) अवधारणात्मक अपर्याप्तता, (2) संचालनात्मक कठिनाइयाँ, और (3) सैद्धान्तिक स्थिति।

1. अवधारणात्मक अपर्याप्तता

अनेक आलोचकों ने अपर्याप्त अवधारणाओं के आधार पर इस्टन के कार्यों की आलोचना की है। उसकी कृतियों में चुनौतियों के सामने स्थिरता और सत्यता के साथ अधिक लगाव और वास्तविक राजनीतिक जीवन में संघर्ष मौजूद है। मूल्यों के आवंटन की केन्द्रीय अभिमुखी अवधारणा तथा संसाधनशाला के इस्तेमाल की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है।

फॉरसन ने तर्क दिया है कि व्यवस्था का लगातार बने रहना न केवल इस्टन के सिद्धान्त का मुख्य विषय है बल्कि उसकी व्याख्या का भी विषय है। व्यवस्था के लगातार बने रहने पर हर बार लागू है। यूरोप और एशिया के कई देशों तथा अन्य देशों में लगातार बने रहने की अवधारणा द्वारा असली स्थितियों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। मिलर, रिडिंग और लेजली ने भी बदलती हुई राजनीतिक वास्तविकताओं के संदर्भ में संतुलन और सातत्य को अनुप्रयोग लायक नहीं माना है।

विलियम मिचेल ने इस्टन की राजनीतिक अवधारणा की आलोचना की है और उसे मूल्यों का आवंटन बताया है जो राजनीति के सिद्धान्तीकरण में गुमराह करने वाले स्वीकृतियों की ओर ले जाते हैं। इसका यह भी तात्पर्य है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं का एक ही कार्य है, आवंटन इतना ही नहीं राजनीतिक व्यवस्था समाज के सभी मूल्यों का आवंटन नहीं करती है। अर्थव्यवस्था आय और संसाधनों का वितरण करती है। सत्ता के प्रश्न दिलचस्पी रखने वाले समूहों की माँगों की ओर बहुत अधिक ध्यान देने से जटिल हो जाते हैं। जबकि, वास्तव में, सरकार की माँगें और लोगों पर सत्तारूढ़ वर्गों की माँगें अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती हैं।

सीमा के साथ इस्टन के अधिक ध्यानमग्नता की भी आलोचना की गई थी। यह संकेत किया गया कि राजनीतिक व्यवस्थाओं को आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली से अलग-थलग नहीं रखा जा सकता। डेविड सिंगर ने तर्क दिया कि हमें इन प्रणालियों के बीच में मौजूद धुंधली सीमाओं को पार करना चाहिए और साथ ही कार्य की कई एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली तथा भ्रामक प्रणालियों के साथ तालमेल रखने का प्रयास करना चाहिए। इसे सफलतापूर्वक करना होगा। इवान्स ने निष्कर्ष

दिया कि सीमा की अवधारणा को अस्पष्ट बनाते हुए राजनीतिक और गैर राजनीतिक के बीच अंतर को परिभाषित करने में इस्टन विफल रहा।

उपर्युक्त समस्याएँ मानव तत्व से इस्टन के बचने के कारण पैदा हुईं। इस्टन आलमॉण्ड और पारसंस एक ऐसे 'कार्य स्कूल व्यवस्था' से सम्बद्ध थे जिसने वैयक्तिक और लोगों के समूह को राजनीति में सक्रिय सहभागी बनाने का परिवर्जन किया।

2. प्रचालनात्मक कठिनाइयाँ

इस्टन की अवधारणात्मक संरचना से अभी तक ऐसी परिकल्पनाएँ नहीं निकली जो परीक्षण करने योग्य हों। उसके वर्गीकरण ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन पर प्रभाव डाला "परन्तु तुलनात्मक राजनीति के लिए बहुत कम अनुभवजन्य परिणाम हैं।" क्योंकि तरीके का प्रचालन करना कठिन है।

उनकी संरचना की समस्या यह है कि यह एक ही साथ यांत्रिक और कलात्मक दोनों है। ऐसे मशीन की तरह जो जिन्दा है। अपने विचार के महत्वपूर्ण उत्पत्ति के बावजूद इस्टन ने कारण और प्रभाव शब्दावली का इस्तेमाल किया इसलिए उसकी संरचना में प्रचालनात्मक संभावनाओं का अभाव है।

थोरसन ने तर्क दिया है कि वह राजनीति के सामान्य सिद्धान्त का सृजन कर रहा है और वास्तविक जगत में किसी ठोस ऐतिहासिक दृष्टि से मौजूद किसी राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए इसे लागू करना मात्र भ्रम है। यह व्यर्थ का प्रयास होगा। कैंस ने अपने सिद्धान्त के सार के सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा में इस्टन की राजनीति की खोखली परिकल्पना के बारे में कहा है कि यह सिद्धान्त कृत्रिम प्रकृति का है।

3. सैद्धान्तिक अभिविन्यास

इस्टन के दृष्टिकोण में कुछ सैद्धान्तिक अभिविन्यास हैं। ऐसा लगता है कि इसमें यथास्थिति को ही उचित ठहराया गया है। वास्तव में, यह विश्लेषण की स्थैतिक व्यवस्था है। इस तथ्य से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि इस्टन के वर्गीकरण की प्रकृति इसे अपेक्षाकृत आसान बना देती है कि वह दकियानुसी पद्धतियों में प्रवेश कर जाए। रूढ़िवादी पूर्वाग्रह कार्यवाद के अंदर मौजूद ऐसी विशेषता है जिसे राजनीतिक विज्ञान में व्यवस्थाओं के विश्लेषण में अपना लिया गया है। व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण का मुख्य उद्देश्य अन्य व्यावहारिक उदाहरणों जैसे उदार पूँजीवादी समाज की प्रबल विचारधारा को स्वीकृति की वैधता प्रदान करना है।

यूजेन मिलर ने कहा है कि इस्टन एक बौद्धिक संकट तथा लोकतांत्रिक उदारवाद की अनिवार्य सफाई से चिन्तित था। उसने राजनीतिक सिद्धान्त के अभाव के लिए ऐतिहासिकता को दोषी ठहराया। वैज्ञानिक तथा आकस्मिक सिद्धान्त के नाम पर उसने राजनीतिक प्रणाली की यथा स्थिति से उत्पन्न एक सामान्य सिद्धान्त पेश किया। उसके लिए मूल्य सिद्धान्त

का महत्व खत्म हो गया क्योंकि उसने अनुभवजन्यता के सिद्धान्त के प्रति इच्छा जताई।

व्यवस्था विश्लेषण में स्थिर दशा संशक्ति तथा संतुलन को अपनाया। इस्टन ने राजनीतिक संघर्ष भयंकर परिवर्तन वर्ग विरोध तथा प्रस्ताव पर ध्यान देने से इंकार कर दिया। उसने 1969 में खुद स्वीकार किया 'इस बात में बहुत कम संदेह रह जाता है कि राजनीति शास्त्र एक ऐसा उद्गम है जो हमारे ऊपर पड़ने वाले संकटों का पूर्वानुमान लगाने में विफल रहा है'। यह पिछले दो दशकों के दौरान राजनीति विज्ञान पर इस्टन की अपनी ही कृतियों पर समान रूप से लागू हुआ। उसके वर्गीकरण में रूढ़िवादी पूर्वाग्रह है जिसने सामाजिक दृष्टि से तर्कसंगत मुद्दों का पता लगाने से रोक दिया।

2.5 संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण का विकास

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण क्रमबद्ध विश्लेषण का एक ऐसा रूप है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था को सुसंगत समग्र रूप में देखा जाता है जो हमारे पर्यावरण को प्रभावित करता है और बदले में उससे प्रभावित भी होता है। प्रणाली में वैध शक्ति की लगातार उपस्थिति से राजनीतिक व्यवस्था एक साथ जुड़ी रहती है। इसकी तीन विशेषताएँ हैं: व्यापकता, स्वतंत्रता तथा सीमाओं का अस्तित्व। एक व्यवस्था के भीतर जो अन्तःकार्य होते हैं, परन्तु ये व्यक्तियों के बीच नहीं होते हैं, बल्कि उन व्यक्तियों द्वारा अपनाई जाने वाली भूमिकाओं में होते रहते हैं। अन्ततः राजनीतिक व्यवस्था एक खुली प्रणाली है जो अपनी सीमाओं के बाहर इन प्रणालियों के साथ संप्रेषण में लगी रहती है।

2.5.1 गैब्रियल आलमॉण्ड की अवधारणात्मक संरचना

गैब्रियल आलमॉण्ड की अवधारणात्मक संरचना में तीन चरण शामिल हैं। उसने 1956 में एक लेख लिखा जिसमें कहा था 'व्यवस्था एक ऐसी अवधारणा है जिसमें राजनीतिक निर्णय करने वाले सभी सार्थक कार्य शामिल होते हैं।' उसके विचार में प्रणाली प्रक्रिया की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि व्यवस्था का तात्पर्य समग्रता, समग्रता के दायरे में इकाइयों के बीच अंतरकार्य तथा इन अंतरकार्यों में स्थिरता है जिसे उसने 'बदलता हुआ संतुलन' बनाया।

आलमॉण्ड ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के कार्यों की अवधारणा करते समय मैक्सवेबर तथा तालकोट पारसंस पर निर्भरता बनाए रखी और संस्था की कानूनी शब्दावली को विस्थापित करते हुए संरचना तथा भूमिका जैसी अवधारणाओं, समूह अथवा संगठन की ओर ध्यान दिया। अंत में उसने राजनीतिक संस्कृति की ऐसी अवधारणा पेश की जिसमें राजनीतिक कार्य के लिए अनुकूलन की एक खास पद्धति अंतरनिहित है। ये नमूने आमतौर पर राजनीतिक प्रणाली की सीमाओं के बाहर तक फैले हुए हैं।

प्रिस्टन यूनिवर्सिटी में आलमॉण्ड तथा उनके सहयोगियों ने 1958 तथा 1959 ई. में विकासशील देशों में राजनीति पर मुख्य रूप से ध्यान दिया उसने इन विकासशील देशों

में हो रहे परिवर्तन के लिए संरचना तथा कार्यों की अपनी अवधारणाओं को लागू किया और उनके संविधानों तथा औपचारिक सरकारी संस्थाओं की जाँच की ओर ध्यान नहीं दिया। बाद में आलमॉण्ड तथा कोलमैन ने इस विषय पर *पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियाज़* शीर्षक से एक पुस्तक का संपादन और प्रकाशन किया।

आलमॉण्ड और उसके सहयोगियों ने तुलनात्मक राजनीति की नई अवधारणाओं को प्रस्तुत किया। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा ने राज्य तथा वैधानिक उपकरणों को विस्थापित किया। संरचना ने संस्था का स्थान लिया। भूमिका ने कार्यालय का स्थान लिया और कार्य ने शक्ति का स्थान ग्रहण किया। आलमॉण्ड ने सुझाव दिया कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं की चार विशेषताएँ होती हैं:

- i) सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के संरचना होती हैं।
- ii) सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में एक जैसे राजनीतिक कार्य किये जाते हैं।
- iii) सभी राजनीतिक संरचनाएं बहुप्रकार्यात्मक होती हैं।
- iv) सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ सांस्कृतिक दृष्टि से मिश्रित होती हैं।

उसके बाद आलमॉण्ड ने निवेशों और उत्पादनों में अपने काम चलाऊ श्रेणियों का वर्गीकरण करते हुए रूपरेखा प्रस्तुत की:

निवेश कार्य:

राजनीतिक सामाजीकरण तथा भर्ती

हितों का अभिव्यक्तीकरण

हितों को जोड़ना

राजनीतिक संप्रेषण

उत्पादन कार्य

नियम बनाना

नियम लागू करना

नियम अधिनिर्णय

उत्पादन सरकार के कार्य हैं जो परम्परागत विधायी कार्यकारिणी तथा न्यायिक कार्यों के अनुरूप होते हैं। तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अभिमुखीकरण को प्रदर्शित करते हुए वे सरकार अमरीकी तथा यूरोपीय अवधारणाओं के प्रति पूर्वाग्रह प्रदर्शित करते हैं लेकिन आलमॉण्ड ने तर्क दिया है कि निवेश कार्य विकासशील देशों में राजनीतिक प्रणालियों की विशेषताओं के मामले में निर्णायक हैं।

निवेश कार्य प्रणाली के प्रमुख तत्व हैं जो समस्याओं तथा मुद्दों की पहचान करते हैं विचार करते हैं तथा उनको हल करते हैं। स्पिरो ने इस प्रक्रिया को "नीति-प्रवाह" बताया तथा इस्टन ने अपनी व्याख्या में बताया कि इसमें कार्य की माँग तथा समर्थन शामिल है। आलमॉण्ड ने कहा है कि राजनीतिक सामाजीकरण, परिवार, विद्यालय, चर्च, मजदूर यूनियन दल तथा सरकारी एजेन्सियों के जरिये स्वरूप ग्रहण करता है जिसमें विभिन्न सामाजिक समूहों से लोगों को राजनीतिक दलों तथा सिविल सेवाओं आदि में भर्ती करने की प्रक्रिया भी शामिल है।

दिलचस्पी व्यक्त करने में कार्य करने के लिए माँग तथा राजनीतिक दिलचस्पी की अभिव्यक्ति शामिल है। हितों के जुड़ने की प्रक्रिया में उन हितों और माँगों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें दिलचस्पी वाले समूहों तथा राजनीतिक दलों द्वारा अभिव्यक्ति किया जाता है। इन सभी राजनीतिक कार्यों में मदद करता है। राजनीतिक सामाजिकता भर्ती कार्य तथा अभिव्यक्ति और अधिक से अधिक हितों के जुड़ने आदि का कार्य संप्रेषण द्वारा होता है।

गैब्रियल आलमॉण्ड ने कहा है कि राजनीतिक संस्कृति द्वैतवादी है, अद्वैतवादी नहीं। राजनीतिक व्यवस्था को आधुनिक तथा पारंपरिक, विकसित तथा कम विकसित, औद्योगिक या कृषिक रूप में दर्शाया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था विकास की कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। राजनीतिक व्यवस्था के विकास के उच्च स्तर पर पहुँचते ही इसकी संरचना बहुत विशिष्ट हो जाती है। आलमॉण्ड ने उन्हें प्राचीन, पारम्परिक, परिवर्ती तथा आधुनिक प्रणालियों में विभक्त किया।

कम विकसित व्यवस्था 'पारम्परिक' एकनिष्ठता, आरोपणशीलता तरीके के विस्तार को दर्शाते हैं। विकसित व्यवस्था 'बुद्धि संगत' तरीके के विशिष्टता, सर्वव्यापक, कार्यसम्पादन तथा उदार उन्मुखता को दर्शाते हैं। आधुनिकीकरण का यह तरीका कभी पूर्ण नहीं होता है। आलमॉण्ड ने अपने इस सिद्धान्त को 'संभावित' सिद्धान्त कहते हुए यह सुझाव दिया कि "इस राजनीतिक व्यवस्था का खास संरचना द्वारा खास क्रिया के निष्पादन के लिए संभावना के तौर पर तुलना किया जा सकता है"।

सामाजिक के संरचना का तीसरे चरण में विकास किया गया, जब उन्होंने पावेल के साथ मिलकर 'कम्परेटिव पॉलिटिक्स - ए डेवलेपमेंटल एप्रोच' का प्रकाशन 1966 में किया। अब उन्होंने परिवर्तन प्रक्रिया की अवधारणा को सामने रखा, जिसे राजनीतिक व्यवस्था में माँग एवं पूर्ति के बहाव में बदलाव की अनुमति होती है। उस व्यवस्था से निष्कर्ष नियम, वितरण का समाज में प्रवाह होता है।

उन्होंने यह बहस की कि उनकी राजनीतिक व्यवस्था एक-दूसरे पर आश्रित है जिसका मतलब समन्वय नहीं है। उन्होंने यह दावा किया कि उनका सिद्धान्त सक्रिय है क्योंकि इसमें 'विकास के पैटर्न' हैं। उन्होंने अपनी संरचना को राजनीतिक विकास की अवधारणा से जोड़ा।

आलमॉण्ड की राजनीतिक तथा प्रकार्यों के स्तर का आरेख

पर्यावरण	अनुरक्षण			पर्यावरण
				क्षमताएँ
(माँग) हित			नियम बनाना	विनियमाक
निकालना				निर्णय
	उच्चारण			
निवेश	दिलचस्पी	राजनीतिक	नियम लागू करना	उत्पाद
प्रतीकात्मक				
	परिवर्तन		परिवर्तन	
	कुल योग			
सहायताएँ	राजनीतिक व्यवस्था		नियम अधिनिर्णय	क्रियाएँ
प्रतिक्रियाशील				वितरण योग्य
	संचार			

अपनाना

पर्यावरणपर्यावरण

यह आरेख आलमॉण्ड की राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणाओं का उल्लेख करते हैं, जो कई स्वतंत्र हिस्सों से बने हैं। आलमॉण्ड ने शक्ति स्तर की क्रियाओं को अपने मॉडल में शामिल किया। एक स्तर परिवर्तन क्रियाओं से बना हुआ है: दिलचस्पी उच्चारण, दिलचस्पी कुलयोग, राजनीतिक संप्रेषण, नियम बनाना, नियम लागू करना तथा नियम अधिनिर्णय। इन क्रियाओं का निवेश माँग तथा सहायताएँ तथा क्रियाओं को राजनीतिक प्रणाली के भीतर समाहित करने से संबंध है। माँगों को दिलचस्पी उच्चारण की तरह परिभाषित किया जाता है तथा उनका दिलचस्पी कुलयोग से वैकल्पिक क्रिया के रूप में रूपांतरण हो जाता है। नियमों को नियम बनाने वाले से लिया गया है। उन्हें नियम लागू करने वाले के जरिये लागू किया जाता है तथा उन्हें नियम अधिनिर्णय के द्वारा परखा जाता है। संप्रेषण इन सभी क्रियाओं को पूरा करता है।

दूसरे स्तर में प्रतीकात्मक कार्य: विनियम, निष्कर्षण, वितरण तथा प्रतीक अनुक्रिया शामिल है। ये कार्यकलाप पर्यावरण से संबंधित हैं। आलमॉण्ड ने बताया है कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में विनियमन का निर्गत, विकर्षण और वितरण समूहों की माँगों के निवेशों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित होते हैं। इसलिए इन व्यवस्थाओं की उच्चतर सहानुभूतिपूर्ण क्षमता होती है। सर्वसत्तात्मक व्यवस्थाएँ माँगों के प्रति कम उत्तरदायी होती हैं। वे बल प्रयोग के जरिये विनियमन व्यवहार करती हैं और अपने लोगों से अधिकतम संसाधनों का दोहन करती हैं। प्रतीकात्मक क्षमता एक विशेष व्यवस्था से प्रतीक प्रवाह से संबंध

रखती है जो सूचना पर्यावरण में जैसे राष्ट्रों के समुदाय में उसकी तरवीर से संबंध करती है।

कार्यों का तीसरा स्तर राजनीतिक व्यवस्था के रख-रखाव तथा उसके अपनाने से संबंध है। उनमें राजनीतिक सामाजिकरण तथा भर्ती शामिल है। आलमॉण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था का सिद्धान्त तीनों स्तरों में संबंधों तथा हर स्तर पर कार्यों के संबंधों पर आधारित है।

1969 में, आलमॉण्ड ने अपने अवधारणात्मक संरचना की समीक्षा की और एक शोध डिजाइन का प्रस्ताव किया जिसका उद्देश्य एव आकिस्मक योजना का इस्तेमाल करते हुए ऐतिहासिक अनुभव के क्रमबद्ध शोषण के थोड़ा और निकट हमें ले जाना था जिसमें प्रणाली - कार्य विश्लेषण, समग्र मात्रात्मक विश्लेषण, तथा विकास प्रकरणों के स्पष्टीकरण में उपर्युक्त बिन्दुओं पर तर्क संगत चयन विश्लेषण करना था इस दृष्टिकोण में उसके संरचनात्मक - कार्य फार्मूले को कायम रखा गया परन्तु इसे अन्य दृष्टिकोणों के साथ सम्मिलित कर दिया गया। ताकि इसे अनुभव सिद्ध करके और लाभकारी बनाया जाए।

2.5.2 आलमॉण्ड के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव

आलमॉण्ड के दृष्टिकोण को स्वरूप प्रदान करने वाले प्रभाव इस्टन के व्यवस्था विश्लेषण पर प्रभाव डालने वाले तत्वों जैसे ही हैं। उसके परिप्रेक्ष्य भी रैंडक्लीफ, ब्राउन और मालिनोवस्की, पारसंस तथा इस्टन की कृतियों से निकले हुए हैं। समूची प्रणाली के साथ आलमॉण्ड के जुड़ाव कारण इसे विशाल संरचनात्मक कार्यवाद की पद्धति कहा जा सकता है। आलमॉण्ड के विचार का एक अन्य प्रभाव बहुवाद तथा उदारतावाद की परम्पराओं से सम्बंध है तथा यह आर्थर बेत्तले, डेविड टूमे तथा राबर्ट डहल की कृतियों द्वारा समझाया गया है। प्रणाली के भीतर हितों की बहुलता से इसके संबंध के कारण इसे सूक्ष्म संरचनात्मक कार्यवाद की पद्धति कहा जा सकता है।

आलमॉण्ड ने हालाँकि कार्यवाद की पारसंस की अवधारणा को फिर से दोहराया है। पारसंस की योजना के दो पहलुओं ने आलमॉण्ड के फार्मूले को प्रभावित किया है। वे हैं एक्शन के सिद्धान्त और सामाजिक व्यवस्था। इसके अलावा पारसंस की ही तरह आलमॉण्ड की भी व्यक्तित्व तथा संस्कृति के विषयों में दिलचस्पी थी। आलमॉण्ड ने पारसंस द्वारा प्रस्तावित प्रतिमान भिन्नताओं की अवधारणा का इस्तेमाल किया वे थे (1) भावात्मकता बनाम भावनात्मक तटस्थता, (2) आत्म अभिमुखीकरण बनाम सामूहिक अभिमुखीकरण (3) सार्वभौमिकता बनाम एकनिष्ठता (4) उपलब्धि बनाम आरोपण (5) विशिष्टता बनाम विसारितता। आलमॉण्ड ने राजनीतिक संस्कृति को राजनीतिक व्यवस्था से संबंध बताने में उसका इस्तेमाल किया।

अन्तरःकार्य तथा संतुलन का विचार आलमॉण्ड के संरचनात्मक कार्यवाद के मध्यवर्ती सिद्धान्त में निहित है। आर्थर बेत्तले के प्रोसेस ऑफ गवर्मेंट में बहुवाद प्रक्रिया तथा संतुलन के संबंध होने के बारे में प्रस्ताव किया गया था और डेविड टूमेन की पुस्तक गवर्मेंटल प्रॉसेस में इसी को फिर से बताया गया। आलमॉण्ड ने बहुवाद सिद्धान्त को कार्यवाद की

संरचना में बहुत सही ढंग से सम्मिलित कर लिया गया। इससे आलमॉण्ड का दृष्टिकोण पक्षपात पूर्ण माफी माँगने वालों के स्तर तक हो गया है जो पश्चिमी उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था की एक वैचारिक व्याख्या का रूप ले लिया है।

2.6 आलमॉण्ड की कार्य प्रणाली और सिद्धान्त की आलोचना

आलमॉण्ड के संरचनात्मक कार्यवाद की तीन आधारों पर आलोचना की गई है: (1) रूढ़िवादी सिद्धान्त, (2) अवधारणात्मक भ्रम, तथा (3) प्रचालनात्मक सीमाएँ।

1 रूढ़िवादी सिद्धान्त

आलोचकों के अनुसार संरचनात्मक कार्यवाद दृढ़ता, रूढ़िवादी तथा प्रतिबंधात्मक सिद्धान्तों पर आधारित होता है। डॉन मार्टिनिडेल ने कार्यवाद की चार खामियों का संकेत किया है। यथास्थिति के लिए रूढ़िवादी सिद्धान्त के पूर्वाग्रह तथा तरजीह; कार्य प्रणाली की स्पष्टता का अभाव, सामाजिक जीवन में बंद व्यवस्थाओं की भूमिका पर आवश्यकता से अधिक जोर तथा सामाजिक परिवर्तन से निपटने में विफलता।

सी राइटमिल्स ने कार्यवाद के पक्षधरों के लेखन में रूढ़िवादी पूर्वाग्रहों की आलोचना की है जो कि एक महान सिद्धान्त था जो कि न तो तथ्यों से संबंध था न ही सिद्धान्त के स्तर पर पहुँचा था। बैरिंगटनमूल, अलदरेन्दोर्फ तथा एण्ड्रूहेकर ने भी इसी रूढ़िवादी पूर्वाग्रह की आलोचना की है। स्पीरो ने आलमॉण्ड के कार्य को मानव केन्द्रित समझा और लीजफार्ट ने ऐसी स्थिरता पर जोर देने वाला बताया जो एक एंग्लो-अमरीकी उदार पूँजीवादी सिद्धान्तों से परिलक्षित होती है। सैनफोर्ड ने आलमॉण्ड के खिलाफ इसी तरह का आरोप लगाया।

अन्य आलोचकों ने कार्यवादियों पर उदारवादी पूर्वाग्रह का आरोप लगाया जो यह विश्वास करते हैं कि बाजार के स्थान की स्वतंत्रता के साथ किसी प्रकार की हस्तक्षेप पर अक्षमता आती है और प्रणालियों के स्वाभाविक लाभ को सीमित कर देती है। चार्ल्स पावेल ने आलमॉण्ड की कार्य प्रणाली में अमरीकी सांस्कृतिक पुराण कथाओं का प्रतिबिंब पाया। उसके रुचि वाले समूह का दृष्टिकोण ऐसे वर्ग रहित समाज पर आधारित था जो धार्मिक और जातीय भेदभावों के द्वारा स्तरबद्ध था। ... राज्य गैर पक्षपातपूर्ण संदर्भ की तरह कार्यवादी संघर्ष के प्रस्ताव की संरचना में मुरझा जाता है। उसने निष्कर्ष में कहा कि आलमॉण्ड का संरचनात्मक कार्यवाद राजधर्म समर्थक, गैर संचालनात्मक औपचारिक रूप से अपर्याप्त है। शोध के वाहक के रूप में यह कहीं नहीं जाता और प्रवचन की भाषा के रूप में यह धुंधलेपन की ओर ले जाता है। संरचनात्मक कार्यवाद का बहु-वादी तटस्थतावाद इसे एक निरर्थक सिद्धान्त का रूप दे देता है।

2 अवधारणात्मक भ्रम

आई. सी. जार्वी ने तर्क दिया कि कार्यवाद स्पष्टता लाने की शक्ति के अभाव में स्पष्टीकरण में संतोषीकरण का अभाव तथा इसकी स्वीकृतियों के संकुचित प्रभाव और

सामाजिक व्यवस्थाओं के कार्य तथा स्वभाव के कारण सीमित है। आलमॉण्ड के सिद्धान्त की ग्रोथ की आलोचना में इसके खिलाफ तीन बिन्दु हैं: शब्दावली में अस्पष्टता, राजनीतिक संबंधों के निर्धारण में कठिनाइयाँ तथ्यों तथा मूल्यों के इस्तेमाल में भ्रम। मेलामसन तथा काइंड ने भी सिद्धान्त से अलग हुए भावनात्मक विस्तार के साथ सम्मोह तथा उसकी भाषाओं की क्लिष्टता की आलोचना की है।

मैकेंजी का विचार था कि संरचनात्मक कार्यवाद महज ऐसी शब्दावली है जिसने सत्य को रहस्यमय बना दिया। उसने कहा कि एक प्रकार से आलमॉण्ड के शब्द पुराने शब्दों से बेहतर नहीं है क्योंकि उनसे बेहतर परिभाषाएँ नहीं बनती। एस ई फाइनर ने आलमॉण्ड की राजनीतिक व्यवस्था के शब्दावली के बारे में कहा 'आलमॉण्ड को जो कुछ कहना था उसे उसने इस प्रणाली के दृष्टिकोण को इस्तेमाल में लाए बगैर ही कह दिया होता और उस स्थिति में यह अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता से कह दिया गया होता। फाइनर फैशनबल अवधारणाओं के इस्तेमाल से घृणा करता था। उसने सोचा कि आलमॉण्ड की राजनीतिक अवधारणा गलत तरीके से सोची गई थी और उसकी प्रणाली का सिद्धान्त उसके निवेशों तथा उत्पादनों के साथ बेकार और भ्रमित करने वाला था।

हैम्पेल ने तर्क दिया कि कार्यवाद अतार्किक है। सरमनरॉय क्रूक के विचार में इसने प्रणालियों की एकजुटता को बढ़ा चढ़ा कर कहने और अस्पष्ट वर्णन के कारण लक्ष्य को जटिल बनाने तथा विश्लेषण की कमी है।

3 प्रचालनात्मक सीमिताएँ

संरचनात्मक कार्यवाद की एक व्यवस्था होती है जहाँ आदर्श स्थितियाँ व्यवस्थाओं की निश्चित स्थितियों के साथ भ्रमित हो जाती हैं। टेरी एण्ड क्लॉर्क ने संस्थागत राजनीतिक व्यवहार के संरचनात्मक कार्यात्मक अत्यधिक जोर देने के बारे में शिकायत की है। अन्य आलोचकों ने बताया कि संरचनात्मक कार्यावादियों के परिष्कार करने, संचालन करने और परिकल्पनाओं के परीक्षण के अत्यधिक कठिन कदम नहीं उठाएँ। इन विफलताओं का कारण उसने लेखकों की सीमाओं, के सिद्धान्त के विकास में प्रारंभिक अवस्था तथा कार्यवाद की कमियाँ बताई।

हॉल्ट और टर्नर के अनुसार आलमॉण्ड ने आधुनिक प्रणाली को संरचनात्मक रूप से भिन्न तथा धर्म निरपेक्षा बताया परन्तु इस फार्मूले के साथ उसने सीमितताएँ पाई। उन्होंने कहा कि ऐतिहासिक और समसामयिक मामलों को शामिल करने के लिए व्यापक स्तर पर लागू करना कठिन है। फार्मूला तैयार करने में आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को आधुनिक एंग्लो अमरीकी लोकतांत्रिक व्यवस्था के साथ समानता करने के प्रभाव को भी देखा गया है। इसकी परिभाषाओं में बहुत अधिक आयाम लागू होते हैं और यह सरकार के सामाजिक कार्यों में भिन्नता की समस्या की उपेक्षा करता है।

उन्होंने एक उदाहरण दिया, आलमॉण्ड के अनुसार सोवियत संघ में कोई आधुनिक प्रणाली नहीं थी। इसकी संरचना में भिन्नता तथा स्वायत्तता का अभाव था। इस प्रकार आलमॉण्ड के विचार में यह पारम्परागत थी। हॉल्ट और टर्नर ने इस वर्णन का खंडन किया और

इस बारे में व्यक्त किए गए अनेक प्रकार के हितों का उल्लेख किया। खासतौर पर स्टालिन के बाद की अवधि में व्यक्त किए गए विचारों का उल्लेख किया। आलमॉण्ड के वर्गीकरण बड़े ही कठोर थे और उनकी व्यवस्था की योजना से संबंध नहीं थे। आलमॉण्ड के अन्य आलोचकों ने सुझाव दिया कि कार्य सिद्धान्त को यदि सावधानी से रखा जाए तो यह भावनात्मक रुचिकर परिकल्पनाएँ पैदा कर सकता है जो शोध में लाभदायक सिद्ध होंगी।

2.7 सार्वजनिक नीति : कुछ परिप्रेक्ष्य

कोई राजनीति व्यवस्था अपना लक्ष्य कैसे प्राप्त कर सकती है, इसका पता लगाने के लिए डेविड इस्टन इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढना चाहते हैं 'समाज द्वारा अपनाई गई वास्तविक सत्तावादी नीतियाँ क्या हैं उनका निर्धारण कैसे होता है और ये कैसे कारगर होती हैं।' इस प्रकार सामाजिक नीति को तैयार करने तथा उसे कार्य रूप में परिणित करने में शामिल सभी गतिविधियाँ राजनीतिक व्यवस्था को बनाने वाली नीति नियामक प्रक्रिया में शामिल हुई।

नीति केवल विधायिका या सरकार का फैसला नहीं है क्योंकि इसका कार्यान्वयन प्रशासक पर निर्भर करता है जो इसे फिर तैयार कर सकता है या नष्ट भी कर सकता है। इस प्रकार नीति के अध्ययन में कानूनी तथा वास्तविक नीति अभ्यास दोनों के कार्य तथा दृढ़ता की परीक्षा शामिल होती है। इस्टन ने कहा है कि "यदि कानून निर्देश देता है कि सभी कीमतें नियंत्रण के निर्दिष्ट रूप में होंगी लेकिन काला बाजार जड़ ढूँढ लेता है और उपर्युक्त अधिकारी तथा सारा समाज उनके अस्तित्व को स्वीकार करता है तो वास्तविक नीति केवल मूल्य नियंत्रण की ही नहीं रह जाती। इसमें कालाबाजार की स्वीकृति भी शामिल है।"

आलमॉण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था की क्षमताओं के रूप में लोक नीति पर विचार व्यक्त किए। क्षमताओं के दृष्टिकोण में यह है कि इसमें अनुभववाद के रूप में लोकनीति को स्पष्ट किया गया है। यह कहना गलत है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था स्वदेशी या विदेश नीति को किसी खास मार्ग का अनुसरण करती है। हम जानते हैं कि कुछ लोकतांत्रिक देशों में सामाजिक कल्याण तथा आर्थिक राष्ट्रीयकरण की नीतियाँ अपनाई हैं। जबकि कुछ अन्य आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति अधिक सख्ती से मानने के लिए वचनबद्ध हैं। अवसाद से पहले अमरीका ने सीमित हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया जिसे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 'न्यू डिल' कल्याण नीति में बदल दिया।

राजनीतिक व्यवस्था की निष्कर्षण क्षमता घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण से पदार्थों तथा मानव संसाधनों को निकलने में नीतियों की श्रेणी तथा व्यवस्था की कार्य निष्पादन की ओर इशारा करते हैं।

विनियामक क्षमता राजनीतिक व्यवस्था की नीतियों की ओर इशारा करते हैं जो व्यक्तिगत या समूहों की व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। अमेरिका में, राजनीतिक व्यवस्था अब आर्थिक जीवन के कई पहलुओं को नियंत्रित करते हैं, यह उपभोक्ता की मूल्य एकाधिकार, ट्रेड

यूनियनों को दबने या व्यापारियों को गलत नीति अपनाने से रोकता है।

वितरणात्मक क्षमता राजनीतिक प्रणाली में सामानों, विभिन्न प्रकार के समूहों तथा व्यक्तियों की सेवाओं, प्रतिष्ठाओं, पदों तथा अवसरों को मुहैया कराने से संबंधित हैं।

मार्क्स का सिद्धान्त यह बतलाता है कि समाज की वर्ग संरचना राजनीतिक व्यवस्था की संरचना, प्रक्रिया तथा समाज एवं अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण में इसकी नीतियाँ एवं कार्य निष्पादन को निर्धारित करती हैं। मार्क्स के सिद्धान्तकारों को यह विश्वास था कि पूँजीवादी प्रकार का समाज धनी वर्ग से प्रभावित राजनीतिक व्यवस्था को जन्म देता है। यह अपनी रुचि अनुसार कार्य करते हैं तथा बाजार एवं लाभ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमण नीति को अपनाते हैं।

राल्फ मिलिबैंड राजनीतिक व्यवस्था के भीतर राज्य व्यवस्था की बात करते हैं। नियमों को छः विभिन्न स्तरों पर बनाया या लागू किया जाता है: (1) सरकार, (2) प्रशासन, (3) सेना तथा पुलिस, (4) न्याय तंत्र (5) सरकार की अर्ध केन्द्रीय इकाइयाँ, (6) संसदीय विधानसभाएँ। राष्ट्रपतियों, प्रधानमंत्रियों, वरिष्ठ सैन्य अधिकारियों उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों ऊँचे सिविल अधिकारियों कुछ संसदीय नेताओं द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त राज्य के बुद्धिजीवी राजनीतिक व्यवस्था में नीति निर्माण प्रक्रिया का नियंत्रण करते हैं।

राज्य व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था की समानार्थक नहीं है जिसमें कि अनेक दल तथा दबाव डालने वाले समूह यहाँ तक की बड़े-बड़े निगम, ऊँची पूँजीवाद फर्म, चर्च तथा जनसंचार माध्यम आदि शामिल हैं। राल्फ मिलिबैंड तथा सी. राइटमिल्स दोनों ने ही ऐसे श्रेष्ठजनों जैसे (क) शीर्ष स्तर के पूँजीपति, (ख) शीर्ष सैन्य अधिकारियों, (ग) शीर्ष राजनीतिक नेताओं के माध्यम से नियंत्रण तथा नीति नियामक प्रक्रिया और प्रगति से सम्पन्न पूँजीवादी देशों की सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में फैसला करने वाली वास्तविक ताकत को नियंत्रित करते हैं।

उन्नत पूँजीवाद की राजनीतिक व्यवस्था से आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग से संबंध का विश्लेषण करते हुए राल्फ मिलिबैंड ने निष्कर्ष दिया है। यह अच्छी तरह से पाया जा सकता है कि वास्तव में संबंध बहुत निकटता के हैं, और अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से राज्य शक्ति के धारक, निजी आर्थिक शक्ति के अभिकर्ता - जो शक्ति भी नियंत्रित करते हैं, इसलिए शब्दों के अर्थ को अनावश्यक रूप से विस्तार करने के बजाय एक वास्तविक 'शासक' वर्ग है।

डेविट इस्टन तथा गैब्रियल आलमॉण्ड नीतियों को तैयार करने तथा उन पर अमल करने को उदारवादी और बहुवादी प्रक्रिया मानते हैं जो कि प्रतियोगिता में गए हुए दिलचस्पी वाले लोगों की माँगों और समर्थनों पर निर्धारित हैं। सी राइटमिल्स और राल्फ मिलिबैंड का विश्वास है कि विकसित पूँजीवादी देशों की राजनीतिक प्रणाली में नीतियाँ तीन प्रमुख तत्त्वों निगमित पूँजी, उच्च सैनिक जनरलों और निकट सहयोगियों के रूप में काम करते हुए वरिष्ठ राजनीतिक नेताओं के वर्गों से श्रेष्ठजन के प्रमुख सदस्यों द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

2.8 सारांश

बहुत समय से राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अपने उपसाधनों के रूप में व्यवस्था की कुछ अवधारणाओं पर विचार किया है। अमरीकी राजनीतिक विज्ञान में, विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद व्यवहारवाद के पढ़ने के बाद व्यवस्था विश्लेषण ने एक नया महत्व प्राप्त कर लिया है।

डेविट इस्टन ने राजनीति के लिए सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को लागू करने के लिए समाज के प्रणालीबद्ध अध्ययन के लिए शोध अनुसंधान किया। इस्टन ने चार अनुमान निर्धारित किए: (1) इस सिद्धान्त को साधारणीकरण की सर्वोच्च व्यवस्था के साथ व्यवस्था के निर्माण की आवश्यकता है, (2) राजनीतिक व्यवस्था को समग्र रूप में देखा जाना चाहिए (3) राजनीतिक प्रणाली पर शोध मनोवैज्ञानिक तथा स्थिति के आँकड़ों दोनों पर ही आधारित होना चाहिए और (4) राजनीतिक जीवन को असंतुलित कहा जा सकता है।

राजनीतिक व्यवस्था की इकाइयाँ राजनीतिक कार्य हैं, निवेश माँगों के रूप में होते हैं तथा समर्थन और उत्पादन फैसलों तथा नीतियों के रूप में होते हैं। दिलचस्पी रखने वाले समूह माँगों और समर्थनों के लिए योगदान करते हैं तथा निर्णय और नीतियाँ सरकारी कार्य होते हैं।

इस्टन ने अपना ध्यान कानूनी और औपचारिक संसाधनों की उपेक्षा करते हुए व्यवस्था विश्लेषण पर केन्द्रित किया है। उसने कहा कि राजनीति शास्त्र में राजनीतिक व्यवस्था के बारे में सिद्धान्त देना चाहिए और प्रक्रियाओं की अपेक्षा राज्य और उसकी सीमाओं के सिद्धान्तों को शामिल किया जाना चाहिए। उसने राजनीति का महान (ग्रेण्ड) सिद्धान्त देने का आग्रह किया।

आलोचकों में अपर्याप्त अवधारणा देने, स्थिरता के साथ ज्यादा लगे रहने और परिवर्तन तथा संघर्ष में लगातार ध्यान देने, मानवतत्त्व से बचने अपने अनुसंधान में परीक्षणीय परिकल्पनाओं को न देने, अपने संरचना के अन्दर संचालनात्मक कठिनाइयों को शामिल रखने प्रणालियों की सीमा के सिद्धान्त में अस्पष्टता और उसके दकियानुसी सिद्धान्तों की अभिमुखीकरण के कारण इस्टन की आलोचना की। बहुत कम लोगों ने तुलनात्मक राजनीति में अपने शोध के लिए इस्टन के प्रणाली विश्लेषण के तरीके को लागू किया।

आलमॉण्ड ने इस्टन से व्यवस्था की धारणा को अपनाया उसने प्रणाली की अवधारणा सहित माना जिसमें राजनीतिक फैसलों को बनाने के लिए कार्य के सभी तर्क संगत पैटर्न शामिल हैं आलमॉण्ड के लिए प्रक्रिया की तुलना में प्रणाली अधिक महत्वपूर्ण थी। आलमॉण्ड कार्य की राजनीतिक प्रणाली के अपने विचार में मौक्सवेबर तथा तालकोट पारसंस पर बहुत गंभीर रूप से निर्भर था।

उसने राजनीतिक संरचनात्मक कार्यवाद के आलमॉण्ड के सिद्धान्त के अनुसार सभी राजनीति प्रणाली के राजनीतिक ढाँचे होते हैं जो बहु कार्य होते हैं और सभी प्रणालियाँ

एक जैसा ही कार्य करती हैं उनमें से सभी को मिश्रित राजनीतिक सम्यता होती है। राजनीतिक प्रणालियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है। (i) आदिम, (ii) परम्परागत, (iii) संक्रमणकालीन (iv) राजनीतिक संस्कृति के पैटर्न पर तथा उनकी राजनीतिक विकास के मंच पर आधारित आधुनिक।

आलमॉण्ड ने चार निवेश कार्यों को श्रेणीबद्ध किया जैसे (1) राजनीतिक सामाजीकरण तथा भर्ती, (2) दिलचस्पी को व्यक्त करना (3) दिलचस्पी को समग्र बनाना (4) राजनीतिक संप्रेषण, और तीन उत्पादन कार्य जैसे (i) नियम निर्माण, (ii) नियम अनुप्रयोग, (iii) नियम अधिनिर्णय।

कार्यों के एक अन्य स्तर राजनीतिक व्यवस्था की क्षमताओं के बारे में वर्गीकृत किया गया है। (1) विनियमन (2) निष्कर्षण (3) वितरण (4) प्रतीकात्मक अनुक्रिया। तीसरे स्तर के कार्य को आलमॉण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के रखरखाव तथा अनुकूलन के रूप में वर्णित किया। राजनीतिक सामाजीकरण तथा राजनीतिक संस्कृति ने उपर्युक्त कार्य संपादन में प्रणाली की सहायता की।

आलमॉण्ड के संरचनात्मक कार्यवाद के आलोचकों ने निम्नलिखित बिन्दुओं को शामिल किया। उसका सिद्धान्त दृढ़ता सम्पन्न तथा आदर्शवादी था, इसमें रुढ़िवादी सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह था, इसमें कार्य प्रणाली की स्पष्टता का अभाव था। यह सामाजिक परिवर्तन की समस्याओं से निपटने में असमर्थ था, इसमें गंभीर संचालनात्मक सीमाएँ थी और इसमें बेकार की शब्दावली भरी थी।

डेविड इस्टन तथा गैब्रियल आलमॉण्ड दोनों ने ही लोक नीति की उदारवादी, बहुवादी अवधारणा पेश की है जो प्रतियोगिकात्मक माँगों तथा समर्थनों का परिणाम है जो विभिन्न दिलचस्पी वाले समूहों द्वारा जोर-शोर से व्यक्त किया गया है। और उसके अनुरूप सरकार के फैसलों तथा कार्यक्रमों का परिणाम है। सी. राइटमिल्स तथा राल्फ मिलिबैंड का विश्वास है कि शीर्ष के पूँजीवादी, सर्वोच्च सैनिक जनरल और शीर्ष के राजनीतिक नेताओं से सम्पन्न शक्तिवान श्रेष्ठजन वास्तव में सभी विकसित पूँजीवादी देशों की राजनीतिक व्यवस्था में लोक नीति का निर्धारण करते हैं।

2.9 बोध प्रश्न

1. व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति और अभिमुखिकरण के बारे में विचार व्यक्त करें।
2. इस्टन के सामान्य प्रणाली सिद्धान्त की प्रमुख अनुमान का आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करें।
3. आलमॉण्ड के आदर्शों के संदर्भ में संरचनात्मक कार्यवाद के मुख्य सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें (क) लोकनीति का परिदृश्य, (ख) निवेश और उत्पादन।

इकाई 3 तुलनात्मक दृष्टिकोण: राजनीतिक अर्थव्यवस्था, निर्भरता और विश्व व्यवस्थाएँ

संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 राजनीति अर्थव्यवस्था क्या है?

3.2.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी अवधारणा

3.2.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विकास

3.2.3 तुलनात्मक राजनीतिक अर्थव्यवस्था

3.3 राजनीतिक अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण मुद्दे

3.3.1 साम्राज्यवाद और निर्भरता

3.3.2 राज्य और वर्ग के सिद्धान्त

3.4 निर्भरता की धारणा और पूर्वानुमान

3.5 निर्भरता सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

3.6 विश्व व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद

3.7 विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण की आलोचना

3.8 सारांश

3.9 बोध प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अल्प विकसित देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं ने, वास्तव में, वहाँ के राजनीतिक वैज्ञानिकों के आत्मविश्वास को कम करके आँका है। ये लोग व्यवस्था के विकास तथा आधुनिकीकरण की जरूरतों का सही विश्लेषण कर सकते हैं। एक, परिवर्ती जो कि सभी कम विकसित समाजों के 'क्रियाशील' अध्ययनों से गायब दिखती है, वह है, उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद। इन लेखकों में आर्थिक आयामों के संरचनात्मक दृष्टिकोणों को कम करने या नजरअंदाज करने के लक्षण पाए गए। सिर्फ मार्क्सवादी लेखकों, जैसे पॉल बैरन, आन्द्रे गुन्डर फ्रैंक तथा चार्ल्स बिटेलहेम ने एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमेरिका की राजनीतिक प्रणालियों का विश्लेषण करते समय राजनीतिक अर्थव्यवस्था को शामिल किया है।

बैरन की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विकास, बिटेलहेम की स्वतंत्र भारत तथा आन्द्रे गुन्डर फ्रैंक का पूँजीवाद तथा लैटिन अमेरिका का कम विकास, मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के प्रतिमान के कुछ सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं जिनका उपयोग विकासदेश-देशों में सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन लाने में हुआ है। गुनार मिरडेल तथा जॉन एच. काउटस्काई ने विकासशील देशों के राजनीतिक प्रक्रियाओं पर आर्थिक कारकों के पड़ने

वाले प्रभावों का गैर मार्क्सवादी, उदार दृष्टिकोण से अध्ययन किया।

3.2 राजनीति अर्थव्यवस्था क्या है?

वेबस्टर के तीसरे नये अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था को सामाजिक विज्ञान के रूप में परिभाषित किया है जिसमें आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रिया के बीच अंतर सम्बंधों पर विचार किया जाता है। अर्थशास्त्रियों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की आर्थिक शाखाओं पर बल दिया। मानडेल ने इसकी उत्पत्ति के बारे में इस प्रकार बताया है “किसी भी समाज का विकास छोटे छोटे वस्तुओं के उत्पादन पर निर्भर करता है।”

मार्क्स की प्रमुख पुस्तक, ‘कैपिटल’ का उपशीर्षक है ‘ए क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकानोमी’ अर्थात् राजनीतिक अर्थव्यवस्था का एक आलोचक और इसमें वस्तुओं, धन, अतिरिक्त मूल्य तथा पूँजी के संग्रह पर ध्यान दिया गया। मार्क्स ने समाज द्वारा निर्धारित व्यक्तियों द्वारा सभी सामान उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित किया है। उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा मुक्त प्रतियोगिता जो भ्रमपूर्ण है, पर आधारित एडम स्मिथ तथा पोथोन के निष्कर्षों के लिए उनकी आलोचना की।

यद्यपि समसामयिक राजनीतिक विज्ञान में राजनीतिक अर्थव्यवस्था की कोई महान परम्परा नहीं विकसित हुई थी। वास्तव में अतिवादी अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने राजनीतिक व्यवस्था में वर्तमान दिलचस्पी को पुनर्जीवित करने तथा इसे राजनीतिक विश्लेषण के लिए तथा और सार्थक बनाने के लिए और अधिक प्रयास किया है। इनमें से अधिकांश लेखकों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी विचार को प्रोत्साहित किया है।

3.2.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी अवधारणा

1840 के दशक के प्रारम्भ में आर्थिक मुद्दों के बारे में अपनी अज्ञानता से लज्जित मार्क्स ने अपना ध्यान न्याय शास्त्र से वस्तुओं की दिलचस्पी की ओर स्थानांतरित कर दिया। मार्क्स ने कहा है “अपने अध्ययनों के फलस्वरूप मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वैधानिक संबंध तथा राज्य के सभी रूप अपने आप न तो समझे जाते हैं और न ही मानव मस्तिष्क की तथाकथित सामान्य प्रगति द्वारा स्पष्ट किए जाते हैं बल्कि वे जीवन की भौतिक दशाओं में जड़ जमाए हुए हैं।”

सन 1845 और 1946 ई. में मार्क्स ने राज्य की अपनी अवधारणा को इतिहास के विभिन्न चरणों के माध्यम से समाज के उत्पादक आधार से संबंध किया। उसने कहा है “इतिहास की यह अवधारणा इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया को समझने में हमारी योग्यता पर निर्भर करती है, जीवन के भौतिक उत्पादन से यह शुरू होती है और राज्य के रूप में अपने कार्य को प्रदर्शित करती है विभिन्न सैद्धान्तिक उत्पादों धर्म, दर्शन और नीति शास्त्र आदि को स्पष्ट करने के लिए तथा उस आधार पर उनकी उत्पत्ति तथा उस आधार पर उनका पता लगाने के लिए”।

इसके अनुसार समाज का आर्थिक ढाँचा या आधार वास्तविक नींव बन जाता है जिस पर लोग अपने उन आवश्यक सम्बंधों को बनाते हैं जिनपर लोग अपने नियंत्रण होता है इसके विपरीत वैधानिक तथा राजनीतिक अधिरचना उस आधार का प्रतिबिम्बन करती है। केवल राजनीतिक अर्थव्यवस्था ही राजनीतिक आधार के विश्लेषण और इसके राजनीतिक तथा सैद्धान्तिक अभिरचनाओं की स्थिति के बीच सम्पर्क बहाल कर सकता है।

जैसा कि आपने पहले की इकाइयों में पढ़ा होगा कि तुलनात्मक राजनीतिक सरकार और राज्य की ओर देखती है लेकिन 1950 के दशक के अंतिम वर्षों के दौरान अमरीकी राजनीतिक वैज्ञानिकों ने राज्य की अवधारणा को अलग कर दिया। एस्टन आलमाण्ड और अन्य विद्वानों ने विचार किया कि राज्य की अवधारणा कानूनी संस्थागत अर्थों द्वारा सीमित है। प्रणाली की तटस्थ अवधारणा ने वर्ग समाज से ध्यान को अलग हटाया, विभिन्न वर्गों के संबंध ने उत्पादन के साधनों तथा उत्पादक शक्तियों की ओर लगाया। आजकल व्यवस्था का इस्तेमाल प्रायः राष्ट्र और तुलनात्मक राजनीतिक की ओर होता है जो देश पर आधारित समान रूप से अध्ययनों की ओर अग्रसर करता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण अथवा परम्परागत ऐतिहासिक, व्यवहारात्मक, भूराजनीतिक, सत्ता के संतुलन अथवा संतुलन के दृष्टिकोणों पर विचार करता है। वे अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की ओर ध्यान न देकर राजनीतिक पहलुओं पर जोर देते हैं। जब राजनीतिशास्त्री साम्राज्यवाद तथा निर्भरता के प्रश्नों पर विचार करता है तो राजनीतिक अर्थव्यवस्था के परिपेक्ष्यों पर उसे लागू किया जा सकता है।

एक अन्य समस्या है। पश्चिम के विकसित और औद्योगिक राष्ट्र तथा कम विकसित राष्ट्र विकासशील देशों के प्रमुख रूप से कृषि पर आधारित समाज विरोधाभास के अध्ययन हैं और अलग प्रणालियों के रूप में महानगरों तथा सहायक नगरों जैसे केन्द्र तथा उसके दूर-दूर के भागों में विभाजित हैं। इन तथाकथित द्विभाषीय इकाइयों के अध्ययन को समेकित और संश्लेषित करने के कोई प्रयास नहीं किए जाते हैं।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मार्क्सवादी दृष्टिकोण में निम्नलिखित बिन्दु दिए गए हैं:

पहला, इसमें तर्क दिया गया है कि राजनीतिक अन्वेषण केवल भागों और ताजा समाचारों के बजाय ऐतिहासिक रूप से सीमित है। सामाजिक समस्याओं और मुद्दों को समझने के अनुसंधान में इसे संश्लेषण प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।

दूसरा, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन अर्थशास्त्र के साथ मिलाकर करना चाहिए। राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के बीच भिन्नता तथा राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक राजनीति तथा तुलनात्मक राजनीति के बीच भिन्नता प्रायः वास्तविकता को तोड़ मरोड़ और विभ्रम की ओर ले जाती है। केन्द्र और परिधि के बीच द्विभागीकरण भी सैद्धान्तिक कठिनाई की ओर ले जाते हैं। तार्किक व्यवस्था राजनीति के समेकित तथा गतिशील विश्लेषण में सहायता करेगी।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के अध्ययन में हमें विपरीत व्यवस्थाएँ मिलती हैं। उन्हें कट्टरपंथी

तथा रूढ़िवादी व्यवस्थाओं के रूप में उनकी पहचान की जा सकती है। जिनसे बड़ी तेजी से भिन्न भिन्न प्रश्न तथा स्पष्टीकरण निकलते हैं। मार्क्सवादी तथा गैर मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बीच भेद को इन दृष्टिकोणों के बीच भिन्नताओं के रूप में देखा जाना चाहिए। इस संदर्भ में मार्क्सवाद को सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा प्रणाली विज्ञान के रूप में देखा जाना चाहिए।

3.2.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विकास

अरनेस्ट मानडेल ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था में विकासों की सबसे नवीनतम व्याख्या की है। छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन प्रथम चरण था जो मध्यकाल तक जारी रहा। सामंतवाद से खरीददारों और विक्रेताओं की लाभोन्मुख व्यवस्था की ओर यूरोप के परिवर्तन के फलस्वरूप राजनीतिक अर्थव्यवस्था का सौदागरवादी व्यवस्था के रूप में यूरोप का परिवर्तन हुआ। उन्होंने स्वीकार किया कि स्वार्थी व्यक्तिवाद को नियंत्रित करने के लिए नियमन और नियंत्रण आवश्यक हैं। फिजियोक्रैट ने तर्क दिया कि धन का उत्पादन व्यापार और उद्योग द्वारा नहीं बल्कि कृषि द्वारा हुआ।

उदारवादियों का विश्वास था कि निजी सम्पत्ति का संरक्षण किया जाना चाहिए और कार्य के लिए प्रोत्साहन के आधार पर धन का उत्पादन और व्यक्ति में सम्पत्ति के अधिकार की भावना भरी जानी चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि व्यक्तिगत पहल सौदागरवाद के तनावों से मुक्त होनी चाहिए। एडम स्मिथ ने इन विचारों को वर्गवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के रूप में संपुष्ट किया। 'इन्क्वारी इन दू नेचर एण्ड कॉजेज ऑफ द वेल्थ ऑफ नेशन्स' में उन्होंने वस्तुओं, पूँजी और मूल्यों तथा साधारण और जटिल श्रम के प्रमुख विषयों पर विमर्श किया। वे ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिसने मूल्य के श्रम सिद्धान्त का फार्मूला तैयार किया। "जो वस्तुओं के मूल्य को उन पर किए गए श्रम की मात्रा के रूप में कम करता है।"

एडम स्मिथ ने बाज़ार के कानूनों की भी पहचान की जिसमें प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में व्यक्तिगत आत्महित करने को स्पष्ट किया जाता है और यह भी बताया जाता है कि माँग और जो कीमत अदा करने का वो इच्छुक है उसके अनुसार समाज द्वारा इच्छित माल के रूप में यह सामने आता है। स्मिथ ने प्रतिस्पर्धात्मक बाज़ार संतुलन की परिकल्पना की क्योंकि व्यक्तिवाद बाज़ार अर्थव्यवस्था में व्यवस्था को प्रोत्साहन देता है न कि अराजकता को। प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी एण्ड टैक्सेशन में रिकार्डो एडम स्मिथ का शिष्य और आलोचक दोनों ही था। रिकार्डो ने पूँजी का संग्रह करने को आर्थिक प्रसार के लिए आधार बताया। उसका विचार है कि निजी निवेशों या पाबंदियाँ खत्म कर दी जानी चाहिए और सरकार को अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। रिकार्डो ने जमींदारों और पूँजीपतियों के हितों के टकराव का भी उल्लेख किया।

राबर्ट ओवेन, सैट साइमन और चार्ल्स फोरियर जैसे यूटोपियाई समाजवादियों ने पूँजीवाद की प्रणाली का समर्थन करने के लिए उदारवादियों की आलोचना की और कहा कि वे रिकार्डो के श्रम सिद्धान्त को तोड़ते मरोड़ते हैं। ऐंजल्स ने कहा है, जहाँ तक आधुनिक समाजवाद की बात है, भले ही चाहे कोई प्रवृत्ति हो, बुर्जुआ राजनीतिक अर्थव्यवस्था से

शुरू होता है यह लगभग पूरी तरह से अपने को रिकार्डों के मूल्य सिद्धान्त से जोड़ देता है। "रिकार्डों ने दो अनुपातों की घोषणा की (1) किसी भी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के लिए अपेक्षित श्रम की मात्रा द्वारा शुद्ध रूप से और एक मात्र रूप से निर्धारित किया जाता है। (2) समूचे सामाजिक श्रम का उत्पाद तीन वर्गों में बाँटा जाता है: भूस्वामी (किराया), पूँजीवादी (मुनाफा) और श्रमिक (वेतन), को इंग्लैण्ड में 1821 के बाद से समाजवादी निष्कर्षों के लिए उपयोग में लाया जाता रहा है।"

माक्स ने यूटोपियाई समाजवादी तथा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने अतिरिक्त मूल्य तथा वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। उसने सामाजिक संकट के सिद्धान्त तथा विकास के बुनियादी कानूनों दोनों को ही निर्धारित किया। इस प्रकार अपने सूक्ष्म आर्थिक विचारों का व्यावहारिक संश्लेषण प्राप्त किया। उसने यह रूप बनाते हैं, अंगों को समग्र से अलग नहीं किया जा सकता। इससे सभी सम्बंधों को एक साथ सहअस्तित्व और एक दूसरे के समर्थक के रूप में समाज को स्पष्ट किया जा सकता है।

समाजवाद की चुनौती ने मूल्य के मारजिनवादी सिद्धान्त और राजनीतिक अर्थव्यवस्था के नव-अभिजात्य सिद्धान्त को जन्म दिया। मूल्य के श्रमिक सिद्धान्त पर उस समय हमला किया गया जब मार्क्सवाद पर बूर्जुआ हमला हुआ। नव-अभिजात्य सिद्धान्त कठोर विस्तृत तथा भावात्मक था। जर्मनी में प्राचीन सिद्धान्तों वाले अर्थशास्त्रियों तथा आस्ट्रिया और स्वीटजरलैण्ड के अर्थशास्त्रियों ने भी मार्क्सवाद पर हमला किया। नव-अभिजात्यवादी संतुलन पर जोर देते हैं और संतुलन को प्रभावित करने वाली गड़बड़ियों को न रोक पाने के लिए उनकी आलोचना की जाती है। उनका ढाँचा गतिशील नहीं स्थिर है। यह आर्थिक संकटों को ठीक नहीं कर पाता और साम्राज्यवाद को पूँजीवाद से नहीं जोड़ सकता।

इन समस्याओं से बाध्य होकर सूमपिटर जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों को संरचनात्मक संकटों का अध्ययन करना पड़ा। 1929-1933 के महान अवसाद के बाद किनैस ने जनरल थ्योरी ऑफ इम्पलाइमेंट इंटरैस्ट एण्ड मनी में लिखा और पूँजीवाद के नरम दृष्टिकोण को एक व्यावहारिक दृष्टिकोण के रूप में बताया। सिद्धान्त में पूँजीवाद के औचित्य को बताने के बजाय उसने इसे प्रचलन में रखने का सुझाव दिया और इसके लिए बार-बार के उतार चढ़ाव के हद तक उसमें मंदी आने देने की प्रथा का सुझाव दिया।

कौत्सकी, हिलफरडिंग तथा रोजा लगजेम्बर्ग और अन्य जैसे मार्क्सवादी तथा नव मार्क्सवादी लेखकों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मौलिक परम्परा जारी रखी। लेनिन का इम्पैरलिज्म, द लास्ट फेज ऑफ कैपिटलिज्म साम्राज्यवाद के विश्लेषण के लिए राजनीतिक अर्थव्यवस्था को लागू करने के लिए विश्व व्यवस्था का एक अच्छा उदाहरण बतलाया। पॉल बारान, लियो हबरमैन और पॉल स्वीजी ने लगभग 1960 के बाद से राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विकास के लिए महान योगदान किया। मानडेल ने उनकी परम्परा जारी रखी और राजनीतिक अर्थव्यवस्था के लिए सैद्धान्तिक दृष्टिकोण, जिसे उसने बूर्जुआ को समाप्त करने की भविष्यवाणी की।

3.2.3 तुलनात्मक राजनीतिक अर्थव्यवस्था

सिद्धान्त, तरीका और अवधारणा की जाँच करने से बूर्जुआ और मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के बीच द्विभागीकरण का सुझाव प्राप्त होता है। पूँजीवादी संग्रहण की ओर ध्यान देने से राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार के मुद्दों की अनुमति मिल जाती है। पूँजीवादी संग्रह के अध्ययन के साथ-साथ उत्पादन के पूर्व पूँजीवादी तथा पूँजीवादी तरीकों पर जोर देने से उस जाँच का एकीकरण हो सकता है जो अभी तक राजनीतिक और सैद्धान्तिक अधिश्चना के मुद्दों के अध्ययन के लिए राजनीतिक वैज्ञानिकों तथा समाज के सामग्री आधार के बारे में प्रश्नों की खोज-बीन करने के लिए अभी तक अर्थशास्त्रियों का नेतृत्व करती रही है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि अर्थशास्त्रियों को साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों से और राजनीतिक वैज्ञानिकों को राज्य तथा वर्ग सिद्धान्तों से निपटने की चिन्ता करनी चाहिए। इन सभी चिन्ताओं को राजनीतिक अर्थशास्त्रियों द्वारा समेकित करना चाहिए। समाधान है अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्गठन तथा राजनीतिशास्त्र का राजनीतिक अर्थव्यवस्था के साथ फिर से गठन करना।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था, बुनियादी तौर पर पूँजीवाद के व्यापक ऐतिहासिक विस्तार विशेषकर पिछले सौ वर्षों की अवधि का ध्यान रखना चाहिए। मार्क्स ने दास कैपिटल में इस प्रकार के अध्ययन के लिए हमें आधार दिया है। पॉल स्वीजी ने *द थ्योरी ऑफ कैप्टीलिस्ट डेवलेपमेंट* और अर्नेस्ट मानडेल ने *मार्क्सस्ट इकोनामिक्स थ्योरी* में मार्क्स के तथ्यों की व्याख्या की है और आर्थिक पंचदशियों के बारे में विशेष जानकारी दी है। स्टेनली डब्ल्यू मूर ने *द क्रिटिक ऑफ कैप्टीलिस्ट डेमोक्रेसी* में राजनीतिक शाखा विस्तारों की ओर ध्यान केन्द्रित किया है।

मानडेल के पूँजीवाद में मार्क्स की परम्परा में सिद्धान्त और इतिहास को समेकित करने का प्रयास किया गया है। इसमें द्विधात्मक रूप से आमूर्त से मूर्त की ओर इसके विपरीत हिस्सों से समग्र की ओर पुनः अतीत की ओर, विरोधाभास से समग्रता की ओर पुनः विरोधाभाव की ओर जाने का सिलसिला मौजूद है। सामीर अमीन ने *एक्यूमूलेसन ऑन ए वर्ल्ड स्केल* में सिद्धान्त को इतिहास के साथ सयोजित किया है। उसने एक बात पर जोर दिया है कि सामयिक विश्व के सभी विधियों और संरचनाओं में विश्व स्तर पर एक संग्रहित रूप प्रतिबिम्बित होता है। पूँजीवादी तथा गैर पूँजीवादी विश्व बाज़ार अलग नहीं है क्योंकि एक विश्व बाज़ार था जिसमें पूर्व समाजवादी देशों में आंशिक रूप से हिस्सा लिया था। इतना ही नहीं पूँजीवाद एक विश्व प्रणाली है, राष्ट्रीय पूँजीवादियों का मिश्रण नहीं।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था का समग्र रूप उपलब्ध कराने के लिए किए गए अन्य प्रयासों में पैरी अंडरसन का *पैसेज फ्रॉम एन्टीक्वीटी टू फ्यूडलिज्म* तथा *लिनिमेज ऑफ द एबसोल्यूट स्टेट* शामिल है। उन्होंने यूरोपीय सामन्तवाद तथा पूँजीवाद की राजनीतिक अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन किया। इमैन्युअल वालरस्टीन ने *द माडर्न वर्ल्ड सिस्टम* में पूँजीवादी विकास तथा कम विकास के आन्द्रे गुन्देर फ्रैंक के सिद्धान्त का विस्तार किया तथा बाज़ार संबंधों पर जोर दिया।

अन्य विचारकों में से चार विचारकों - मानडेल, आमीन, एन्डरसन और वैलटस्टीन ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था के इतिहास में दिलचस्पी को पुनर्जीवित किया। इसने अधिकांश सामयिक अर्थशास्त्रियों और राजनीतिशास्त्रियों द्वारा उपेक्षित पुराने मुद्दों का अनवीकरण करके नए मुद्दों को उभारा। इन चारों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी परम्परा से विचार ग्रहण किए और अपने बहुमूल्य योगदानों से उसे समृद्ध किया। मानडेल ने स्पष्ट किया समूची पूँजीवादी प्रणाली उत्पादकता के विभिन्न स्तरों की क्रम परम्परा की संरचना है तथा राज्यों के असमान तथा सम्मिलित विकास, धर्मों, उद्योगों तथा फर्मों की शाखाओं का प्रतिफल है जो अत्यधिक लाभ प्राप्त करने की तलाश से परिलक्षित हुआ है।

इस व्यवस्था में एकता को एकरूपता के अभाव में रहना; विकास को कम विकास के साथ अत्यधिक मुनाफे को गरीबी के साथ-साथ रहना पड़ता है। इन विभिन्नताओं की स्थिति में निरंतर चरणों की विशेषताएँ उच्चतर चरणों के साथ सम्मिलित होकर परस्पर विरोधी स्वरूप को जन्म देती है और पिछड़े वर्ग के लोगों के सामाजिक विकास में गुणात्मक उछाल लाने में सहायक होती है। ब्रेनेर ने इस दृष्टिकोण की आलोचना की है क्योंकि उसके विचार में उसने उत्पादन और वर्ग संघर्ष के संबंधों की उपेक्षा की है। उसने इस पर संदेह व्यक्त किया है कि क्या विश्व व्यापी संग्रह की समस्याओं के संदर्भ में राष्ट्रीय समाधान अपनी प्रमुख भूमिका निभा पाएगी।

3.3 राजनीतिक अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण मुद्दे

पूँजी संग्रह और विकास तथा कम विकास के सिद्धान्तों के संबंध में ऐतिहासिक अध्ययनों के अतिरिक्त पूँजीवाद तथा निर्भरता के इतिहासों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की विशेषता के बारे में जाँच कर लेना उपर्युक्त है।

यह तुलनात्मक राजनीतिक अर्थव्यवस्था की पूरक चिन्ताओं जैसे राज्य तथा वर्ग की समीक्षा करने के लिए लाभकारी होगा। पूँजीवाद तथा निर्भरता के सिद्धान्तों के साथ हम राज्य तथा वर्ग के बुर्जुआ तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बीच अंतर कर सकते हैं।

निम्नलिखित विचार-विमर्श विचार की प्रमुख रेखाओं की आलोचनात्मक जाँच करने में सहायक होगा। (1) साम्राज्यवाद तथा निर्भरता (2) राज्य तथा वर्ग।

3.3.1 साम्राज्यवाद और निर्भरता

पूँजीवाद का मूल यूनान तथा रोमन साम्राज्यों के काल से देखा जा सकता है। तब से सोलहवीं और सत्तहवीं शताब्दियों के "पुराने" व्यापारिक स्वरूप तथा उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दियों के "एकाधिकारवादी" नए स्वरूप तक देखा जा सकता है। नव साम्राज्यवाद के दो दृष्टिकोण प्रतिस्थापित किए गए हैं। एक मूल तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण में बतलाया गया है कि साम्राज्यवाद विस्तार पाते हुए पूँजीवाद का एक परिणाम है जो उत्पादन के पूँजीवादी तौर तरीकों के विरोधों के कारण अनिवार्य रूप से सामने आया। दूसरा - उदारवादी तथा गैर मार्क्सवादी दृष्टिकोण। इसमें तर्क दिया गया कि पूँजीवादी असमानताओं की आसानी से तालमेल किया जा सकता है।

हाब्सन, कौत्सिकी, सोमपितर और गालतुत्र के सिद्धान्तों ने पूँजीवाद के उदारवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया। हाब्सन ने दलील दी कि आवश्यकता से कम खपत ही साम्राज्यवाद का कारण है। ब्रिटेन में घरेलू खपत बढ़ाने के बाद विदेशी बाज़ार में विस्तार करने की जरूरत नहीं होगी।

कौत्सिकी जर्मन समाजवादी डमोक्रेट ने महसूस किया कि पूँजीवाद के वर्ग संघर्ष सुधार के शांतिपूर्ण तरीकों के जरिये समाप्त कर लिए जाएँगे और पूँजीवादी वर्ग के हित, कुल मिलाकर उस शक्तिशाली पूँजीवादियों के अल्पसंख्यक वर्ग से टकरा जाएँगे जिसने साम्राज्यवादी विस्तार की वकालत की है।

सोमपितर ने इस बात पर जोर दिया कि साम्राज्यवाद पूर्व पूँजीवादी का रूप है जो पूँजीवाद के तर्क संगतति प्रगतिशील युग में विलुप्त हो जाएगा। गालतुग ने साम्राज्यवाद के संरचनात्मक सिद्धान्त का प्रस्ताव किया जिसको आज के गैर-मार्क्सवादी लोगों में व्यापक स्वीकृति मिली हुई है।

लक्जमबर्ग, लेनिन, बुरवारिन, बारान, स्वीजी तथा मैगडौक को साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिनिधि माना जा सकता है। रोजा लक्जमबर्ग ने सतत् पूँजी संग्रह के रूप में पूँजीवाद के सिद्धान्त की परिकल्पना की और पिछड़े वर्ग की अर्थव्यवस्था में पूँजी के प्रवेश की जाँच की।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवादी का उच्चतम चरण माना। उसने बड़े बड़े औद्योगिक घरानों तथा शक्तिशाली घरानों में बड़े-बड़े बैंकों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उत्पादन के तेज़ी से केन्द्रित होने के बारे में अध्ययन किया। लेनिन की दृष्टि में साम्राज्यवाद एकाधिकार वाले पूँजीवाद का लगभग समानार्थक था। उसने आधुनिक पूँजीवाद को पहले की शताब्दियों के व्यापारिक तथा मुक्त व्यापार उपनिवेशवाद से अलग बताया। बुखारिन ने भी साम्राज्यवाद को वित्त पूँजी के प्रभुत्व में बताया। उसने कहा कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अग्रिम चरण है। न तो विजय से और न ही अकेले राजनीतिक प्रभुत्व के साथ तुलना की जानी चाहिए।

साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त के बारे में पॉल बारान तथा पॉल स्वीजी हिलफार्डिंग, लक्जमबर्ग तथा लेनिन से प्रभावित हुए थे उन्होंने पूँजी अधिशेष के उत्पादन तथा निपटान पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने बड़े बड़े निगमों तथा उसके प्रबंधकों की भूमिका का आकलन किया। एकाधिकार तथा कुलीन व्यवस्था को साम्राज्यवाद के लिए उत्तरदायी बताया। हैरी मैगडॉफ में अमरीकी विदेशनीति की रूपरेखा का विश्लेषण किया उसने विश्वभर में अमरीकी राजनीति तथा सैनिक उपस्थिति और अमरीकी सहायता तथा व्यापार नीतियों की प्रभुत्वपूर्ण स्थितियों की अमरीकी साम्राज्यवाद के विस्तार रूप लेने की विशेषता बतलाया।

मार्क्सवादी तथा गैर मार्क्सवादी दोनों ही प्रकार के लेखकों ने निर्भरता के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। राउलप्रेविस तथा, अर्थशास्त्रियों के वर्ग ई. सी. एल. ए. (दी यू.एन. कमिशन ऑन लेटिन अमेरिका) विचारधारा के अर्थशास्त्री निर्भरता के राष्ट्रवादी ग्रुप का प्रतिनिधित्व

करते हैं। ओसबालदो, सुनकेल, चैलसो- फरतादो, पाठलो गोनजालेज, कासानोवा तथा फौकोइम-पैराक्स भी गैर-मार्क्सवादी, निर्भरता सिद्धान्त पीढ़ियों के राष्ट्रवादी ग्रुप के हैं।

निर्भरता की एक अन्य प्रवृत्ति मार्क्सवादी दृष्टिकोण को परिलक्षित करती है। लेनिन ने साम्राज्यवाद के बारे में अपनी कृति में निर्भरता के बारे में लिखा। ट्रास्किने ने गिलविल फ्रान्डीजी और अन्य लैटिन अमरीकी लेखकों को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निर्भरता के बारे में लिखने के लिए प्रेरित किया। थियोडोसिअस दास सान्तोष तथा एक अन्य ब्राजीली विचारक रुई मानरो मारिनी ने पूँजीवाद के अपने मार्क्सवादी सिद्धान्त तथा साम्राज्यवाद के अपने लेनिनवाद सिद्धान्त में निर्भरता को समाहित करने का प्रयास किया। एफ. हैनरिक कारदोसो ने निर्भरता के उत्तराधिकार, निर्भरता की मार्क्सवादी व्याख्या की है।

निर्भरता के बारे में अन्य कृतियाँ, जैसे पॉल बारन, पॉल स्वीजी तथा आन्द्रे गुन्देर, फ्रैंक की कृतियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी दायरे में आती हैं। इन्होंने लेनिन को अद्यतन करने और निर्भरता की विशेषताओं की अपनी स्वतंत्र, व्याख्या करने की कोशिश की। निर्भरता सिद्धान्त के बारे में बाद के अनुभाग में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

3.3.2 राज्य और वर्ग के सिद्धान्त

वर्तमान उदारवादी अवधारणा में राज्य को राजनीतिक बाज़ारस्थान के रूप में बताया गया है। जिसके माध्यम से प्रतिस्पर्धी ग्रुपों तथा व्यक्तियों की माँगों तथा हितों के बारे में विचार व्यक्त किए जाते हैं तथा उन पर अमल किए जाते हैं। इस संबंध में दो विचार प्रस्तुत किए गए हैं। एक ओर राज्य की तटस्थ एजेन्सियाँ उस संघर्ष में मध्यस्थता करती हैं जो पार्टी तथा ग्रुप प्रतिस्पर्धा से उभरता है। दूसरी ओर राज्य एजेन्सियाँ राजनीतिक शक्ति के अड्डों के रूप में कार्य करती हैं और इन एजेन्सियों के बीच कोष के बारे में प्रतिस्पर्धा पक्षों तथा विभिन्न समूहों के संबंधों का निर्धारण करती हैं। राबर्ट डाहल ने बहुसंख्यकवादी राज्य की इन संभावनाओं की ओर ध्यान दिया है और सामाजिक वर्ग प्रवृत्तियों तथा उत्पादक बहुलवाद के संशोधित सिद्धान्त को सम्मिलित करता है।

मार्क्स ने कभी भी राज्य तथा वर्ग के बारे में सिद्धान्त पूरी तरह विकसित नहीं किया। राल्फ मिलिबैंड ने लिखा है कि राजनीति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न तथा विभिन्न खंडों की सामग्री से निर्माण अथवा पुनर्निर्माण करना होगा जोकि मार्क्सवाद को एक निश्चित संग्रह का रूप देते हैं। मार्क्स की राय में अर्थशास्त्र से राजनीति का अलगाव एक सैद्धान्तिक विकृति है क्योंकि राजनीतिक अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। अर्थशास्त्र का प्रारंभिक रूप एक प्रमुख तथा विचारोत्तरेक मार्ग निर्देश तैयार करता है न कि विश्लेषणात्मक साधारण कवच।

ऐजल्स ने *इन ओरिजन ऑफ दी फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एण्ड द स्टेट* में राज्य तथा वर्ग के बारे में मार्क्स से प्रारंभिक लेखन का संक्षिप्तीकरण किया है तथा आर्थिक कारकों के महत्व को बतलाया है। लेनिन ने *स्टेट एण्ड दि रिवल्युशन* में तर्क दिया है कि राज्य वर्ग संघर्ष के साथ समझौता नहीं करता अपितु यह सुनिश्चित करता है कि एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करे। उसने तर्क दिया राज्य की शक्ति हिंसक क्रान्ति के द्वारा

नष्ट की जानी चाहिए। वर्ग विरोधों को शान्तिपूर्ण सुधारों के जरिये हल नहीं किया जा सकता है। उसके विचार में पुलिस तथा तैनात सेना राज्य शक्ति के उपकरण है। सर्वहारा वर्ग तब तक राज्य से लड़ता रहता है जब तक की मध्यमवर्गीय लोकतंत्र को हटा कर सर्वहारा लोकतंत्र स्थापित न हो जाए। साम्यवाद के अन्तर्गत वर्गहीन समाज की स्थापना से वर्ग बिल्कुल विलुप्त हो जाता है।

सामयिक विद्वानों ने राज्य तथा वर्ग के संबंध में मार्क्सवादी विचार में तीन परम्पराओं का उल्लेख किया है। मार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में कहा है कि राज्य की कार्यकारिणी समुचे बूर्जुआ वर्ग के मामलों का प्रबंध करने वाली एक समिति है। लेनिन ने भी अपनी लेखन में राज्य के उपकरणों का जिक्र किया है। इस प्रकार राज्य प्रभुत्वशाली या सत्तारूढ़ वर्ग का एक उपकरण माना जाना चाहिए।

उपकरणवाद में ऐसे वर्ग की ओर मुख्य ध्यान दिया गया है जो शासन करता है तथा संबंधों को जोड़ता है या ऐसी व्यवस्था जो राज्य की नीतियों का सत्तारूढ़ वर्ग के उपकरणों से संबंध कायम करती है। उपकरणवाद की इस विफलता के लिए आलोचना की जाती है कि वे सामाजिक और राजनीतिक समूहों के बारे में बहुलवादी चिन्ताओं से ऊपर उठने में विफल रहता है। वह उत्पादन के माध्यमों से वर्गों को बोध रखने में भी सफल नहीं रहता है। राज्य की उपकरणवादी व्याख्या का समर्थन राल्फ मिलिबैंड तथा विलियम डोमहोफ ने किया है।

दूसरी परम्परा का प्रतिनिधित्व राज्य के संरचनावादी दृष्टिकोण द्वारा किया जाता है जिसकी फ्रांसिसी मार्क्सवादियों ने वकालत की है। निकोस पोलांजास ने इस संरचनावाद के राजनीतिक पक्ष का विस्तार से वर्णन किया है। उसने दलील दी है कि बूर्जुआ वर्ग राज्य पर प्रभुत्व रखने के लिए एक वर्ग के रूप में कार्य करने के मामले में अक्षम रहता है। राज्य स्वयं उस वर्ग के हितों को एकीकृत करता है तथा संगठन करता है। अयूसेर ने भी राज्य के संरचनात्मक दृष्टिकोण के बारे में दलील दी है।

पॉल तथा स्वीजी ने आर्थिक विरोधों को हल करने तथा संकट को टालने के मामले में राज्य की गतिविधियों पर जोर देते हुए संरचनावाद के प्रति आर्थिक पक्ष का प्रस्ताव किया। संरचनावाद की आलोचना की गई है क्योंकि वर्ग चेतना से उत्पन्न वर्ग कार्य को यह स्पष्ट नहीं कर पाता। आलोचकों ने तर्क दिया है कि संरचनात्मक विश्लेषण वर्ग संघर्ष के प्रगतिशील अभिव्यक्ति की अपेक्षा निवेशों तथा उत्पादों से आबध रहता तथा उसमें स्थिर रहने की प्रवृत्ति होती है।

तीसरी परम्परा हेजेल तथा मार्क्स से प्राप्त किए गए गंभीर परिपेक्षों में प्राप्त होती हैं। इसे हरबर्ट, मार्क्यूज तथा फ्रैंकफर्थ समूह के अन्य विचारकों ने व्यक्त किया है। इस वर्ग के विद्वान मार्क्सवाद की हेजेल की पुनर्व्याख्या का समर्थन करते हैं जोकि बहुत ही आमूर्त तथा दार्शनिक है और ठोस राजनीति से असम्बद्ध है। लेकिन मार्क्यूज 1960 के दशक में नए वामपंथी नेता के रूप में उभरा उसने राज्य की रहस्यवादिता तथा उसके सिद्धान्तों का खुलासा किया तथा अमरीकी युवाओं और छात्रों को बूर्जुआ राज्य के खिलाफ विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया।

मार्क्स तथा एंजिल्स ने राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन के बीच अंतर संबंधों को स्पष्ट करने के लिए समाज से राज्य के भेद को स्पष्ट किया। उन्होंने राज्य की शक्ति 'सुपर स्ट्रक्चर' के रूप में राजनीति को परिभाषित किया जिसमें बूर्जुआ वर्ग राज्य के उत्पादन को नियंत्रण करने वाले वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था राज्य तथा वर्ग का कोई ऐसा मार्क्सवादी उदाहरण है जिसका आज किसी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से तर्कसंगत है? हैरिंगटन ने इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया है।

मार्क्सवादी उदाहरण का उसने निम्नलिखित शब्दों में मूल्यांकन किया है: "यद्यपि यह विभिन्न सामाजिक शास्त्रों को प्रभावित करता है तथा अंतरदृष्टि में सहभागी है। तरीके तथा परिणामों दोनों ही की दृष्टि से यह भिन्न तथा संबंध दोनों हैं। यह सामयिक विश्व के बारे में सही प्रश्न खड़े करता है, यह उत्तरों को ढूँढने के लिए कुछ गंभीर तरीकों का सुझाव देता है और इसलिए यह 21वीं शताब्दी के सिद्धान्त तथा व्यवहार के संगत।"

3.4 निर्भरता की अवधारणा और पूर्वानुमान

निर्भरता की अवधारणा का लैटिन अमेरिका, एशिया और अफ्रीका में विकासशील देशों की राजनीतिक प्रणालियों के तुलनात्मक विश्लेषण में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता है। 1960 के दशक में लैटिन अमेरिका में तथा बाद में एशिया और अफ्रीका के बारे में कुछ कृतियों में इसका उपयोग किया गया। उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों ही प्रकार के लेखकों ने विकास और कम विकास के परिदृश्यों के अपने निजी विचार व्यक्त किए हैं जिनके कारण निर्भरता की प्रकृति और इसकी अवधारणात्मक पेचिदगियों के बारे में पर्याप्त सैद्धान्तिक भ्रम पैदा हुआ। यहाँ निर्भरताशब्द के विभिन्न प्रयोगों के बीच अंतर को स्पष्ट करने के लिए एक प्रयास किया जाएगा। मौटे तौर पर निर्भरता के बूर्जुआ और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के बीच अंतर करना आवश्यक है।

लेनिन ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसने निर्भरता की अवधारणा का उल्लेख साम्राज्यवाद के अपने सामान्य सिद्धान्त के हिस्से के रूप में किया। यद्यपि इसे उपनिवेशी देशों से बिल्कुल भिन्न पाया गया। परन्तु औपचारिक रूप से स्वतंत्र तथा अभिस्वतंत्र होने वाले देशों का भी अस्तित्व रहा। लेनिन ने कहा कि "ये दूसरे पर निर्भर देश वित्तीय तथा राजनयिक निर्भरता के जाल में उलझे हुए हैं।"

समसामयिक परिदृश्यों से पूँजीवादी देशों के बीच प्रभुत्व तथा निर्भरता के रूपों के बीच विरोधाभास स्पष्ट देखा गया है। पूँजीवाद या तो प्रगतिशील होता है या प्रतिगमन की ओर उन्मुख हो सकता है। निर्भर देश प्रभुत्वशाली देशों (कनाडा) के विस्तार के रूप में विकसित हो सकते हैं अथवा अपने अधीनस्थ संबंध के परिणाम स्वरूप (ब्राजील जैसे) कम विकसित रह सकते हैं।

ब्राजील के समाजशास्त्री दोस सान्तो ने कहा "निर्भरता से हमारा आशय ऐसी स्थिति से है जिसमें कुछ देशों की अर्थव्यवस्था अन्य देशों की अर्थव्यवस्था के विस्तार तथा विकास के अनुरूप आगे बढ़ती है। जिसका कि वो एक प्रकार से पीछलगू होती है। दो या

इससे अधिक अर्थव्यवस्थाओं के बीच आपसी निर्भरता का संबंध और इन देशों के बीच तथा विश्व व्यापार के संबंध उस समय निर्भरता का रूप ग्रहण कर लेता है जब कुछ देश (प्रभुत्वशाली देश) ऐसा विस्तार के प्रतिक्रिया के रूप में कर सकते हैं जो कि उनके तात्कालिक विकास पर या तो सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है।

जो लोग विकास तथा क्रम विकास के अपने विश्लेषण में निर्भरता के अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं वे भी अधीनस्थ राष्ट्रों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी प्रवेश के मसले पर केन्द्रित रह सकता है। बाह्य राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभाव का असर स्थानीय विकास पर पड़ता है और आम लोगों की कीमत पर स्थानीय सत्तारूढ़ वर्ग का सहयोग करता है।

चिली के अर्थशास्त्री ओसवालदो सुनकेल ने कहा है "विदेशी कारकों को बाह्य के रूप में नहीं बल्कि प्रणाली के अन्तर्भूत रूप में देखा जाना चाहिए जो कि कम विकसित देश के भीतर कभी-कभी छिपे हुए अथवा सूक्ष्म राजनीतिक, वित्तीय, आर्थिक, तकनीकी तथा सांस्कृतिक प्रभाव डालता है।... इस प्रकार निर्भरता की अवधारणा पूँजीवाद के युद्धोत्तर विकास से अन्तर्राष्ट्रीय रूप से विकास की स्थानीय प्रक्रिया की भेदभाव पूर्ण प्रकृति से जुड़ी होती है जैसा कि हम जानते हैं। माध्यमों तथा विकास के लाभों तक पहुँच चयनात्मक होती है उन्हें विस्तार देने के बजाय यह प्रक्रिया विशेष समूहों के लिए विशेषाधिकार के संग्रह की सुदृढ़ता को सुनिश्चित करती है तथा एक सीमान्त वर्ग के अस्तित्व को जारी रखती है।"

एफ. हैनरिक कारदोसो ने निर्भरता के बारे में साहित्य में तीन प्रकार की प्रवृत्तियों का परीक्षण किया: प्रथम, ब्राजील में स्वायत्त राष्ट्रीय विकास उभरा जो कि जिन्सों के नियंत्रित या विदेशी निवेशों के जरिये विकास के अनुरूप हुआ। कम विकसित देशों को तीन विकल्पों का सामना करना पड़ा, निर्भरता, स्वायत्तता या क्रान्ति राष्ट्रीय विकास के सामने आने वाली रुकावटों पर काबू पाने के उद्देश्य से बढ़ते हुए परिवर्तन के जरिए निर्भरता को स्वायत्ता हासिल करनी चाहिए ऐसा विचार एक ब्राजीली लेखक हेलियोजेगुआरिब का था।

दूसरी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के विश्लेषण पर इसके एकाधिकारवादी दौर पर आधारित थी। इस प्रकार के विचार पॉल बरान, पॉल स्वीजी तथा हैरी मैगडॉफ ने व्यक्त किए जो स्वतंत्र मार्क्सवादी विचारक हैं और जिनका विश्वास है सामाजिक क्रान्ति के जरिये ही निर्भरता को समाप्त किया जा सकता है। कारदोसो में तीसरी प्रवृत्ति के प्रतिनिधित्व का दावा किया जो अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों तथा तुलनात्मकों के संदर्भ में वर्ग संबंधों का आंतरिक विरोधाभासों के रूप में निर्भरता की संरचनात्मक प्रक्रिया का जिसमें परीक्षण किया गया।

बाचा ने निर्भरता को पाँच भागों में वर्गीकृत किया। पहली, वासकोनी की केन्द्र-परिधि निर्भरता की अवधारणा। दूसरी लेनिन की साम्राज्यवाद तथा निर्भरता की अवधारणा थी। तीसरी कम विकास के बारे में फ्रैंक की पूँजीवाद अवधारणा थी। चौथी अवधारणा दोस सन्तोष ने व्यक्त की जिसमें बहुराष्ट्रीय निगमों पर आधारित नई निर्भरता के बारे में विचार व्यक्त किया। पाँचवी अवधारणा कारदोसो और फैलोटी की थी जिसमें उन्होंने आंतरिक वर्ग संरचना में आन्तरिक निर्भरता का उल्लेख किया।

ओ. ब्रियेन ने निर्भरता की तीन अवधारणाओं को मान्यता दी। ई.सी.एल.ए. का संरचनावादी विश्लेषण जिसे सुगकेल और फरतादो में व्यक्त किया था। दूसरा था मार्क्सवादी निर्भरता सिद्धान्त जिसके प्रतिनिधि मारिनी, दोससंतोष तथा फ्रैंक थे। तीसरी अवधारणा मार्क्सवादी संरचनावादी संश्लेषण के बारे में है जिसके बारे में क्यायानो, कारदोसो तथा इयानी के विचार व्यक्त किए।

चिलकोट ने निर्भरता की अवधारणाओं को चार भाग में बाँटा: (1) कम विकसित का विकास (फ्रैंक तथा रोडिनी), (2) नव निर्भरता (दोससंतोष), (3) निर्भरता तथा विकास (कारदोसो), (4) निर्भरता तथा साम्राज्यवाद (बारान तथा स्वीजी और क्वीयानो)

निर्भरता सिद्धान्त के संबंध में अनेक दृष्टिकोण व्यक्त किए गए हैं यहाँ जिस पहले दृष्टिकोण पर विचार व्यक्त किया है यहाँ जिस पहले दृष्टिकोण पर विचार व्यक्त किया है वह राष्ट्रीय स्वायत्त विकास पर निर्भर है। उपनिवेशवादी काल से ही लैटिन अमेरिका कच्चे माल और कृषि जिनसों के निर्यात पर निर्भर रहा है लेकिन 1929 से 1933 के दबाव वाले समय को छोड़कर इस पर निर्भर रहा है। इस अवधि में उराके निर्यात आय में कमी आई तब से स्वायत्त विकास बुद्धिजीवी तथा मध्यमवर्ग का नया नारा बन गया। पूँजीवादी राज्य के अंतर्गत राज्य का नियंत्रण तथा योजना राष्ट्रीय उद्योगों के साथ-साथ सड़को के बुनियादी ढाँचे, बिजली तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की वृद्धि में सहायता दे सकती है।

यह दृष्टिकोण साम्राज्यवाद विरोधी था और इसमें स्वतंत्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बनाने पर जोर दिया गया। इसे पहली बार अर्जेन्टीना के राउल प्रेविश के तत्वावधान में लैटिन अमेरिका (ई सी एल ए) के लिए संयुक्त राज्य आयोग से संबंध अर्थशास्त्रियों में तैयार किया। ई.सी.एल.ए. ने इस विचार को स्वीकार किया कि कम विकसित देशों की घरेलू अर्थव्यवस्था में विदेशी घुसपैठ की स्थिति में उद्योगपतियों तथा व्यापारियों का एक नया वर्ग राष्ट्रीय हितों के समर्थकों के रूप में उभरेगा। ई.सी.एल.ए. ने निर्भर देशों में विकास के प्रश्न पर साम्राज्यवाद विरोधी परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाया।

सुनकैल ने संकेत दिया कि कम विकसित देश आन्तरिक उपनिवेशवाद से भी परेशान हैं। आश्रित देशों में लोग अपने ही यहाँ के जमींदारों और पूँजीपतियों के शोषण से परेशान हो जाते हैं जो कि विदेशी पूँजीवादी के सहयोगियों के रूप में काम करते हैं। विपन्न अवस्था से गुजर रही अर्थव्यवस्था में गरीबी और पिछड़ापन और बढ़ जाता है तथा उत्पादकता और कम हो जाती है।

आंतरिक उपनिवेशवाद विकास के ध्रुवों का सिद्धान्त है यह सिद्धान्त मुख्य रूप से असमान विकास से संबंध होता है जो एक ही देश के अंदर मौजूद क्षेत्रों तथा देशों के बीच साफ तोर पर पाया जाता है। इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया जाता है कि कम विकसित अर्थव्यवस्थाएँ परिवहन तथा संचार के बुनियादी ढाँचे के अभाव से ग्रस्त रहती हैं। द्वैध अर्थव्यवस्था द्वारा पैदा हुआ असंतुलन कम विकसित देशों के लिए पूँजी और प्रौद्योगिकी का विस्तार करके कम किया जा सकता है।

कारदोसों ने दलील दी कि पूँजीवादी विकास निर्भरता की स्थितियों में हो सकता है। विकासशील देशों में यह एकाधिकारात्मक विस्तार का एक नया रूप बन गया है। यह विकास स्थानीय जमींदारों तथा पूँजीवादी वर्ग समेत अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी से संबंध सभी वर्गों को लाभ पहुँचाता है। यह नए प्रकार की निर्भरता है जो विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की बढ़ती हुई शक्ति से पैदा होती है। इन दशाओं में सैनिक हस्तक्षेप तथा शासन की आवश्यकता आ जाती है।

अनेक मार्क्सवादी विचारक एकाधिकार पूँजीवाद द्वारा विकासशील देशों के दबदबे का चित्र करते हुए निर्भर देशों के कम विकास के बारे में स्पष्ट करते हैं। ये लेखक तर्क देते हैं कि आज निगमित पूँजी ने निर्भर देशों में प्रभुत्व के उपकरण के रूप में वित्त पूँजी का स्थान ले लिया है। बारान तथा स्वीजी ने नए दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में अमेरिका की स्थिति पर गौर किया लेकिन उनके निरीक्षणों से विदेशी प्रभाव को समझने में हमें सहायता मिलती है, केन्द्र का एकाधिकार सम्पन्न पूँजीवादी विश्व के कम विकसित देशों पर अपना प्रभाव डालता है। समीर अमिन ने केन्द्र तथा निर्भरता का अपेक्षाकृत अधिक गहराई से विश्लेषण किया।

मारिनी ने ब्राजील में पूँजीवादी विकास के संबंध में उपसाम्राज्यवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया उसने ब्राजीली पूँजीवाद को अत्याधिक शोषण करने वाला बताया जिसमें तेजी से इकट्ठा होने वाली धनराशि उत्पादन के साधन के स्वामियों को लाभ पहुँचाती है और जनसाधारण की बिल्कुल गरीबी की स्थिति में धकेल देती हैं। आन्तरिक उपभोक्ता बाजार के विलुप्त होने और अधिशेष में कमी की स्थिति आने से ब्राजील की अर्थव्यवस्था 1964 में गतिरोध के भंवर में जा पहुँची। इस संकट में उबरने के लिए वहाँ के सैनिक शासन को बाध्य होकर उपसाम्राज्यवाद का एक मात्र सहारा लेना पड़ा। मारिनी ने अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के साथ संबंध को देखते हुए निर्भरता तथा कम विकास की स्थिति से बच निकलने का विश्लेषण किया उनके दृष्टिकोण में मार्क्सवादी साम्राज्यवादी ढाँचे के साथ निर्भरता का परिप्रेक्ष्य हुआ था।

आन्द्रे गुन्देर फ्रैंक ने निर्भरता के सिद्धान्त के लिए एक अन्य ढाँचा उपलब्ध कराया। उसने आर्थिक माध्यम के रूप में सामंतवाद तथा पूर्व पूँजीवादी स्वरूपों के स्थान पर व्यापारिक एकाधिकारों पर जोर दिया ताकि राष्ट्रीय और क्षेत्रीय एकाधिकार वाले वर्ग आर्थिक उपकेन्द्रों से उपयुक्त अधिशेष का अधिशोषण कर सकें। इस प्रकार विश्व स्तर पर पूँजीवाद निर्भर उपकेन्द्रों तथा कम विकसित केन्द्रों की कीमत पर विकासशील एकाधिकारों को बढ़ावा देता है। ई.सी.एल.ए. संरचनावादी दृष्टिकोण से प्रभावित था तथा विकास के परम्परागत दृष्टिकोणों पर उसकी तीखी प्रक्रिया होती थी। महानगरों तथा उपकेन्द्रों की फ्रैंक की द्वैध व्यवस्था में केन्द्र तथा अन्य स्थानों के लिए इ. सी. एल. ए. फारमूला का अनुसरण किया। लेकिन फ्रैंक ने स्वायत्त राष्ट्रीय पूँजीवादी विकास के लिए इ. सी. एल. ए. के सुझावों को अव्यवहारिक बताते हुए आलोचना की इससे उसे पूँजीवाद विरोधी तथा मार्क्सवादी के रूप में माना जाना लगा। फ्रैंक ने रोस्तोव और अन्य विचारकों के चरणबद्ध सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। उसने पूँजीवाद के इतिहास को निर्धारण करने वाले फार्मूले के रूप में कट्टरवादी मार्क्सवादी सिद्धान्त की भी आलोचना की।

फ्रैंक का मार्क्सवाद पॉल बारान की कृतियों से प्रभावित था और बारान, स्वीजी तथा अन्य विचारकों के प्रयास से मूल तथा कल्पनात्मक विचारों को मार्क्सवादी परम्परा के दायरे में रखा उसने द्वैध समाज की अवधारणा को उचित नहीं ठहराया। उसने ऐसे पूँजीवाद के प्रति तीव्र विरोध प्रगट किया जो कम विकास की ओर ले जाता है।

दोससंतोस ने तीन प्रकार की निर्भरता को रेखांकित किया है।

1. औपनिवेशिक निर्भरता जिसका तात्पर्य व्यापार का एकाधिकार तथा भूमि का एकाधिकार तथा उपनिवेशों ने खानों तथा श्रम शक्ति का एकाधिकार।
2. वित्तीय औद्योगिक निर्भरता जिनका तात्पर्य केन्द्रों की सांठगांठ द्वारा पूँजी का प्रभुत्व कच्चे माल तथा खाद्य उत्पादों के दायरे में पूँजी का निवेश।
3. नई निर्भरता जिसमें निर्भर देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा निवेश जो कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उभरा था।

नए निर्भरता के सिद्धान्त के प्रयासों से यह स्पष्ट हुआ कि प्रभुत्वशाली देशों के प्रति निर्भर देशों का संबंध तब तक नहीं बदल सकता जब तक की वे घरेलू ढाँचे और विदेशी संबंध को न बदलें। निर्भरता की संरचना आश्रित देशों को कम विकास की ओर ढकेल देती है क्योंकि बहुराष्ट्रीय निगम पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं से और ज्यादा अवशेष मूल्य निचोड़ लेते हैं।

3.5 निर्भरता सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

जिन विभिन्न दृष्टिकोणों पर ऊपर विचार किया गया है उससे स्पष्ट है कि निर्भरता का कोई एकीकृत सिद्धान्त नहीं है। इन दृष्टिकोणों का विश्लेषण करते हुए निम्नलिखित प्रयास किया गया है।

इ.सी.एल.ए. अर्थव्यवस्थाओं के केन्द्र परिधि विश्लेषण में अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के प्रति कम विकास के बारे में सही आंकलन किया गया है और इस प्रकार निर्भरता सिद्धान्त का बुनियादी मूल्यांकन किया गया है। हालाँकि इसमें प्रभुत्वशाली देशों की नीतियों और उनकी जरूरतों की बहुत बारीकी से जाँच नहीं हो पाई है। इसमें परम्परागत या सामंतवादी कारकों की तुलना में पिछड़ेपन को गलत तरीके के कारण माना गया है। और यह स्वीकार किया गया है कि प्रगतिशील राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने में सक्षम है।

सुनकेल और फरतादो ने प्रेविस की नीति को संशोधित किया और आंतरिक उत्पादन के परिवर्तनों पर मुख्य रूप से ध्यान दिया ताकि निर्भरता की व्यवस्था को समाप्त किया जा सके साथ ही बहुराष्ट्रीय निगमों के ढाँचे में परिवर्तन का प्रयास किया गया है जो कि अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाता है। इस बारे में उनके सुझाव थे: (1) किसानों को भूमि का पुनर्वितरण तथा (2) भारी उद्योगों को लगाना, (3) निर्यात उद्योगों को बढ़ावा

देना, (4) संयुक्त राष्ट्रीय तथा बहुराष्ट्रीय उद्यम लगाना। इनमें से अधिकांश नीतियों पर या तो अमल नहीं किया गया या इनमें से निर्भरता की वास्तविकता पर परिवर्तन नहीं लाया जा सका।

निर्भरता के अन्य विचारकों का विश्वास था कि स्वतंत्र पूँजीवादी विकास संभव नहीं है और इसलिए इसके बदले में राजनीतिक अर्थव्यवस्था के साथ-साथ सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था और प्राकृतिक संसाधनों के सघन उपयोग के साथ-साथ समाजवाद को अवश्य लागू किया जाना चाहिए। हालाँकि समाजवाद के लिए कोई लोकप्रिय आन्दोलन नहीं किया गया।

कुछ अन्य दृष्टिकोण भी अपर्याप्त अवधारणाओं के कारण आगे नहीं बढ़ सके। कासानोवा के आन्तरिक उपनिवेशवादी मॉडल में बाह्य स्थितियों की अपेक्षा राष्ट्रीय दशाओं पर अधिक जोर दिया गया है इसमें उत्पादन के संबंधों तथा एकाधिकार पर सही ढंग से जोर दिया गया है। हालाँकि आन्तरिक उपनिवेशवाद के स्वरूपों पर जोर देना भ्रामक हो सकता है। सीमान्त लोगों को मिलाजुलाकर एक सामूहिक समाज का राष्ट्रीय पूँजीवादी वर्ग का रूप दिया जाना असंभव है। निर्भरता में स्वायत्त विकास एक अवास्तविक प्रस्ताव है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद इस स्थिति को लाने नहीं देगा।

निर्भरता के मार्क्सवादी साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोणों ने केन्द्र तथा परिधि के बीच संबंधों पर नई रोशनी डाली है उनकी चिन्ताएँ एकाधिकारों पर आधिपत्य प्रभाव को लेकर है जिसकी नीति वैश्विक विस्तार की ओर अभिमुख है। श्रमिकों तथा किसानों के शोषण के जरिये परिधि में विस्तार करके विरोधों में कमी लाई जा सकती है। परिधि की ओर जब विरोधों का स्थानांतरण होता है तो निगम एकाधिकार पूँजीवाद में निर्णायक हो जाते हैं। बारान तथा स्वीजी ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है कि निगमित पूँजी ने अब बैंक पूँजी का स्थान ले लिया है और वहीं नियंत्रक उद्योग का मुख्य माध्यम बन गई है।

मारीनी की उपसाम्राज्यवादी विचारधाराओं की ओर हालाँकि कम ध्यान गया है लेकिन कम विकास के बारे में फ्रैंक के सिद्धान्तों ने कई सिद्धान्तों को प्रभावित किया है तथा कई आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। ऐसा कहा जाता है कि फ्रैंक के सिद्धान्त में वर्ग संरचना का जो वर्णन किया गया है वह पूरी तरह से क्रमबद्ध नहीं है। निर्भरता के बारे में एक अन्य आलोचना यह भी की जाती है कि एक समेकित तत्व की अपेक्षा परिधि की ओर बाह्य निर्भरता बढ़ा दी जाती है। एक आलोचक ने यह भी बताया है कि निर्भरता के बारे में फ्रैंक का सिद्धान्त गतिशील नहीं है और इसमें परिवर्तन करना कठिन है। आरनेस्तो लैकालो ने तर्क दिया है कि फ्रैंक का सिद्धान्त मार्क्सवाद की कठोरता से अलग हट गया है। उदाहरण के लिए उसने सामंतवाद और पूँजीवाद को सामाजिक प्रणालियों के रूप में पारिभाषित किया है, उत्पादकों के तरीकों के रूप में नहीं। इस प्रकार सामंतवाद और पूँजीवाद के बीच संक्रमण के विभिन्न रूपों का पता लगा पाना दुश्कर है। एक अन्य आलोचक ने कहा है कि फ्रैंक ने इस बात पर जोर दिया है कि सोलहवीं शताब्दी से समुचे लैटिन अमेरिका में पूँजीवाद का वर्चस्व रहा है। उसकी यह उक्ति मार्क्स की पूँजीवाद की धारणा से भिन्न है।

उसकी आलोचना की व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है। “निर्भरता के सिद्धान्त की आलोचना में परम्परावादी तथा रूढ़िवादी लेखकों की व्याख्या में अवधारणात्मक स्पष्टता का अभाव एक जैसे परिलक्षित होता है। इस प्रकार के लेखकों में भेद स्पष्ट है। निर्भरता के बारे में रूढ़िवादी तथा बूर्जुआ दृष्टिकोण में प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी के संदर्भ के दायरे में राष्ट्रीय पूँजीवाद के निर्माण के प्रति प्रायः चिन्ताएँ व्यक्त की जाती हैं एक राष्ट्रीय बूर्जुआ राष्ट्र के सहयोग से विकास की ओर बढ़ते हुए राष्ट्र के हित को प्रोत्साहन देगा। रूढ़िवादी अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण में उत्पादन के साधनों के पूँजीवादी स्वामियों के सहयोग देने के लिए श्रमिकों के संघर्ष के प्रति निर्भरता को समाप्त करने तथा समाजवाद को समाप्त करने की बात कही गई है जो लोग निर्भरता के साथ मार्क्सवाद के सिद्धान्त को जोड़ने का प्रयास करते हैं उसके लिए भी साम्राज्यवाद एक चिन्ता का विषय है”। निर्भरता की संरचनाओं पर काबू पाने के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक साम्राज्यवाद को समाप्त किया जाए।

3.6 विश्व व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद

मार्क्स और लेनिन तथा उसके अनुयायियों ने अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में व्यवस्था की कल्पना की। राबर्ट बुथनॉव ने इस विषय को एक लेख में विकसित किया जिसका शीर्षक है “द माडर्न साइंस एण्ड वर्ल्ड सिस्टम” जो 1979 में *थ्योरी एण्ड सोसाइटी* नामक जनरल में प्रकाशित हुआ। बुथनॉव ने तर्क दिया कि आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी में विकास ने एक अंततः ही समेकित विश्व प्रणाली को तैयार किया है।

इमैन्युअल वालरस्टीन ने *माडर्न वर्ल्ड सिस्टम* नामक पुस्तक में पूँजीवादी कृषि तथा सोलहवीं शताब्दी में यूरोपीय विश्व अर्थव्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में विचार प्रस्तुत किया अपनी भूमिका में उसने पहले के राजनीतिक परिदृश्य की कठिनाइयों पर विचार व्यक्त किया। उसने प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य या राष्ट्रीय समाज पर पहले की तरह अपना ध्यान केन्द्रित करना छोड़ दिया। इस संबंध में उसने तर्क दिया “इनमें से कोई भी सामाजिक प्रणाली नहीं थी ... कोई व्यक्ति सामाजिक प्रणालियों ने सामाजिक परिवर्तन के बारे में बोल सकता था। इस योजना में एक मात्र प्रणाली थी विश्व प्रणाली”। वास्तव में इमैन्युअल वालरस्टीन ने विभिन्न विषयों की सीमाओं को पार करने का प्रयास किया क्योंकि उसने एक वर्णन करने वाले दृष्टिकोण का ही “*unidisciplinary*” उपयोग किया। इस प्रकार उसने सभी सामाजिक शास्त्रों को एक ऐतिहासिक सम्पूर्ण समाज के परिप्रेक्ष्य के रूप में सम्मिलित किया।

सामिर आमिन ने अपनी पुस्तक *इक्युमिलेशन आन ए वर्ल्ड स्केल* में ही इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया और मार्क्सवादी ढाँचे का पूरी तरह उपयोग किया गया तथा सूझ बूझ का एक मौलिक प्रतिमान बनाया। वालरस्टीन की ही तरह सामिर आमिन भी ऐतिहासिक और समग्र परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखने वाला व्यक्ति था और उसने भी अपने सिद्धान्त को विकसित तथा प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रीय प्रणाली तथा सामाजिक प्रणालियों के दायरे को पार करने का प्रयास किया। इस प्रकार सामिर आमिन ने घोषणा कि “एक पूँजीवाद तथा एक अन्य समाजवाद जैसी दो विश्व बाज़ार की व्यवस्था नहीं है बल्कि

केवल एक है ... पूँजीवादी विश्व बाज़ार" विश्व स्तर पर संग्रह के बारे में उसका सिद्धान्त विश्व प्रणाली के केन्द्र तथा परिधि के बीच पूँजीवादी संरचनाओं एक सिद्धान्त है।

इमैन्युअल वालरस्टीन ने आर्थिक संरचनावाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था में वर्ग की अपनी अवधारणा को विकसित किया उसके तर्क को निम्नलिखित संक्षिप्त शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है - वर्ग एक ऐसी अवधारणा है जो कि ऐतिहासिक पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था से अथवा आधुनिक विश्व प्रणाली से जुड़ा हुआ है।

इस विश्व व्यवस्था में तीन आधारभूत तत्व शामिल हैं: (1) एकल बाज़ार, (2) राज्य संरचनाओं की एक श्रृंखला जिसे राष्ट्र कहते हैं और जो बाज़ार के काम-काज को प्रभावित करता है, और (3) मुख्य भीतरी भाग, अर्ध परिधि से और परिधि इन तीनों के स्तर जिनमें अतिरिक्त श्रम का विनियोग किया जाता है। इन तीनों स्तरों के संबंध में वर्ग संघर्ष बढ़ता है।

वालरस्टीन का कथन है "जो शीर्ष पर हैं जो अपने विशेषाधिकार को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से तीनों स्तरों के अस्तित्व को सुनिश्चित रखना चाहते हैं जबकि सबसे निम्न स्तर पर रहने वाले लोग तीन तथा दो स्तरों को कम करना चाहते हैं ताकि उस विशेषाधिकार को वे समाप्त कर सकें। मध्यम स्तर के अस्तित्व की यह लड़ाई लगातार राजनीतिक रूप में तथा बुनियादी सैद्धान्तिक निर्माणों के रूप में लगातार चलते रहती है।" इसी संघर्ष में वर्गों का निर्माण सुदृढीकरण, विखंडन तथा पुनर्संरचना होता है तथा इस प्रकार पूँजीवाद तैयार होता है तथा विकसित होता है।

यह बदलता हुआ संघर्ष पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में स्थित है वह इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए कहता है "पूँजीवादी अर्थव्यवस्था व्यवस्था कार्य का मुख कार्य क्षेत्र हैं जिसमें इसका ढाँचा इसका ऐतिहासिक विकास तथा इसके विरोध आदि समग्र रूप में विद्यमान रहते हैं। उस विश्व अर्थव्यवस्था की बुनियादी राजनीतिक वास्तविकता है वर्ग संघर्ष जो हमेशा रूप बदलता रहता है। छद्म वर्ग जाग्रति बनाम जातीय-राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रों के भीतर वर्ग बनाम राष्ट्रों के आर-पार वर्ग।

"सामिर आमिन की भी राय में पूँजीवाद एक ऐसी विश्व प्रणाली है जिसमें राष्ट्रीय इकाइयाँ स्वतंत्र हो सकती हैं। वर्ग उत्पादन संघर्ष और संक्रमण - इन सभी का विश्व परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण अवश्य किया जाना चाहिए। इस प्रकार पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण परिधि में शुरू होना चाहिए। "उसका कहना है कि राष्ट्रों के बीच असमानता की मौजूदा दशाओं के अंतर्गत, एक विकास जो अवर विकास का महज विकास नहीं है। इसलिए यह राष्ट्रीय, लोकप्रिय लोकतांत्रिक तथा समाजवादी दोनों ही हो सकता है जो कि विश्व परियोजना का गुण है जिसका की वह हिस्सा बनता है।"

अन्य मुद्दा है क्या विश्लेषण में विनिमय या उत्पादन पर विचार किया जाना चाहिए। आमिन ने उत्पादन के तरीके के रूप में अवधारणा का इस्तेमाल किया है जिससे बाज़ार बाज़ार की श्रेणियों से बाहर निकला जा सके विशेषकर जबकि विश्व प्रणाली केन्द्र तथा परिधि

पर ध्यान केन्द्रित करना हो। आमिन ने मार्क्स की परम्परा का अनुसरण किया जिसने पूँजीवादी प्रणाली में वित्तीय तथा व्यापार चक्रों द्वारा पैदा किए गए संकटों की ओर ध्यान दिया लेकिन जिसने पूँजीवाद में उत्पादक क्षमता के विकास पर भी मुख्य ध्यान दिया। आमिन ने यह भी तर्क दिया कि हम ऐसे वर्ग संघर्ष की कल्पना नहीं कर सकते जो अलग-अलग राष्ट्रीय संदर्भों में हो बल्कि हमें इस रूप में सोचना होगा कि यह विश्व प्रणाली के संदर्भ के दायरे में घटित हो रहा है। विश्व बाज़ार के साथ परिधि के एकीकरण की स्थिति में परिधि में ऐसी क्षमता और आर्थिक साधनों का अभाव है जो कि विदेशी एकाधिकारों को चुनौती दे सके। परिधि से केन्द्र की ओर मूल्य के स्थानांतरण से क्या बूर्जुआ और सर्वहारा राष्ट्रों में विश्व का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न के बारे में आमिन का उत्तर है कि आधुनिक विश्व प्रणाली में वर्ग संघर्ष केवल राष्ट्रों के भीतर ही नहीं बल्कि राष्ट्रों के बाहर भी होगा।

3.7 विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण की आलोचना

वालरस्टीन ने केन्द्र और परिधि की उस अवधारणा का विस्तार किया जिसे राउल प्रेबिस ने शुरू किया था। यह सामिर आमिन के असमान विकास के सिद्धान्त के फार्मूले के निकट पहुँचा जिसमें कि पूँजीवाद की उत्पादक प्रक्रिया के साथ-साथ बाज़ार को महत्व देने का प्रयास किया। वालरस्टीन राष्ट्रों के भीतर वर्ग को अवधारणा के बाहर बहुत अधिक जाने का भी प्रयास किया और इससे आन्तरिक उपनिवेशवाद के वर्ग विश्लेषण में कुछ समस्याओं से बचा लिया अथवा राष्ट्रीय मध्यम वर्गों की ओर ध्यान देते समय उसने विकास के प्रश्न से संबंध मार्क्सवादियों तथा गैर मार्क्सवादियों के लेखन की ओर ध्यान दिया।

टेरेन्स हापकिन्स ने तर्क दिया कि वालरस्टीन ने विश्व प्रणाली के रूप में एक वैश्विक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त उपलब्ध न हो कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास का सिद्धान्त दिया। विश्व व्यवस्था ने राष्ट्रीय मध्यम वर्गों के गठजोड़ के विपरीत विश्व पूँजीवादी वर्ग को भी सामने ला दिया। बहुराष्ट्रीय निगमों ने ऐसे राष्ट्रों के साथ-साथ विश्व प्रणाली को संगठित करने में सिद्ध हुए हैं।

वालरस्टीन के सिद्धान्त की व्यापक रूप से आलोचना की जाती है क्योंकि इसमें समसामयिक पूँजीवादी विश्व में वर्ग संबंधों का विश्लेषण करने के लिए उत्पादन के बजाय बाज़ार को आधार माना जाता है। वालरस्टीन ने अपने सिद्धान्त के समर्थन के लिए मार्क्स का उल्लेख किया और उसने अपने विचार को मैक्स वेबर के विचारों से अलग करने का प्रयास किया। संरचना के प्रति उसकी चिंता ने राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर लिया और विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की जड़ों का पता लगाने का प्रयास किया। वालरस्टीन ने निर्भरता सिद्धान्त के आयामों का फिर से निर्धारण किया इससे उदारवादी समाजशास्त्री प्रभावित हुए और उनके विकास, कम विकास, राज्य तथा वर्ग के बारे में अपने विचारों में परिवर्तन आया।

आमिन के कार्यों की आलोचना करने वालों में से ईरा गैरस्टीन भी एक है उन्होंने तर्क

दिया कि वर्ग संघर्ष तथा समाजवाद की दिशा में संभावित संक्रमण के बारे में आमिन ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें से कुछ अस्पष्ट हैं। संभवतः वे परिधि देशों के राष्ट्रीय बूर्जुआ लोगों के प्रति उनकी वचनबद्धता परिलक्षित करते हैं।

हालाँकि आमिन ने इस विचार को अस्वीकार किया है और कहा है कि केन्द्र और परिधि का द्विभागीकरण एक विभाजन से संबंध है और इसलिए बूर्जुआ और सर्वहारा देशों के बीच संभावित वर्ग संघर्ष में "बाज़ार पर उनके जोर देने से द्वैधवाद की प्रवृत्ति बढ़ी। वर्ग संघर्ष पर छद्म आवरण पड़ा और उत्पादन के संबंधों की उपेक्षा हुई और उन्हें एक संदेहास्पद विश्व विश्लेषण की ओर अग्रसर किया।"

इन आरोपों के सामिर आमिन के उत्तर में इस बात पर जोर दिया गया है कि विश्व पूँजीवादी प्रणाली विजातीय है, इसमें केन्द्रीय प्रभुत्व वाली संरचनाएँ तथा परिधि पर जोर देने वाली संरचनाएँ शामिल हैं इस ढाँचे के अन्दर वर्ग संघर्षों को राष्ट्रीय इकाइयों के संकीर्ण दायरे के भीतर नहीं समझा जाना चाहिए बल्कि इन्हें विश्व स्तर पर ही समझा जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय बूर्जुआ की ओर ध्यान संदेहास्पद है क्योंकि वे दबदबे वाले देशों के साम्राज्यवाद के प्रमुख सहयोगी हैं।

विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण में इस बात पर ध्यान दिया गया है कि (1) महानगरों तथा उपनगरों की एक श्रृंखला अमेरिका तथा यूरोप के महानगर केन्द्रों से विश्व व्यवस्था के हर हिस्से को एशिया अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के सभी पिछड़े देशों के क्षेत्रों को जोड़ती हैं और (2) युद्ध तथा अवसाद के समय उपनगरों में पूँजीवादी तरीके से कुछ स्वायत्त विकास किए जा सकते हैं परन्तु ये विकास मौजूदा पूँजीवादी विश्व प्रणाली के दायरे में किए जा सकते हैं। लेकिन मौजूदा पूँजीवादी विश्व प्रणाली के भीतर इस विकास के कम विकास के स्वरूप को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। जैसे असंतुलित या विकृत विकास हो सकता है जो कि मुख्य धारा से अलग पड़े हुए लोगों की जीवन शैली में परिवर्तन नहीं ला सकेगा।

3.8 सारांश

राजनीतिक अर्थव्यवस्था में अर्थव्यवस्थाओं और राजनीतियों के बीच अंतरसंबंधों की व्याख्या की जाती है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था अनेक चरणों से होकर विकसित हुई है: वाणिज्यवाद, जाति व्यवस्था, वर्ग राजनीतिक व्यवस्था, काल्पनिक समाजवाद, मार्क्सवाद, नव-वर्गीय अर्थव्यवस्थाएँ तथा किनेशियाई अर्थव्यवस्था।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था क्लासिकी तथा मार्क्सवादी का अध्ययन करते समय हमें परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ मिलती हैं। मार्क्स ने राज्य की अपनी अवधारणा को उत्पादन के प्रचलित तरीकों से जोड़ा है। उसके अनुसार उत्पादन के तरीके में परिवर्तन से राज्य के स्वरूप में बदलाव आता है। मार्क्सवाद ने राजनीति को एक आर्थिक आधार पर एक बहुत बढ़िया ढाँचा माना जाता है।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था में साम्राज्यवाद, विकास कम विकास राज्य तथा वर्ग जैसे मुद्दों

की व्याख्या की जाती है और उनके राजनीतिक तथा आर्थिक आयामों पर विचार किया जाता है।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण के अन्दर विकासशील देशों की व्यवस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण करते समय खासतौर से लैटिन अमेरिका में व्याप्त निर्भरता की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है। इससे इस बात पर जोर दिया गया है कि पिछड़े क्षेत्रों का कम विकास उसी पूँजीवादी विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रतिफल है जिसने प्रगतिशील क्षेत्रों के विकास को एक निश्चित स्वरूप दिया। निर्भरता को स्पष्ट करने के लिए कुछ अवधारणाओं का इस्तेमाल किया गया (1) विकास के ध्रुव, (2) आन्तरिक उपनिवेशवाद, (3) एकाधिकारात्मक पूँजीवाद, (4) उपसाम्राज्यवाद, (5) अल्प विकास का पूँजीवादी विकास और (6) नई निर्भरता।

विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण एक एकीकृत विश्व व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद की अवधारणा पर आधारित है इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि आधुनिक पूँजीवादी विश्व तीन बुनियादी विशेषताओं के आधार पर संगठित है: एकीकृत विश्व बाज़ार, राज्य संरचनाओं तथा राष्ट्रों की एक श्रृंखला जो बाज़ार के काम-काज को प्रभावित करती हैं और सबसे आन्तरिक, अर्धपरिधि तथा परिधि जैसे तीनों स्तर। वर्ग संघर्ष इन्हीं स्तरों के आपसी संबंधों के कारण उत्पन्न होता है।

उदारवादी, नव-उदारवादी, बहुलवादी तथा कार्यवादी लेखकों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण या निर्भरता की अवधारणाओं तथा विश्व व्यवस्था की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। उन्होंने ऐसी सैद्धान्तिक संरचना का नाम देकर अपने को मुक्त कर दिया है जो कि सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकताओं के पूर्णतया अनुरूप नहीं हैं।

3.9 बोध प्रश्न

- 1- तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण की मुख्य विशेषताओं की आलोचनात्मक दृष्टि से समीक्षा कीजिए।
2. निर्भरता की अवधारणा को कम विकास के कारण कम विकास के सिद्धान्त के लिए एक उपकरण मानते हुए विश्लेषण कीजिए।
3. विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण की अवधारणाओं तथा राजनीतिक विश्लेषण के लिए उनकी सार्थकता के बारे में विश्लेषण कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:
 - (क) आधार तथा उच्च संरचना (सुपर स्ट्रक्चर)
 - (ख) केन्द्र तथा परिधि
 - (ग) बहुराष्ट्रीय निगम

इकाई 4 राज्य के सिद्धान्त

संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 राज्य की अवधारणा का अर्थ

4.2.1 'राज्य' अवधारणा की व्युत्पत्ति

4.2.2 राजनीतिक दार्शनिकों के राज्य के बारे में विचार

4.2.3 राज्य कैसे स्थापित होता है?

4.3 राज्य की उत्पत्ति से सम्बंधित सिद्धान्त

4.3.1 सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त

4.3.2 ऐतिहासिक/विकासवादी सिद्धान्त

4.3.3 मार्क्सवादी सिद्धान्त

4.4 राज्य के प्रमुख परिप्रेक्ष्य

4.4.1 उदारवादी-व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य

4.4.2 समकालिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य

4.4.3 सामाजिक लोकतान्त्रिक परिप्रेक्ष्य

4.4.4 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

4.4.5 गांधीवादी परिप्रेक्ष्य

4.5 सारांश

4.6 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

राज्य राजनीतिशास्त्र की आधारभूत अवधारणा होने के कारण उसका अपना महत्व है। प्राचीन यूनान काल से अब तक राज्य की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। वास्तव में जितने सिद्धान्तवादी हुए हैं, उतनी ही इसकी परिभाषा करने का प्रयास किये गए। राज्य का अर्थ बताते हुए लगभग सभी उदारवादियों ने इसे जनसंख्या, निश्चित सीमा, प्रशासन/सरकार तथा प्रभुसत्ता के साथ सम्बंध किया। आर्थिक रूप से प्रभुत्व वाले वर्ग के हाथ में यह एक उपकरण है, जो अभाव वाले लोगों का शोषण करता है, यह बुर्जुआ लोगों के ऐसी कार्यकारिणी समिति है - जो सर्वहारा लोगों का दमन करती है, जैसा कि मार्क्स ने पूँजीवादी प्रणाली के बारे में कहा था। राज्य के बारे में अराजकतावादियों, सामाजिक लोकतान्त्रिकों तथा गांधीवादियों के अपने भिन्न परिदृश्य हैं। इस प्रकार विभिन्न राजनीतिक दार्शनिकों ने राज्य के बारे में भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में भी विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त हैं: इसी प्रकार इसकी प्रकृति और कार्यों के बारे में भी विभिन्न सिद्धान्त दिए गए हैं। राज्य की अवधारणा का समग्र रूप में समझने के लिए आवश्यक है कि इसे सभी परिप्रेक्ष्यों में जाना जाए।

4.2 राज्य की अवधारणा का तात्पर्य

4.2.1 राज्य अवधारणा की व्युत्पत्ति

राज्य (State) के अस्तित्व का तथ्य इसके नाम से भी पुराना है। राज्य के लिए प्रयुक्त होने वाला अंग्रेजी का 'स्टेट' शब्द सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में इटली में मैकियावेली के लेखों में 'स्टेटो' (Stato) शब्द के रूप में मिला (1469-1527)। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड और फ्रांस में संस्था राजनीति के अर्थ में राज्य का तात्पर्य सामान्य रूप से प्रचलित हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान 'staatkunst' शब्द जर्मन भाषा के *ragione de state* के सामानार्थक रूप में प्रयुक्त होने लगा और इसके कुछ समय बाद यह शब्द 'staatsrecht' *jus publiceum* के अर्थ में इस्तेमाल किया जाने लगा। इस प्रकार *state* शब्द का प्रयोग होने लगा।

'State' शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'statue' से हुई, जिसका अर्थ है, किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की किसी संस्था की 'position' या *standing*। अर्नेस्ट बारकर ने लैटिन शब्द *status* के अंग्रेजी के तीन शब्द दिए (i) 'estate' किसी सम्पत्ति के बारे में 'position' या 'standing' (ii) *Estate* को सामाजिक हैसियत की प्रणाली में स्तर या ग्रेड के प्राथमिक अर्थ में अथवा ऐसे ग्रेड या रैंक के संबंध में हैसियत के रूप में इस्तेमाल, और (iii) 'Estate', जैसे व्यक्ति या व्यक्तियों की किसी संस्था में निहित गौरव या शान ... प्रारंभिक रूप में अनोखी हैसियत, इस प्रकार की जो राजनीतिक और डिग्री के हिसाब से सुपीरियर या सुप्रीम हो। 16वीं-17वीं शताब्दियों के दौरान यहाँ तक कि 18वीं शताब्दी के अंतिम दिनों तक स्टेट शब्द कुछ हद *sovereign* तक अथवा/या *King* के समानार्थक समझा जाने लगा। अगर लूईस चौदहवें ने कहा "मैं स्टेट हूँ" (I am the state) तो इसमें आश्चर्य नहीं है। और इस संदर्भ में बारकर ने कहा है "क्या अपनी दृष्टि में वह लुई 14वाँ नहीं था) उसी तरह जैसे की उसकी प्रजा थी, वह व्यक्ति जो सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता होते हुए 'state' तथा *position* का उपभोग करता था क्या वह 'The State' नहीं था।"

प्राचीन यूनान में *Polis* शब्द का इस्तेमाल अथवा प्राचीन रोम में '*respublica*' अथवा पश्चिम में मध्य युग के दौरान '*commonwealth*', '*Commonweal*' *stateliness*, जैसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की संस्था प्रभुसत्तात्मक राजनीतिक स्थिति के विचार को स्पष्ट रूप से या परिभाषा की दृष्टि से समाहित नहीं करते। यही कारण है कि ये शब्द '*polis*' '*Respublica*', '*Common Weal*' का तात्पर्य शासकों के दबाव की अपेक्षा कहीं अधिक था। वास्तव में, इन शब्दों का तात्पर्य सीमा क्षेत्र के अंदर रहने वाले लोगों की संपूर्ण संस्था केवल हिस्सा बनने वाले शासकों, हालाँकि वास्तव में प्रमुख से होता था। केवल मैकियावेली के लेखों लिखित है उसके पश्चात् अन्य सिद्धान्तवादियों के लेखन में स्टेट शब्द प्रचलन में आया, शासक की स्थिति न केवल उसकी प्रजा के संदर्भ में बल्कि अंतः शासक जिस हैसियत की स्थिति को प्राप्त करने लगा। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा 19वीं शताब्दी के अधिकांश हिस्से में इंग्लैण्ड और फ्रांस में न्यायविदों के प्रयास के कारण सार्वभौम सत्ता के आंतरिक वर्चस्व तथा बाह्य स्वतंत्रता पर काफी कुछ जोर दिया जाने लगा। मताधिकार के रूप में लोकतंत्र उदार-पूँजीवादी प्रणाली से संबंध किया जाने लगा और वहाँ रहने

वाले लोगों की महान संस्था में सम्मिलित करने के लिए राज्य की अवधारणा स्वयं उदार बनती गई। बारकर ने बताया "राज्य अब सम्पूर्ण समुदाय, सम्पूर्ण वैधानिक संघ, सम्पूर्ण न्यायिक संगठन है, यह लोकतंत्र है या लोकतंत्र का परिणाम है, इसके पश्चात हमें अब स्वयं अपने ही राज्य के बारे में सोचना होगा और इसके पश्चात हमें राज्य नाम से पहले अभिहित सत्ता को "सरकार" के नाम से जानना होगा।

4.2.2 राजनीतिक दार्शनिकों के राज्य के बारे में विचार

प्राचीन तथा वर्तमान के विचारकों ने राज्य की जो विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, उन पर दृष्टिपात करने पर इस अवधारणा के बारे में उनके विचार का पता लगता है। प्लेटो (4287-348/7 ई. पू.) ने राज्य की परिभाषा करते समय बताया कि राज्य संबंधों की ऐसी परिप्रेक्ष्य है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य करता है और जहाँ शासक इन संबंधों को बनाए रखने का प्रयास करते हैं। प्लेटो के शिष्य अरस्तू (384-322 ई.पू.) ने राज्य की परिभाषा करते हुए उसे कुटुम्बों और गाँवों का ऐसा संघ बताया जो गुणों से पूर्ण जीवन बिताते हैं और एक ऐसा लक्ष्य रखते हैं जिसमें पूर्ण तथा आत्मपूर्ण अस्तित्व बना रहता है। प्राचीन रोम का एक विधिवेत्ता सिसरो (106-43 ई.पू.) ने कहा है कि राज्य लोगों का मामला है ... जो कानून तथा अधिकारों के बारे में एक सामान्य सहमति से संगठित रहते हैं और जो आपसी लाभ में सहभागी बनने की इच्छा रखते हैं। आधुनिक काल के प्रारंभ में हमारे बीच मेकियावेली (1469-1527) राज्य की परिभाषा करते हुए उसे अनेक कुटुम्बों की वैधतापूर्ण सरकार बताया है जिनका प्रभुसत्ता शक्ति के साथ समान स्वामित्व होता है। जीन बोडिन (1530-1596) ने राज्य को 'विधिवत' सरकार के रूप में परिभाषित करते हुए कहा है, अनेक परिवारों और संप्रभुता प्राप्त लोगों के आधिपत्य में हो। थॉमस हाब्स (1588-1679) राज्य के बारे में कहता है जो लोगों को अपना संरक्षण तथा उसके द्वारा और अधिक संतुष्ट जीवन प्रदान करता है। जॉन लॉक (1632-1704) कहता है। लोगों के राष्ट्र के रूप में एक होने तथा स्वयं को सरकार के अंतर्गत रखने का महान तथा प्रमुख लक्ष्य अपनी गरीबी को संरक्षित रखना। बेंथम (1748-1832) राज्य को अधिकतम संख्या की अधिकतम प्रसन्नता प्राप्त करने का साधन मानता है और इसके लिए वह सरकार के सहायक लक्ष्य निर्दिष्ट कहता है, "बहुलता, गुजारा, समानता तथा सुरक्षा। हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903) राज्य को एक प्रबंधन समिति मानता है जिसके पास नागरिकों की स्वीकृति द्वारा प्राप्त नैतिक स्वीकृति के बाहर कोई तात्त्विक प्राधिकार नहीं है। रूसो (1712-1778) राज्य के बारे में कहता है कि यह सार्वजनिक व्यक्ति, अन्य सभी व्यक्तियों के संघ द्वारा गठित पहले नगर का नाम लिया और अब रिपब्लिक या राजनीतिक संस्था का रूप लिया। इसके सदस्य इसे राज्य कहते हैं, जब यह निष्क्रिय हो, सक्रिय होने पर प्रभुसत्ता और जैसे अन्य के साथ तुलना करने पर इसे शक्ति कहा जाता है। एडमण्ड बर्क (1729-1793) राज्य की परिभाषा करते हुए इसे सभी विज्ञानों में एक भागीदारी, सभी कलाओं में भागीदारी तथा सभी गुणों में भागीदारी और सभी में पूर्णता न केवल जो जीवित है और जो मृत हैं तथा जो अभी जन्म लेने वाले हैं उनके बीच भागीदारी। हेजल (1770-1831) राज्य को एक दैवी तथा नैतिक इकाई मानता है जो सभी आध्यात्मिक वास्तविकता प्रदान करने में सक्षम हैं। जॉन स्टूवाट मिल (1806-1873) राज्य को सकारात्मक साधन मानता है जो व्यक्ति को प्रगति हासिल करने में तथा स्वतंत्रता

का आनन्द लेने में सहायता करता है। थॉमस हिलग्रीन (1836-1882) राज्य की परिभाषा करते हुए उसे व्यक्तियों की संस्था बताता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों से युक्त तथा उन अधिकारों के संरक्षण के लिए कुछ संस्थाओं से मुक्त बताता है। कार्ल मार्क्स (1818-1883) तथा फ्रैडरिक एंजल्स (1820-1895) राज्य को अर्थव्यवस्था में वर्ग प्रभुत्व का एक राजनीतिक संगठन मानता है जिसका उद्देश्य वर्तमान व्यवस्था की सुरक्षा रखना है। सभ्रांत वर्ग कुछ लोगों का बहुत लोगों पर शासन मानते हैं, यह मात्र इतिहास का तथ्य है जहाँ बहुलवादी समाज में सामाजिक व्यवस्था कायम करने के लिए उत्तरदायी है। फासीवादियों ने राज्य को आदर्श रूप दिया है और उनका विश्वास है कि इसके द्वारा कोई भी गौरव प्राप्त किया जा सकता है। श्रमिक संघवादी तथा अराजकतावादी राज्य की योग्यता पर ही संदेह करते हैं और बिना राजनीतिक दासता तथा आर्थिक शोषण के स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य की आकांक्षा करते हैं। विकासवादी समाज में राज्य के जरिये ऐसा समाजवाद लाने की आकांक्षा करते हैं जिसमें राज्य सुधार लाने वाला एक अभिकरण है।

4.2.3 राज्य कैसे स्थापित होता है?

प्रारंभ से ही राज्य में भूमि तथा लोगों का संदर्भ शामिल किया गया है। इस संदर्भ में देश, राष्ट्र, समाज तथा कोई संघ बहुत ही सामान्य शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इस तथ्य को निश्चित रूप से मान लेना चाहिए कि राज्य न तो एक देश है न ही एक राष्ट्र तथा न ही एक समाज है। प्रादेशिक राज्य उसी अर्थ में एक देश है जैसा कि स्वतंत्र देश एक राज्य होता है। हम जब भी देश के बारे में बात करते हैं तो उस संदर्भ में मिट्टी, मौसम, जलवायु, सीमाएँ तथा संक्षेप में, समस्त भूगोल इस दायरे में शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार हम देश शब्द को भौगोलिक रूप में एक विशेष स्थिति में पाते हैं। राज्य शब्द तथा देश शब्द, वास्तव में, राजनीतिक अवधारणा है। प्रत्येक राज्य एक देश होता है परन्तु देश जब तक स्वाधीन नहीं होता, वह राज्य नहीं। एक देश के सभी क्षेत्र पर अत्यधिक एकता का उपयोग करते हुए रहने वाले लोग एक राज्य हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। यदि लोगों की वह संख्या सार्वभौम है तो वह राज्य है और यदि वह किसी जनता के नियंत्रण में हैं तो वह राज्य नहीं है। राज्य में एकता भावनात्मक आधार पर होती है और उनकी एकता राज्य की इकाई में कानून के जरिये लाई जाती है। एक राष्ट्र-बाह्य तथा शाश्वत एकता है जबकि एक राज्य एक बाह्य संघ है। एक राज्य में अनेक राष्ट्र हो सकते हैं जबकि एक राष्ट्र में एक से अधिक राज्य हो सकते हैं। सुबाईन कहता है राष्ट्र संस्कृति की एकता, एक सामान्य भूमि, सामान्य भाषा तथा साहित्य के लिए वफादारी की भावना इतिहास तथा सामान्य नायकों और सामान्य धर्म की पहचान चाहता है। जबकि दूसरी ओर राज्य वैधानिक एकता और राजनीतिक सत्ता का उल्लेख करता है। मैकनवर ने कहा है कि राज्य एक समाज नहीं है, यहाँ तक की समाज का एक रूप भी नहीं है। उसके अनुसार यह एक संघ है जो समाज के लोगों के उत्कृष्ट बाह्य संबंधों का नियमन करता है। पारकर ने कहा है कि राज्य एक ऐसा राजनीतिक संघ है जिसके पास शक्ति का इस्तेमाल करने का वैधानिक अधिकार है। इस प्रकार राज्य का तात्पर्य (क) यह एक राजनीतिक वैधानिक संस्था है जो कानून तथा व्यवस्था के प्रवर्तन तथा संरक्षण के लिए जिम्मेदार है। (ख) यह भीतर

से सभी संघों से सर्वोच्च है और बाहर से किसी नियंत्रण से स्वतंत्र है और (ग) एक मात्र इसी के पास बलपूर्वक शक्ति का इस्तेमाल करने का अधिकार है।

राज्य अपनी व्यापक प्रणाली में पाया जाता है यह उन संरचनाओं में पाया जाता है जो कानून उन्हें लागू करती हैं। जैसे विधायिका, कार्यकारिणी तथा न्यायिक संस्था है। सरकार यह अफसरशाही संस्थाओं में पाया जाता है जो कार्यकारी मंत्रालय के साथ सम्बंध होते हैं। यह उन संस्थाओं में पाया जाता है जिन्हें धमकी की स्थिति में संचालन करने के लिए बुलाया जाता है जैसे सेना और पुलिस। एक प्रकार से राज्य इन सभी संस्थाओं का समग्र भाग है। राल्फ मिलिबैंड लिखता है “ये संस्थाएँ हैं : सरकार, प्रशासन, सैनिक तथा पुलिस, न्यायिक शाखा, उप-केंद्रीय सरकार और संसदीय संस्थाएँ - जो सब मिलकर राज्य बनाती है इन संस्थाओं में राज्य की शक्ति रहती है। इन संस्थाओं के जरिये राज्य का कानून आता है और भौतिक ताकत का इस्तेमाल करने का उनसे वैधानिक अधिकार मिलता है।

आज का राज्य यही है यह एक व्यवस्था है जिसे युद्ध के बाद के काल में अमरीकियों में राजनीतिक व्यवस्था बताया। युद्ध के बाद के अमरीकियों डेविड इस्टन, आलमाण्ड और पावेल तथा डहल ने राजनीतिक व्यवस्थाओं का नाम दिया है। यह एक व्यवस्था है जिसमें औपचारिक तथा अनौपचारिक राजनीतिक संस्थाएँ हैं, छोटे तथा बड़े औद्योगिक घराने तथा सांस्कृतिक तथा धार्मिक संगठन हैं। यह अन्तरकारियों की एक प्रणाली है जिसके बारे में डेविड इस्टन ने कहा था कि जिसके जरिये मूल्यों का सत्तात्मक आबंटन किया जाता है।

राज्य के प्रारंभिक काल से ही इसने साधन के रूप में कार्य किया, कुछ का पक्षपात करते हुए तथा कुछ को भयभीत करते हुए, हमेशा ऐसे हाथों में रहते हुए जो इसका नियंत्रण करते हैं। लास्की लिखता है “कोई भी व्यक्ति जो ऐतिहासिक साक्षियों की जाँच पड़ताल करता है। इस बात से इंकार नहीं सकता कि राज्य के संचालनों में पूर्वाग्रह हैं” यूनान का नगर-राज्य गुलामों के प्रति पूर्वाग्रह से युक्त था। रोमन साम्राज्य गुलामों और गरीबों के प्रति पूर्वाग्रह रखता था। मध्यकालीन विश्व ने राज्यों का उन लोगों के पक्ष में पूर्वाग्रह था जिनके पास जमीन-जायदाद का स्वामित्व था। औद्योगिक क्रान्ति के बाद राज्य उत्पादन के उपकरणों के पक्ष में पूर्वाग्रहयुक्त था और यह उनके खिलाफ था जिनके पास अपने श्रम को बेचने के सिवाय कुछ नहीं था। लास्की के तर्क को पूरा करते हुए इतना और कहा जा सकता है कि समाजवादी राज्य श्रमिकों के पक्ष में पूर्वाग्रहित है। यह बात याद रखनी चाहिए कि राज्य का औचित्य एक सेवक के हैसियत से है। यदि राज्य अपने मालिकों के हित में संचालन करता है तो यह पर्याप्त प्रमाण है कि सेवक विश्वस्त है।

4.3 राज्य की उत्पत्ति से सम्बंधित सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाते हैं इनमें दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त बल सिद्धान्त, पितृसत्ताक और मातृसत्ताक सिद्धान्त, सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त, विकासात्मक/ऐतिहासिक सिद्धान्त तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त शामिल हैं। इनमें जो प्रमुख

हैं और जिनके बारे में व्यापक विचार विमर्श किया जा रहा है उनमें राज्य की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धान्त हैं सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त और ऐतिहासिक/विकास सिद्धान्त तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त।

4.3.1 सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त की स्पष्ट तथा व्यापक अभिव्यक्ति 17वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के थॉमस हाब्स तथा जॉन लॉक तथा 18वीं शताब्दी के फ्रांस से रूसो से संबंधित हैं। इस सिद्धान्त में बताया गया है कि राज्य मनुष्य के सोच-समझ के इरादों का परिणाम है जो पूर्व नागरिक तथा पूर्व राजनीतिक अवाधि में अनुबंध/समझौते के जरिए सम्पन्न हुआ जिसे राज्य की प्रकृति कहा गया। इसलिए इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया जाता है कि एक ऐसा समय था जब कोई राज्य नहीं था और लोग प्रकृति के राज्य में रहते थे उसका तात्पर्य यह कि ऐसी स्थिति जिसमें लोग बिना कानून, बिना सत्ता तथा बिना सरकार के रहते थे। ऐसा लगता है कि हॉब्स लॉक और रूसो मानव समाज को दो युगों में विभक्त करते हैं: प्रकृति के राज्य का युग तथा राजनीतिक समाज/ राज्य का युग उन भी का कहना है कि राज्य की व्यवस्था रखने का अनुबंध प्रकृति के राज्य में रहने वाले लोगों द्वारा तैयार किया। अनुबंध का निर्णय कर लेने के पश्चात् लोगों ने प्रकृति के राज्य को छोड़ दिया राजनीतिक समाज में प्रवेश कर गए इसलिए अनुबंध विभाजक रेखा है तीनों दार्शनिकों, अनुबंधवादियों के विचार में ऐसा लगता है कि प्रकृति के राज्य में उन्होंने राज्य की आवश्यकता महसूस की इसलिए उनमें राज्य की जरूरत का अनुबंध हुआ और अनुबंध के बाद राज्य सामने आया। राज्य के प्रकट होने के पश्चात् शासक तथा शासित के बीच अन्तर किया जा सका और राज्य की सत्ता तथा राज्य की शक्ति के बारे में उसके बाद जोर दिया गया। विभिन्न मुद्दों पर अनुबंधवादियों में समझौता नहीं था। उदाहरण के लिए प्रकृति का राज्य क्या था मानव की दशा क्या थी अनुबंध की प्रकृति क्या थी, अनुबंध के बाद किस प्रकार का राज्य सामने आया ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके बारे में अनुबंधवादियों में भयंकर मतभेद विद्यमान हैं। किस बात पर वे सहमत थे वह था प्रकृति के राज्य में एक प्रकार का कानून जिसे प्राकृतिक कानून कहा गया। मनुष्यों के पास प्राकृतिक अधिकार नहीं थे परन्तु अनुबंध से बाहर निकलने के संबंध में हॉब्स ने एक सर्व शक्तिमान राज्य प्रस्तुत किया। जैसे पूर्ण प्रभुसत्ता; लॉक ने सीमित राज्य का तर्क दिया जैसे राजनीतिक प्रभुसत्ता रूसो ने सामान्य इच्छा जैसे लोकप्रिय प्रभुसत्ता के अपने सिद्धान्त पर आधारित लोकतान्त्रिक राज्य के बारे में विचार व्यक्त किया।

आलोचकों के खराब इतिहास, खराब कानून तथा खराब दर्शन के आधार पर सामाजिक अनुबंध की निन्दा की। इसे खराब इतिहास बताया गया क्योंकि अनुबंध का निर्णय कब किया गया इसका कोई प्रमाण नहीं है। खराब कानून इसलिए कहा गया क्योंकि एक बार अनुबंध बन जाने पर वह अपरिहार्य बन गया। प्रवेश की अनुमति दी गई लेकिन बाहर निकलने पर पाबंदी लगा दी गई। एकतरफा यातायात जैसे अनुबंध इसलिए कानूनी तौर पर अवैध बताया गया। जहाँ तक खराब दर्शन की बात है कि राजनीतिक चेतना कभी भी एक क्षण का परिणाम नहीं हो सकती जैसा कि अनुबंधवादी हमें विश्वास करने पर बाध्य करते हैं।

लेकिन कम से कम दो आधारों पर सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं की जा सकती: (1) राज्य को लोगों की सहमति का उत्पाद घोषित करके इसने राज्य को आधुनिक सम्पूर्ण के लिए आधार तैयार करने का काम किया (2) राज्य की उत्पत्ति का एक वैकल्पिक सिद्धान्त देकर इसने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को अविकसित कहकर उसकी निन्दा की।

4.3.2 ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक/विकासक्रम सिद्धान्त, राज्य की उत्पत्ति का उदार सिद्धान्त भी राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई इसके बारे में अपेक्षाकृत अधिक या कम एक सही स्पष्टीकरण इसके अनुसार ऐतिहासिक विकास है या क्रमिक विकास का परिणाम है। यह एक सतत विकास है हमेशा विकास की प्रक्रिया में हैं। यह वृद्धि है निर्माण नहीं। इस तथ्य को वर्गर्स ने सही तरीके से, प्रस्तुत किया है “यह राज्य मानव प्रकृति के सार्वभौम सिद्धान्तों की क्रमिक अनुभूति है ऐसा कोई एक ही कारण दूढ़ पाना व्यर्थ है जिससे सभी राज्यों की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण हो सके। विभिन्न कारणों की वजह से राज्य अस्तित्व में आया होगा। कुछ एक स्थान से तथा कुछ अन्य स्थान से संचालन कर रहे होंगे यह चाहे जो भी हो राज्य मानव का सोचा समझा हुआ सृजन नहीं है। सजग अन्वेषण की भाषा से अधिक कुछ नहीं। राजनीतिक चेतना का विकास होने में बहुत लम्बा समय लगा होगा और प्रारंभिक राज्य इस चेतना के विकास के साथ बढ़ा होगा” गार्नर ने भी तर्क दिया कि राज्य न तो ईश्वर की संरचना है न ही किसी श्रेष्ठ भौतिक शक्ति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया न ही ठोस या केवल परिवारों के विस्तार के फलस्वरूप अस्तित्व में नहीं आया। यह बिल्कुल अपूर्ण शुरुआत के सामाजिक विकास की क्रमिक प्रक्रिया का उत्पाद है। “गेटाल ने कहा है, हर अन्य सामाजिक संस्था की तरह राज्य अनेक श्रोतों से और विभिन्न दशाओं में उठा तथा लगभग अस्पष्ट रूप से यह उभरा।”

राज्य के क्रमिक गठन के लिए उत्तरदायी दो कारकों में शामिल हैं: (i) सामाजिक प्रवृत्ति ऐसी प्रवृत्ति जो मानव को समाज में रहने के लिए बाध्य करती है उसके बिना या तो वह जंगली जानवर है या देवता और जिसके जरिए मानव अपने गुणों का विकास करने में सक्षम है, (ii) रिश्ते यानि रक्त संबंध मैकलवेर ने कहा रिश्तेदारी समाज का निर्माण करती है और बदले में समाज राज्य का निर्माण करता है यह एकता का सबसे प्रमुख बंधन था। परन्तु एक मात्र सही एक कारण नहीं था जिसके कारण समाज का निर्माण हुआ। लोगों ने एक सामान्य चेतना सामान्य हित तथा सामान्य उद्देश्य रिश्ते-संबंध विकसित कर लिए थे और बहुत ही कठिनाई से उसने सामाजिक संबंधों को स्थान दिया होगा। (iii) सामाजिक चेतना का निर्माण करने में धर्म को एक प्रमुख कारक बताया गया। गेटेल कहता है कि रिश्तेदारी तथा धर्म उसी चीज के दो पहलू हैं। प्रारंभिक मनुष्य को सत्ता तथा अनुशासन आदि बनाने और सामाजिक एकता तथा एकजुटता की उत्कृष्ट भावना का विकास करने के मामले में रिश्तेदारी की अपेक्षा सामान्य पूजा कहीं अधिक आवश्यक थी। (iv) राज्य के निर्माण में ताकत मुख्य कारक नहीं रही होगी परन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता की राज्य को बनाने तथा उसका विस्तार करने के मामले में यह उसका एक कारक रही होगी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है। ताकत

कमजोरी को दासता में बदल देती है दासता एकता में और एकता को शक्ति के रूप, v) आर्थिक कार्यकलापों ने भी राज्य के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाई, यह एक अन्य कारक है। इन्होंने उत्पादन, विनिमयन, वितरण और खपत के संबंध में नियमों और प्रक्रियाओं को सम्पत्ति के अधिकार के साथ जोड़ा जैसा कि विकास के बाद के चरण में एक अन्य प्रमुख कारक है राजनीतिक चेतना राजनीतिक चेतना शब्द में कई बातें एक साथ मिलाकर रखी गई है। उस भूमि के प्रति प्रेम जहाँ लोग रहते हैं, भूमि की रक्षा करने की इच्छा। व्यवस्था तथा सुरक्षा की आवश्यकता, सामाजिक संबंध राजनीतिक संबंधों को प्रोत्साहन, सीमा क्षेत्र के विस्तार की भावना युद्ध तथा विजय, शक्ति तथा शक्ति के लिए संघर्ष। शक्ति के राजनीतिक विचार की विजय तथा प्रणाली के प्रति निष्ठा। ये सब समय के साथ बढ़ते हुए तथा विकसित होते हुए: राजनीतिक संगठन राज्य की तितर-बितर की स्थिति व्यक्ति हासिल करते हुए तथा प्रारंभ होते हुए आकार ग्रहण करते हुए तथा जटिलताओं में पुनः आकार लेते हुए तथा अन्य प्रकार के राज्य।

गेटेल के तर्क को निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है 'राज्य एक क्रमिक तथा प्राकृतिक ऐतिहासिक विकास है यह न तो दैवी शक्ति का उपहार है न कि मानव की सोच समझकर किया गया कार्य है इसका प्रारंभ इस धुंधले अतीत में खो गया है जिसमें सामाजिक संस्थाएँ सजग होकर उभर रही थी और इसके विकास ने विकासात्मक वृद्धि के सामान्य कानूनों का अनुसरण किया है।'

4.3.3 मार्क्सवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की सर्वोत्तम प्रस्तुति फ्रेडरिक एंजिल्स ने अपनी पुस्तक 'द ऑरिजिन ऑफ द फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड स्टेट' में किया है। एंजिल्स कहता है 'इसलिए राज्य बाहर से दबाव डाले गए समाज में एक शक्ति है यह नैतिक विचार की वास्तविकता है। यह तर्क की तस्वीर की वास्तविकता है।' जैसा कि हेजल मानता है कि यह सामाजिक विकास एक निश्चित चरण पर समाज का उत्पाद है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि समाज अपने आप में मिश्रित न होने वाले विरोधाभासों से उलझा हुआ है। समझौता न करने योग्य विरोधाभासों में विभक्त है आर्थिक हितों के संघर्ष वाले वर्गों में बँटा हुआ है। उनमें जारी नहीं रह सकता है और समाज कठोर संघर्ष में, समाज से ऊपर किसी सत्ता से जुड़ा हुआ संघर्ष को कम करने के उद्देश्य से आवश्यक हो गया, अपेक्षाकृत पुराने बंधनों के भीतर इसे रखता हुआ और यह शक्ति समाज से उठती हुई लेकिन इससे ऊपर अपने को रखती हुई तथा इससे अपने को विलग करती हुई, राज्य है'।

एंजिल्स कहता है कि राज्य प्राकृतिक संगठन नहीं है उनके अनुसार यह अनन्त काल से अस्तित्व में नहीं है, ऐसे अनेक समाज रहे हैं जो इसके बिना रहे, सामाजिक विकास के एक निश्चित चरण में राज्य आवश्यक हुआ ऐसा दो परस्पर विरोधी वर्गों में। समाज के विभाजन के फलस्वरूप हुआ। तदनुसार राज्य परस्पर विरोधी वर्गों का उत्पाद है और अपने कल्याण के लिए यह आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व वाले वर्ग का है और जिनके पास

उत्पादन के साधन नहीं है उनके हितों के खिलाफ हैं। मार्क्सवादी विचार के अनुसार यह उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को आविर्भाव तथा वृद्धि है, परस्पर विरोधी वर्ग उठे और राज्य स्वामित्व वाले वर्ग तथा गैर स्वामित्व वाले वर्ग के रूप में वर्ग के हित में तथा विरोध में उभरा, इसलिए एजेंल्स का निष्कर्ष है “नियम के अनुसार राज्य सर्वाधिक शक्तिमान है राज्य आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व वाला वर्ग है राज्य के माध्यम के जरिये क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से प्रभुत्व वाले वर्ग से हैं। इसलिए दलित वर्ग को दबाए रखने तथा उसका शोषण करने के लिए नए नए तरीके प्राप्त करता है। इस प्रकार प्राचीन काल का राज्य गुलामों को बनाए रखने के उद्देश्य से गुलाम मालिकों का राज्य था, किसानों, चरवाहों तथा जमींदारों को नियंत्रण में रखने के लिए यह सामंतवादों का अंग था और आधुनिक प्रतिनिधिमूलक राज्य पूँजी द्वारा वेतन भोगी श्रमिकों का माध्यम है।

राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रमुख पहलुओं को निम्नलिखित रूप में संक्षेप में रखा जा सकता है:

- 1) राज्य प्रकट हुआ क्योंकि परस्पर विरोधी वर्ग सामने आये, ये वर्ग सामने आए क्योंकि उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व सामने आया।
- 2) राज्य वर्ग समाज का परिणाम है और सामाजिक विकास के एक निश्चित चरण पर सामने आया।
- 3) राज्य वर्ग संस्था के रूप में आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व वाले वर्ग का गुलामों के मालिकों का अथवा बाद में सामन्तों का, पूँजीवादियों का है।
- 4) राज्य का तात्पर्य है सार्वजनिक शक्ति लागत का इस्तेमाल करने के लिए वैधानिक अधिकार।
- 5) राज्य की शक्ति अफसरशाही, पुलिस, सेना, न्यायालयों कारागृहों और ऐसे अन्य कई माध्यमों के जरिये कार्य करती है।
- 6) प्रभावशाली तथा कुशलतापूर्वक कार्य करने की सार्वजनिक शक्ति के लिए राज्य लोगों पर कर लगाने, ऋण लेने और सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करता है।

राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त हमारे साधारणीकरण से अधिक मेल नहीं खाता यह कि राज्य वर्ग समाज तथा वर्ग विरोध के परिणामस्वरूप बना होगा और ये वर्ग निजी स्वामित्व के कारण पैदा हुए होंगे, उत्पादन के साधन राज्य की उत्पत्ति के लिए अधिक स्पष्टीकरण नहीं उपलब्ध कराते, जैसा कि एक वर्ग संस्था के रूप में राज्य को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। इसलिए गैर स्वामित्व वाले वर्ग का शोषण पक्षपात पूर्ण होता है यह कि राज्य दमन करने वाली संस्था है, हमेशा ऐसा ही है कि इस पर विश्वास कर पाना मुश्किल लगता है।

4.4 राज्य के प्रभुत्वशाली परिप्रेक्ष्य

4.4.1 उदारवादी-व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य

राज्य के उदारवादी-व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य के बारे में लॉक, बैन्थम, एडम स्मिथ, जॉन स्टूवाड मिल, और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल तक के पश्चिम के राजनीतिक दार्शनिकों की पुस्तक में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। राज्य की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित में शामिल हैं।

- 1) व्यक्ति सभी कार्यकलापों का मुख्य बिन्दु है। तार्किक होने के कारण वह राज्य समेत सभी संघों का लक्ष्य होता है। हर वस्तु का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है।
- 2) व्यक्ति अपने सभी हितों का निर्णायक होता है और उसके पास सभी अधिकार स्वतंत्रताएँ होनी चाहिए। कोई भी चीज उसकी स्वायत्तता से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, उसके अधिकारों को उससे अलग नहीं किया जा सकता है। उसकी स्वतंत्रताएँ पवित्र हैं।
- 3) राज्य व्यक्ति के लक्ष्य का साधन है। राज्य की शक्तियाँ इसके कार्यों के अनुपात में हैं। व्यक्ति के साधन समाप्त होते हैं या सीमित हैं और इसके सभी कार्यों और शक्तियों में सीमित होते हैं। उदारव्यक्तिवादी राज्य आवश्यक नहीं है कि ये बुरा हो यह एक आवश्यक बुराई है, यह उसी हद तक रहता है जितना की व्यक्ति चाहता है। इसकी शक्तियाँ पूर्ण नहीं होती। व्यक्ति की स्वायत्तता के सामने यह कभी पूर्ण नहीं हो सकती समय गुजरने के साथ-साथ तथा लोकतंत्र के शुरु होने के साथ उदारवादियों ने (कल्याणकारी राज्य) कार्यों का विकास किया है और इसलिए शक्तियाँ हैं लेकिन उन्होंने इसके लिए हॉब्स और लेबियायान के विचारों का समर्थन नहीं किया है।
- 4) उदारवादी व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य में राज्य अपने नकारात्मक स्वरूप से सकारात्मक की ओर बढ़ा है और सकारात्मक संस्था से कल्याण की ओर बढ़ा है यह सुधारोन्मुख संस्था है। उदारवादी तथा परम्परावादी नहीं है जितने की रूढ़िवादी लेकिन वे राज्य में ताज़गी लाने के लिए रूढ़िवादी भी नहीं हैं। वे यह अवश्य महसूस कर सकते हैं कि सुधार जरूरी है और उन्हें जब जरूरत हो कारबार बनाया जाए, वे इस रूप में परिवर्तनों के पक्ष में हैं बदलते समय के साथ उपयुक्त बढ़ते हुए परिवर्तन के वे पक्षधर हैं।
- 5) उदारवादी-व्यक्तिवादी प्रारंभिक रूप से उदारवादी थे वे परम्परावादियों तथा रूढ़िवादियों के खिलाफ उदार थे। तदनुरूप उन्होंने जब जब लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों की बात चली उनका स्वागत किया। इस रूप में उन्होंने ऐसे राज्य की वकालत की जो लोगों की सहमति पर आधारित हो। लॉक के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त में संभवतः अधिक सत्य न हो लेकिन अनुबंध पर उसकी जिद का समाज द्वारा निर्णय लिया गया और (समाज के बाहर उठते हुए) राज्य ने स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया है कि लॉक

और उसके बाद के सभी उदारवादियों ने राज्य को मनुष्य की सहमति का एक उत्पाद बताया इसलिए उदार लोकतान्त्रिक राज्य एक सहमति मूलक राज्य है।

- 6) आर्थिक दृष्टि से राज्य का उदारवादी व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य अपनी शक्ति के मामले में सीमित था वह पूँजीवादियों का एक राज्य था जो व्यापार तथा वाणिज्य को प्रोत्साहन देता था मुक्त व्यापार की वकालत करता था तटकर के अवरोधों को दूर करता था तथा प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देता था। लॉस्की ने एक बार कहा था कि उदारवाद पूँजीवादियों का राजनीतिक दर्शन है।

राज्य के उदारवादी व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य ने व्यक्ति की वास्तविकता से अधिक मूल्यांकन किया तथा इसके विपरीत राज्य की क्षमताओं का मूल्यांकन वास्तविकता में कम आकलन किया गया। इसके उत्साह में उसने व्यक्ति के अधिकारों, स्वतन्त्रताओं और स्वायत्तताओं का संरक्षण और संवर्धन किया जिसके चलते हुए उसने पूँजीवादी व्यवस्था का निर्माण किया। जहाँ पर राज्य की स्थिति को कमजोर कर दिया जिसने शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाले साधनों का ही क्रय कर दिया।

4.4.2 सामयिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य

राज्य का सामयिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य द्वितीय विश्व युद्ध से लेकर एक ओर वर्ग से बहुवाद तक तथा उससे नव-बहुवाद तक तथा दूसरी ओर नव-दक्षिणपंथी स्वेच्छावाद से लेकर नव वामपंथी उदारतावाद तक कुल मिलाकर उदारतावाद के व्यापक ढाँचे तक विस्तृत रहा है। राज्य का सामयिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य निम्नलिखित रूप में संक्षेप में दिया जा सकता है।

राज्य के सास्थनिक, बहुलवादी परिप्रेक्ष्य (टूमैन, डहल) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं:

- (i) राज्य समूह संघर्ष का स्थान है और इसलिए यह समूह दबावों के प्रति अत्यधिक अनुक्रियात्मक है।
- (ii) विभिन्न संसाधनों के साथ समूह लगातार संघर्षों के संबंधों के साथ अस्तित्व में रहते हैं।
- (iii) शक्ति एक प्रेक्षणीय तथा बिखरा हुआ स्वरूप है।
- (iv) समूह सरकार के विशेषकर संभावित समूहों के आधार हैं।
- (v) समाज न केवल राज्य से स्पष्ट है बल्कि काफी हद तक गैर संभावित रूप है।

राज्य के सुधरे हुए बहुलवादी परिप्रेक्ष्य (रिचार्डसन और जार्डन) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं:

- (i) राज्य विखंडित तथा समूहों के प्रति अनुक्रियात्मक होता है परन्तु राज्य (अथवा सरकार) के प्रति पहुँच विशिष्ट होती है।

- (ii) सभी समूह समान नहीं होते केवल विशेष समूह ही नीति निर्माण में भाग लेते हैं।
- (iii) शक्ति निरीक्षणीय तथा बिखरी हुई दोनों ही होती हैं और
- (iv) समाज तथा राज्य एक दूसरे के साथ संभावित समूहों के माध्यम से समेकित हो जाते हैं।

राज्य के बहुलवादी बुद्धिवादी परिप्रेक्ष्य (मैकफरलैन, मैककोनेल, लोवी) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं:

- (i) राज्य ऐसे अत्यधिक संसाधन सम्भावित समूहों के साथ विखंडित होता है जिनकी राज्य के अंदर काफी हद तक पहुँच होती है और जो राज्य की स्वायत्तता में उसके अनुरूप अंश का दावा करते हैं।
- (ii) संभावित बुद्धिजीवी समूह की सरकारी हैसियतों तक आसान पहुँच होती है परन्तु विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न समूहों का दबदबा होता है।
- (iii) शक्ति निरीक्षणीय तथा अनिरीक्षणीय दोनों ही होती हैं, शक्ति के केन्द्रीकरण की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है और
- (iv) नागरिक समाज राज्य से भिन्न होता है परन्तु उसका उसमें सीमित प्रभाव होता है।

राज्य के नवबहुवादी परिप्रेक्ष्य (लिण्डब्लोम) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) राज्य आर्थिक नीति में व्यावसायिक हितों के प्रति पूर्वाग्रहित होता है।
- (ii) नीति निर्माण में व्यावसायिक हितों की निर्णायक भूमिका होती है और इस प्रकार समूह व्यवहार का महत्व कम हो जाता है।
- (iii) शक्ति अनिरीक्षणीय - संरचनात्मक तथा आदर्शत्मक होती है - प्राथमिक मुद्दों में केन्द्रित तथा गौण मुद्दों में बिखरी होती है।
- (iv) उस शक्ति पर नियंत्रण नहीं होता जो कि प्राथमिक मुद्दों में केन्द्रित होती है और
- (v) सामाजिक राज्य से भिन्न होता है परन्तु इसमें उसका सीमित प्रभाव होता है।

राज्य के नव दक्षिणपंथी स्वेच्छावादी (हैयक, नैजिक रॉल्स) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) आर्थिक जीवन की तरह राजनीतिक जीवन भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा पहल का मामला होना चाहिए।
- (ii) न्यूनतम राज्य के साथ लैसेज फेयर मार्केट सोसाइटी होती है।

- (iii) डेविड हेल्ड के अनुसार नव दक्षिण पंथी स्वेच्छावाद के राजनीतिक कार्यक्रम में निम्नलिखित विशेषताएँ शामिल हैं: (i) जीवन के अधिक से अधिक क्षेत्रों में बाजार का विस्तार, (ii) अर्थव्यवस्था में अत्यधिक शामिल होने के राज्य दंड का निर्माण, (iii) कुछ समूहों की शक्ति की कटौती, (iv) कानून और व्यवस्था, लागू करने के लिए मजबूत सरकार खड़ी करना।

राज्य के नव वामपंथी स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य (पैटमैन, मैकफर्सन तथा पोलांतजास) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) राज्य सहित समाज की सभी प्रमुख संस्थाएँ नागरिकों की प्रत्यक्ष सहभागिता के आधार पर बनाई जानी चाहिए।
- (ii) राजनीतिक दलों के नेताओं को अपने संबंध सदस्यों के प्रति जबाबदेह बनाया जाना चाहिए।
- (iii) प्रणाली में ही संभावित प्रयोग की संभावना सुनिश्चित करते हुए मुक्त संस्थागत प्रणाली बनाए रखी जानी चाहिए।
- (iv) गरीबों की ओर ध्यान रखा जाना चाहिए, खुली सूचना प्रणाली सुनिश्चित करना चाहिए।

राज्य के सामुदायिकतावादी परिप्रेक्ष्य (सैंडल, वाल्जार, ट्रेलर) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) समुदाय सभी मूल्यों का स्रोत है। समुदाय का विकास अभिष्ट मूल्यों पर निर्भर करता है।
- (ii) समुदाय के सदस्य के रूप में नागरिक राज्य के अन्दर ही नागरिकता का उच्चतर स्तर प्राप्त कर सकते हैं।
- (iii) राजनीति व्यापार की ही तरह कभी समाप्त न होने वाली सतत जारी रहने वाली क्रिया है और हमारे चारों ओर होती रहती है।
- (iv) राजनीति संघर्ष का स्रोत तथा कार्यकलाप का तरीका दोनों ही हैं।

4.4.3 सामाजिक लोकतान्त्रिक परिप्रेक्ष्य

राज्य का समाजवादी लोकतान्त्रिक परिप्रेक्ष्य कई दृष्टियों से मार्क्सवादी समाजवादी परिप्रेक्ष्य के विपरीत है। इसके विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में विकासवादी समाजवाद फेवियनवाद, गिल्डसमाजवाद, संसदीय समाजवाद तथा हेराल्ड लॉस्की द्वारा प्रतिपादित एक अन्य प्रकार का समाजवाद शामिल है।

विकासवादी समाजवाद परिप्रेक्ष्य की सामान्य विशेषताओं में कम से कम प्रमुख विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

- 1) शक्ति के साधन के रूप में क्रान्तिकारी तरीकों का विचार पूर्ण रूप से छोड़ देना तथा संसदीय साधनों को पूरी तरह अपना लेना।

- 2) उन समाजवादी दलों का परिवर्तन जो केवल श्रमिक वर्ग के हितों के लिए लोगों के उन दलों से बातचीत करते हैं जो सामान्य कल्याण करना चाहते हैं।
- 3) इस तथ्य को मान्यता देना कि समाजवाद की परिभाषा सामाजिक और आर्थिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र के विचार से अलग करने योग्य नहीं है, समाजवाद लोकतान्त्रिक तरीकों से ही प्राप्त किया जाना चाहिए और लोकतान्त्रिक व्यवस्था राज्य के विधेयक के जरिये समाजवाद लाया जाना चाहिए।
- 4) मानव स्वतंत्रता तथा मानव व्यक्तित्व के लिए सम्मान।
- 5) सभी प्रकार के सर्वहारावाद तथा सत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था का पूर्णरूपेण विरोध।

सामाजिक लोकतंत्र समर्थक के रूप में राज्य के परिप्रेक्ष्य में लॉस्की के अपने विचार हैं जिनकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित में प्रस्तुत किया जा सकता है:

- 1) राज्य किसी अन्य संघ की तरह ही एक संघ है और इसलिए उनपर नियंत्रण रखने के लिए उसके पास कोई विशेष शक्ति नहीं है। सर्वोत्तम बात तो यह है कि यह उनके कार्यों में समन्वयन रख सकता है लेकिन उनके आंतरिक कार्यों में हस्तक्षेप करने का उसका कोई अधिकार नहीं है।
- 2) समन्वयकर्ता के रूप में राज्य अन्य संघों का नेतृत्व करता है। इसकी भूमिका किसी अन्य संघ के खिलाफ नहीं रहती है। किसी अन्य संघ की तरह राज्य भी जनता की सेवा कर सकता है और लोगों के कल्याण की आकांक्षा के लिए एक अभिकरण बन सकता है।
- 3) फाहान के सच्चे अनुयायी के रूप में लॉस्की किसी भी ऐसे परिवर्तन के विरोधी हैं जो कि क्रान्ति के जरिये लागू किए जाते हैं। वे लोकतान्त्रिक कानूनों के जरिये गठित राज्य के माध्यम से सामाजिक राजनीतिक आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन लाने की वकालत करते हैं।
- 4) लोकतान्त्रिक समाजवाद की लॉस्की की अवधारणा ऐसी है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक प्रक्रियाओं के सामाजिक नियंत्रण का समन्वयकरण है।
- 5) समाजवाद की उनकी जिस प्रकार की धारणा है उसमें राज्य लोकतान्त्रिक तरीके से स्थापित ढाँचे के जरिए समाजवाद वायदे को पूरा करने के लिए अस्तित्व में रहता है।
- 6) लॉस्की का राज्य एक ऐसा उपकरण है जो व्यक्ति के लिए जीवित रहता है। उनके विचार में राज्य चाहे कितना भी महत्वपूर्ण हो, लोगों के अधिकारों की रक्षा और उपयुक्त वातावरण को प्रोत्साहन देने के लिए अस्तित्व में रहता है जहाँ लोग अपनी संभावित ऊँचाइयों तक पहुँचने के लिए अपनी आंतरिक क्षमताओं को पूरी तरह खोल सकते हैं।

4.4.4 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

राज्य के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

- 1) समाज और राज्य दो स्पष्ट वास्तविकताएँ हैं। समाज किस प्रकार का है इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ राज्य किस प्रकार का हो सकता है। समाज उस आधार को तैयार करता है जिससे राज्य सहित अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) बनता है।
- 2) राज्य समाज की स्वतंत्रता से अलग नहीं होता जो लोग जैसा कि हेगेल ने वास्तव में किया, इसे बनाते हैं वे राज्य का मिथक बनाते हैं, राज्य को एक मारिचिका बनाते हैं।
- 3) राज्य उन लोगों के लिए अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए माध्यम है जो समाज पर नियंत्रण करते हैं। गुलामों के स्वामित्व वाला राज्य मालिकों की सेवा करता है, सामंतवादी राज्य सामंतों की सेवा करता है। पूँजीवादी राज्य पूँजीवादियों की सेवा करता है और सर्वहारा की तानाशाही में जैसे सर्वहारा राज्य श्रमिकों की सेवा करता है।
- 4) वर्ग समाज का उत्पाद होने की वजह से राज्य आर्थिक प्रभुत्व वाले वर्ग का होता है इसलिए पक्षपातपूर्ण होता है और एक वर्ग संस्था होता है। पक्षपातपूर्ण संस्था होने के कारण यह शोषण का एक माध्यम बन जाता है, आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत कमजोर वर्गों का शोषण करता है।
- 5) वर्ग शासन का वाहक होने के कारण राज्य समाजवाद के अंतरिम अवधि में समाजवाद कायम करेगा और वर्ग विरोध की जड़ों को नष्ट कर देगा जैसे कि निजी सम्पत्ति प्रणाली को उत्पादन के माध्यम के रूप में कायम करेगा।
- 6) सर्वहारा वर्ग की तानाशाही विरोधी वर्गों के विरोध का उन्मूलन कर देती है। यह राज्य का उन्मूलन नहीं है। समाजवाद का युग सर्वहारा राज्य का युग है जोकि बूर्जुआ के बगैर मध्यमवर्गीय राज्य होगा। सर्वहारा राज्य समाजवाद कायम करने का एक माध्यम है और जो राज्य के मुरझाने के साथ-साथ अपने उन्मूलन के रूप में समाप्त होगा।
- 7) राज्य को एक ऐसा परोपजीवी मानना जो समाज के मुक्त आवागमन में रुकावट डालते हुए राज्य का भाग्य जैसा कि मार्क्स ने कहा है इसका अपना उन्मूलन है “पहला कदम है सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा वर्तमान राज्य, बूर्जुआ राज्य को उठाकर फेंक देना। अगला कार्य है अंतरिम राज्य की स्थापना, सर्वहारा तानाशाही लेकिन नए राज्य का उन्मूलन किसी क्रान्ति या ताकत के जरिए नहीं होगा बल्कि यह अपने आप मुरझा जाएगा।

4.4.5 गांधीवादी परिप्रेक्ष्य

राज्य का गांधीवाद परिप्रेक्ष्य (राष्ट्रपिता, मोहन दास करम चन्द्र गांधी - 1869 - 1948) में राज्य क्या है और यह क्या होना चाहिए इसके अनुपम सममिश्रण का प्रावधान है।

गांधीजी ने पश्चिमी देशों में जिस तरह का राज्य देखा था उसकी निन्दा की और उन्होंने राम राज्य नाम से लोकप्रिय राजनीतिक व्यवस्था को पसंद किया। वे ऐसा ही राज्य चाहते थे।

सभी अराजकतावादियों की ही तरह गांधीजी भी राजनीतिक शक्ति सभी प्रकार की शक्तियों पर अविश्वास करते थे। गांधीजी की धारणा के अनुसार कोई भी शक्ति स्वभाविक रूप से दमनकारी और अनिवार्य होती है। यह थोपी जाती है, रुकावटें डालती हैं, खुफियागिरी करती है इसके अस्तित्व में रहने का तात्पर्य है स्वतंत्र इच्छा अन्तरमन तथा व्यक्ति में विद्यमान आन्तरिक इच्छा का अभाव। गांधीजी के शब्दों में राज्य केन्द्रित तथा संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति में आत्मा होती है परन्तु राज्य आत्माहीन एक मशीन है। इसका अस्तित्व ही हिंसा से निकला है और यह हिंसा से कभी मुक्त नहीं रह सकता।

परन्तु गांधीजी अराजकतावादी नहीं थे। वे केवल इस हद तक अराजकतावादी थे जिस हद तक उन्होंने घोषित किया था राज्य शक्ति की प्रतिमूर्ति है। एक प्रकार से वे वर्गवादी व्यक्तियों के अथवा हमारे काल के नव दक्षिणपंथी स्वेच्छावादियों के बहुत निकट हैं। उन्होंने राज्य की अखंडवादी वकालत नहीं की बल्कि न्यूनतम कार्यों वाले राज्य की वकालत की नोजीकिल का न्यूनतम राज्य। उनकी राय में जब तक समाज आत्म नियमन करने वाला तथा आत्मविकास वाला नहीं हो जाता और जब तक व्यक्तिपूर्ण नहीं हो जाता तब तक राज्य आवश्यक रहेगा। वे थ्योरम के इस विचार का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं कि सर्वोत्तम सरकार वह है जो कम से कम शासन करती है।

कुछ हद तक गांधीजी मार्क्स के काफी निकट थे जैसे उन्होंने इस प्रकार के समाज के बारे में विचार व्यक्त किया जो कि स्वरूप में राज्यविहीन हो। किसी भी मार्क्सवादी की ही तरह गांधीजी राज्य की ऐसी संस्था का विरोध करते थे जो दमन और शोषण का एक माध्यम हो। सभी मार्क्सवादियों की तरह निजी सम्पत्ति में उन्होंने सभी बुराइयाँ पाईं। सभी मार्क्सवादियों की तरह पक्षपात करने वाले राज्य की निन्दा की लेकिन उसी समय गांधीजी ने अपने राम राज्य की परिकल्पना में ऐसे समाज की बात कही जो बिना दमन का हो और जिसपर बल प्रयोग न किया जाता हो।

धारणा के अनुसार गांधीजी अध्यात्मवादी थे और इसलिए गांधीजी में गैर भौतिकवादिता विद्यमान है उनके अनुसार वास्तविक स्वराज्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति ही नहीं अपितु उसकी अपेक्षा और बहुत कुछ है। उनके अनुसार स्वराज्य व्यक्ति से शुरू होता है। यह आत्मा का नियम है। यह आत्म विकास और आत्म नियमन का मामला है इसमें वास्तविक शक्ति व्यक्ति में अन्तर्निहित होती है। ज्यों ज्यों शक्ति आगे बढ़ती है त्यों त्यों यह विकेन्द्रित हो जाती है। गांधीजी के राम राज्य में व्यक्ति से केन्द्रीय राजनीति तक समूची प्रणाली अपने आप चलती है, बिना कोई दबाव डाले, बिना किसी अनिवार्यता के। उनका राम राज्य बिना किसी दबाव का राज्य और उस हद तक वह राज्यहीन है। यह एक ऐसा राज्य है जिसमें हिंसा का इस्तेमाल नहीं और उस हद तक यह स्वतंत्र और विमुक्त है।

4.5 सारांश

राज्य की अवधारणा राजनीति शास्त्र का मूल तत्व है इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ विद्वानों ने राज्य और राजनीति शास्त्र को समानार्थक बताया है। संस्था के रूप में यह उतना ही पुराना है जितना की हमारा इतिहास। प्राचीन यूनान में, यदि राज्य polis की तुलना में कम था, और प्राचीन काल में मात्र सरकार से यह कुछ ज्यादा था, मध्य काल में यह विस्मृति में चला गया और इसका बहुत पीछे स्थान हो गया। आधुनिक काल में, जैसा कि पश्चिमी देशों में हुआ इसका पुनर्जन्म हुआ और यह अपनी स्वाभाविक ऊँचाइयों को हासिल करता रहा। विन्सेन्ट ने ठीक ही टिप्पणी की है “राज्य न केवल कई संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है बल्कि प्रवृत्तियों, प्रथाओं तथा आचार संहिताओं की भी एक संस्था है। संक्षेप में वह नागरिकता जिसे हम सही रूप से सभ्यता के साथ संबंध करते हैं।”

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सिद्धान्तों से राज्य की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति के बारे में कई अंशों में पता चलता है और इस प्रक्रिया के दौरान राजनीतिक दार्शनिकों के अनेक विचारों को प्रस्तुत किया गया है। विकासात्मक सिद्धान्त तथा वर्ग उत्पत्ति सिद्धान्त से उदार तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अंतरदृष्टि प्राप्त होती है। इसी प्रकार राज्य के प्रमुख परिप्रेक्ष्यों से राज्य की इन अवधारणाओं पर प्रकाश पड़ता है कि उनका विकास कैसे हुआ और विद्वानों ने उन्हें किस प्रकार देखा है।

4.6 बोध प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त एक निकृष्ट इतिहास, एक निकृष्ट कानून और एक निकृष्ट दर्शन है टिप्पणी कीजिए।
2. राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक/विकासात्मक सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए समीक्षा कीजिए।
3. राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना कीजिए।
4. राज्य के प्रमुख परिप्रेक्ष्य क्या हैं ऐसे किसी एक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट कीजिए।
5. आधुनिक राज्य के गांधीवादी परिप्रेक्ष्य की वर्णन कीजिए।

इकाई 5 विकासशील समाजों में राज्य: एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी अनुभव

संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य

5.2.1 उदारवादी अवधारणा

5.2.2 मार्क्सवादी अवधारणा

5.3 विकासशील समाजों के ऐतिहासिक वैशिष्ट्य की समझ की ओर

5.4 विकासशील समाजों में राज्य का सिद्धान्त स्थापित करना: सैद्धान्तिक आधार मजबूत करना

5.5 परिधीय राज्य का सिद्धान्त तैयार करना: नव-मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

5.6 उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य से संबद्ध वर्ग

5.7 भूमंडलीकरण, निजीकरण और स्थानीकरण युग में विकासशील राज्य

5.8 सारांश

5.9 बोध प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

राज्य, राजनीतिक सिद्धान्त का एक प्रमुख विषय रहा है और अब भी बना हुआ है। लेकिन जैसा कि पिछली इकाई में देखा जा चुका है राज्य के बारे में धन के विवरण के बावजूद राज्य की प्रकृति को पकड़ पाना लगभग असंभव सिद्ध हुआ है। राज्य की पारदर्शिता और केन्द्रीयता इसे भ्रान्तिजनक बनाती है। यह स्थिति और भी अधिक बढ़ जाती है जब राजनीतिक सिद्धान्तवादी, वास्तव में विद्यमान राज्यों के विश्लेषण का प्रयास करने लगते हैं।

निसंदेह राज्य, हाल के दशकों में, राजनीतिक सिद्धान्त के सैद्धान्तिकरण और तुलनात्मक राजनीति का महत्वपूर्ण विषय रहा है। राज्य की प्रकृति के बारे में राजनीतिक सिद्धान्त में लगातार दिलचस्पी परिष्कृत तथा जटिल सैद्धान्तिकरण के रूप में समसामयिक समाज के सभी पहलुओं के महत्व द्वारा स्पष्ट की जाती है, चाहे वह पूँजीवादी हो, समाजवादी हो अथवा विकासशील हो। राज्य निर्विवाद रूप से समाज के राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में एक प्रमुख कारक के रूप में उभरता है। परिणामस्वरूप यह समझ पाना या किसी विशेषता का विश्लेषण कर पाना असंभव हो जाता है कि यह नारीवाद है, परिवार, धर्म, पारिस्थितिक विज्ञान, विधि अधिकार, राजनीतिक प्रक्रिया, संस्कृति या विकास है। विकासशील समाजों के मामलों में यह और भी सत्य है क्योंकि आर्थिक विकास, सामाजिक सुरक्षा, न्याय और सामूहिक तथा व्यक्तिगत अधिकारों को प्राप्त करने में राज्य

प्रमुख भूमिका लगातार निभाता रहा है हालांकि सिविल समाजों से राज्य की वापसी पर भूमंडलीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण की प्रक्रियाएं लगातार जोर देती रही हैं।

5.2 समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् राज्य राजनीतिक सिद्धान्त में आक्रामक रूप से लौटा। शताब्दी के प्रारंभिक हिस्से में यह संविधानों, कानूनी संस्थाओं तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन माना जाता था, राज्य का नहीं। इसके प्रति राजनीतिक सिद्धान्त की चिन्ता हुई। अमरीकी राजनीतिशास्त्र संघ के तहत यह उदारवादी सिद्धान्त को अपना मार्क्सवादी सिद्धान्त के साथ अधिक या उदारवाद में जोर इस बात की ओर अधिक दिया गया कि राजनीतिशास्त्र की इस तरह विकास करने की आवश्यकता जिससे निष्पक्ष तथा मूल्य-मुक्त विज्ञान हो। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन को प्राकृतिक विद्वानों के प्रयास में उदारवादी संरचनावाद कार्यवादियों ने राज्य को सामान्य सिद्धान्तों से साथ जटिल अवधारणा के रूप में नहीं माना और राजनीतिक प्रणाली की वैज्ञानिक तथा मूल्यमुक्त अवधारणा के स्थान में व्यवहारात्मक क्रान्ति के तहत इसको लाभ पहुँचा।

हालांकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूँजीवाद की विजय का भ्रम दूर हो गया और संयुक्त राज्य अमेरिका के बौद्धिक नेतृत्व में समाजशास्त्रों पर तीव्र प्रहार किए गए और विकासशील देशों में राष्ट्र निर्माण के राष्ट्रवादी परियोजना के साथ मोह भंग से राज्य की लाभप्रद स्थिति में सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण करने की आवश्यकता सामने आई। साम्यवादी समाजों तथा उपनिवेश के पश्चात् बने समाजों, दोनों में ही अधिनायकवाद का अनुभव अच्छा नहीं रहा। इससे भी यह आवश्यकता हुई कि राज्यों ने शक्ति की संरचना को जिस प्रकार संहिताबद्ध किया, व्यक्त किया तथा राजनीतिक सत्ता का उपभोग किया उसके बारे में पर्याप्त स्पष्टीकरण रखा जाए। इस प्रकार 1960 और 1970 के दशकों में राज्य उदार तथा मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त दोनों में ही प्रमुख शासक की अवधारणा लेकर उभरा। पिछले दो दशकों के दौरान नागरिक समाज के साथ संबंधों के मामले में राज्य के अध्ययन की ओर मुख्य रूप से अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा।

5.2.1 उदारवादी अवबोधक

1960 के दशक से ही उदारवादियों ने राज्य के प्रशासनिक दमनकारी तथा सैद्धान्तिक कार्यों की ओर आधुनिक समाज के प्रति समाज की बढ़ती हुई केन्द्रीयता को स्पष्ट करने के लिए प्रयास किया है। राज्य के बहुलवादी सिद्धान्त में उदारवादियों ने राज्य को उस सरकार से भिन्न राजनीतिक संघ के रूप में देखना शुरू किया है जो भेदभाव के हितों से ऊपर की बात को स्वीकार करने के आधार पर सभी सार्वजनिक संस्थानों को अपने दायरे में समेटते हुए अवैयक्तिक अधिकार का उपयोग करती हैं। उदारवादी विचारकों का तर्क है कि समाज के प्रति स्पर्धात्मक समूहों और व्यक्तियों के बीच राज्य एक तटस्थ मध्यस्थ है: यह एक अम्पायर या रेफ्री की तरह काम करता है और सभी नागरिकों के अधिकारों के अतिक्रमण से सुरक्षा प्राप्त करने में सक्षम रहता है। बहुलवादियों ने राज्य को एक तटस्थ इकाई के रूप में देखा है जो सभी के हित में कार्य करता है और

सामान्य अच्छाई तथा सार्वजनिक हित का प्रतिनिधित्व करता है। बहुलवाद का प्रमुख तर्क यह है कि राजनीतिक शक्ति एक बौद्धिक तथा सत्तारूढ़ वर्ग की अपेक्षा अनेक सामाजिक समूहों में बिखर जाती है। राज्य की ऐसी संस्थागत सूझ-बूझ में इसका प्रमुख कार्य व्यवस्था बनाए रखना तथा सामाजिक स्थिरता प्रदान करता है।

चार्ल्स लिंड ब्लोम तथा जे. के. जालब्रंथ जैसे नव बहुलवादियों ने तर्क दिया है कि विकसित औद्योगिक राज्य वर्ग बहुलवादियों की तुलना में अधिक जटिल तथा लोकप्रिय दबावों के प्रति अपेक्षाकृत कम प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले होते हैं। राज्य को सामान्य हित या लोकहित का संरक्षक मानते हुए वह तर्क करते हैं कि सभी संगठनों को समान शक्तिशाली के रूप में चित्रित कर पाना असंभव है क्योंकि पूँजीवादी समाज में व्यापार या कारोबार अधिक लाभ की स्थिति में रहता है और इसलिए अन्य समूह स्पष्ट रूप से उसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकते। हालाँकि नव बहुवादी व्यापार को बुद्धिजीवी वर्ग नहीं मानते कि यह समूह सभी क्षेत्रों में सरकार से अपने विचारों को मनवाने में सक्षम रहता है फिर भी यह सत्तारूढ़ दल से अपेक्षाकृत कम है। यह इस बात को स्वीकार करते हैं कि एक उदारवादी लोकतंत्र विकृत बहुतंत्र जैसा है जिसमें कारोबार आम तौर पर प्रमुख प्रभाव डालता है विशेषकर आर्थिक कार्यसूची पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है।

पिछले तीन दशकों के दौरान नए नए सही विचार और सैद्धान्तिक विशेषताओं के बावजूद वे हॉब्स और लॉक द्वारा प्रारंभ में प्रतिपादित वर्ग उदारवाद जैसे बहुलवादियों, नव उदारवादियों या स्वेच्छवादियों की तरह आर्थिक और सामाजिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप के प्रति बहुत अधिक असहानुभूतिपूर्ण रुख व्यक्त करते हैं जो कि इस धारणा से व्यक्त होता है कि राज्य एक परोपजीवी वृद्धि है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा आर्थिक सुरक्षा के लिए खतरा पैदा करता है उनके लिए राज्य अब और ज्यादा निष्पक्ष रैफ्री नहीं रह गया है बल्कि खुद अपनी सेवा करने वाला एक भीमकाय दैत्य हो गया है। एक प्राचीन काल के ऐसे राज्य में हस्तक्षेप करने लगा है, ऐसे राज्य को स्थिति में पहुँचा दिया गया है, जहाँ जीवन के हर क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाता है।

नये अधिकारों के सिद्धान्तवादियों ने इन ताकतों की पहचान करने की कोशिश है जिनके कारण राज्य के हस्तक्षेप में वृद्धि हुई है और उनकी दृष्टि में उनका मुकाबला किया जाना चाहिए। प्रभावी रूप में उदारवादी राज्य को प्रशासन के रूप में अधिकाधिक मानने लगे हैं। जैसे राज्य की संस्थागत समझ हमें राज्यों में असमानता को स्पष्ट करने की अनुमति नहीं देती जो कि उनके संग्रह करने, अभिव्यक्ति करने और राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल करने के मामले में आती है।

5.2.2 मार्क्सवादी अवबोधन

राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य की वापसी मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त की एक उल्लेखनीय विशेषता रही है। राज्य की प्रकृति के संबंध में सबसे जोरदार और परिष्कृत बहस साम्यवाद के ध्वस्त होने तथा राजनीतिक सिद्धान्त की मुख्यधारा के रूप में नव-उदारवाद के अभ्युदय के पश्चात दार्शनिक स्थिति के रूप में मार्क्सवाद के ह्रास में पहले 1970 और 1980 के दशकों में हुई इनमें से अधिकांश बहस मार्क्स और एंजेल्स के

विचारों की व्याख्या के इर्द गिर्द बहसों के रूप में हुई। मार्क्सवादी सिद्धान्तों की व्यापक उपस्थिति को राज्य के बारे में उनकी कृतियों में जुड़ाव न होने तथा सातव्य न होने के कारण विभिन्न मार्क्सवादी व्याख्याओं में सामंजस्य में कमी आई। न तो मार्क्स न एंजिल्स के खंडित तथा दार्शनिक विचारों की अप्रणालीबद्ध श्रृंखला समसामयिक इतिहास तथा पत्रकारिता तथा समय समय की टिप्पणियों के जरिये सिद्धान्त बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। ये विषय स्वतंत्र सैद्धान्तिक व्याख्या तथा विकास के लिए सक्षम हैं।

मार्क्स और एंजिल्स के लेखों में राज्य के (ग्रेण्ड) सिद्धान्तों के अभाव में भी राज्य की प्रकृति के संबंध में मार्क्सवादी सिद्धान्त में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण उभरे हालाँकि वे आपसी योग्यता तथा सातव्य के विभिन्न अंशों की भिन्नता से युक्त हैं, वे विभिन्न अनुमानों शोषण के सिद्धान्तों तथा राजनीतिक निहितार्थों पर आधारित हैं।

इस प्रकार हमारे समक्ष ऐसी सैद्धान्तिक स्थिति है जिसमें तर्क दिया गया है कि सज्ज का विश्लेषण उस तरह किया जाना चाहिए जैसे लेनिन ने किया था उदाहरणार्थ यह मार्क्सवादी राजनीतिक और आर्थिक विश्लेषण पर आधारित होना चाहिए।

वर्ग प्रभुत्व के एक साधन के रूप में राज्य का क्लासिकी सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा की मार्क्सवादी स्पष्टीकरण से जुड़ा हुआ है। जर्मन विचारधारा के अनुसार मार्क्स और एंजिल्स ने राज्य को उपउत्पाद के रूप में देखा उदाहरण के लिए, सम्पत्ति के संबंधों की प्रणाली के सामान्य तल के प्रतिबिंब के रूप में देखा। और उसे आर्थिक वर्ग संघर्ष के परिणाम के रूप में देखा। मार्क्स और एंजिल्स ने तर्क दिया कि राज्य श्रमिकों के सामाजिक विभाजन के भीतर विकसित होता है और ऐसा स्वरूप है जिसमें सत्तारूढ़ वर्ग अपने सामान्य हितों पर जोर देता है। राज्य आर्थिक आधार पर प्रतिबिम्ब करता है और साथ ही अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं और आर्थिक वर्ग के ताकतों के संतुलन को परिलक्षित करता है। मार्क्स ने इसी प्रकार के विचार अपनी पुस्तक *द पावर्टी ऑफ फिलास्फी* में राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत किया। उसने तर्क दिया कि उत्पादन के संबंध ऐसे वास्तविक आधार हैं जिन पर वैधानिक और राजनीतिक अधिसंरचना का निर्माण होता है और जिसके प्रति सामाजिक चेतना निश्चित स्वरूप धारण करती हैं।

राज्य के स्वरूप प्रकृति के बारे में विचारों की उपर्युक्त पद्धति तथा आर्थिक अवसंरचना के बीच आपसी संबंध और राजनीति संगठनों के बारे में साम्यवाद घोषणापत्र के प्रमुख दस्तावेज में सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है। राज्य की प्रकृति के बारे में विचार की उपर्युक्त प्रवृत्ति तथा आर्थिक संरचना और राजनीतिक संरचनाओं के बीच अंतर संबंधों का साम्यवादी घोषणापत्रों में सर्वाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है। मार्क्स और एंजिल्स ने तर्क दिया है कि 'तथाकथित राजनीतिक सत्ता महज एक वर्ग का दमन करने के लिए एक वर्ग की संयोजन शक्ति मात्र है।' इसके अतिरिक्त, 'आधुनिक राज्य की कार्यकारणी समूचे बूर्जुआ वर्ग के सभी कार्यों के समान मामलों का प्रबंध करने के लिए एक समिति मात्र है।' राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त का यह संस्करण इस अवधारणा की ओर ले जाता है कि उद्देश्य तथा कार्य के मामले में उसकी उत्पत्ति और प्रकृति एक वर्ग के दमन के लिए दूसरे वर्ग के संगठन का रूप है। पूर्व सोवियत संघ के संरक्षण में अधिकारिक

माक्सवाद के अलावा इस प्रकार की स्थिति के साथ अन्य लोगों के समान विचार की दृष्टि से विलियम डोमहॉक तथा फ्रेड ब्लॉक जैसे सामयिक पश्चिमी माक्सवादी थे।

अपनी ऐतिहासिक कृतियों में माक्स ने फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस की राजनीतिक दशाओं की ठोस संरचना के प्रति अपनी चिंता व्यक्त की और राज्य की ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की जिसमें उसका अपना जीवन था जो समाज के हित में काम नहीं करती थी बल्कि राज्य के निजी हितों में ही अनुरक्त रहती थी। इस प्रकार की स्थिति तभी उत्पन्न हुई, जब वर्ग ताकतों में वहाँ संतुलन था। जैसे बोनापार्टवादी फ्रांस तथा बिस्मार्कवादी जर्मनी अथवा वहाँ प्रभुत्वशाली वर्ग का अभाव था, जैसा कि आस्ट्रिया के मातृसत्तात्मक राज्य तथा रूस के जारवादी राज्य में था।

निकोज पोलान्तजास, हॉल ड्रेपर तथा राल्फ मिलिबैंड जैसे सामयिक माक्सवादियों का विचार था, राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता, यदि यह बहुत उच्च स्तर की हो, उसका वर्ग स्वरूप नहीं घटता। राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता राज्य के लिए यह संभव बनाती है कि वह उपर्युक्त लचीलेपन के साथ अपने वर्ग की भूमिका निभाएँ। यदि वास्तव में यही सत्तारूढ़ वर्ग का सामान्य उपकरण होता तो इसकी भूमिका के कार्य निष्पादन में बहुत आघात पहुँचता। राज्य बुद्धिजीवी को वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की सेवा करने के लिए यह तय करना होता है कि सर्वोत्तम सेवा के लिए उसके कितनी स्वतंत्रता की आवश्यकता है।

राज्य के माक्सवादी फार्मूले के बुनियादी दावों को बहुत संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है "जब राज्य कार्य करता है तो माक्सवादी शब्दों में सत्तारूढ़ वर्ग की ओर से उसके इशारे पर यह अधिकांश हिस्सा नहीं करता है। राज्य, वास्तव में, एक वर्ग राज्य होता है, सत्तारूढ़ वर्ग का राज्य होता है परन्तु वास्तव में इसे उस प्रकार की स्वायत्तता की उस स्थिति तथा स्वतंत्रता रखनी चाहिए यदि उसे एक वर्ग राज्य के रूप में कार्य करना है।" इसके बाद आगे उसने प्रस्तुत किया है कि राज्य की धारणा महज एक उपकरण के रूप में राज्य की निर्णायक सम्पत्ति का रहस्य खोलती है, जैसे कि इसकी सापेक्ष सम्पत्ति स्वायत्तता सत्तारूढ़ वैभवशाली वर्ग तथा नागरिक समाज से इसकी सापेक्षता है।

5.3 विकासशील समाजों के ऐतिहासिक वैशिष्ट्य की समझ की ओर

सैद्धान्तिक उद्देश्य के रूप में राज्य के स्वरूप के बारे में तीव्र बहस और माक्सवादी सिद्धान्तवादियों द्वारा व्यक्त की गई राज्य की अवधारणा के बारे में संदेहवाद के बावजूद राजनीतिक सिद्धान्त में किसी सामाजिक विश्लेषण के लिए राज्य की प्रमुखता को लगभग पूर्ण स्वीकृति है। लेकिन जब सिद्धान्तवादियों द्वारा वास्तव में विद्यमान राज्य को विश्लेषण की कोशिश की जाती है तो समस्या पैदा होती है।

राज्य के बारे में अपने सैद्धान्तिक विमर्श में सभी सिद्धान्तवादियों ने उन्हीं ऐतिहासिक राज्यों का उल्लेख नहीं किया है: उदाहरण के लिए, माक्स और एंजिल्स ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, वे बीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में थे और जिनकी प्रकृति

समसामयिक है और जिनके लिए मार्क्सवादियों को रखा गया है। इसी प्रकार उपनिवेशवादी विकासशील ऐतिहासिक और संरचना की दृष्टि से विकसित पूँजीवादी तथा उत्तर साम्यवादी समाजों में राज्य से भिन्न हैं। इसके अलावा इन राज्यों में बड़ी श्रेणियों के अंदर उल्लेखनीय विरोध विद्यमान है।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि विकसित पूँजीवादी राज्यों की निःसन्देह ऐतिहासिक भिन्नताएँ हैं लेकिन उनमें दो सामान्य विशेषताएँ एक जैसी हैं, वे सभी अत्यधिक औद्योगिक देश हैं, उनके आर्थिक कार्यक्रमों के मुख्य साधन का हिस्सा निजी स्वामित्व तथा नियंत्रण में रहता है। ये दो विशेषताएँ उन्हें एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अल्प विकसित राज्यों से विशिष्ट बना देती हैं। विकसित राज्यों तथा विकासशील देशों के बीच कुछ महत्वपूर्ण भेद भी हैं। उपनिवेशवाद जैसे ऐतिहासिक कारक, उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलनों के अनुभव और ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भ जिनमें उपनिवेशवाद के पश्चात् विकासशील समाज उभरे हैं। इनका विकासशील राज्य के स्वरूप पर गहरा असर पड़ा है।

इसके पश्चात् विकसित पूँजीवादी समाजों में राज्य के विश्लेषण के लिए जो श्रेणियाँ इस्तेमाल में लाई जा सकती हैं, ऐसे स्वरूप के लिए सभी शैक्षिक प्रयासों की यह कहकर आलोचना की जाती रही है कि वे अपने स्वरूप में मशीन की तरह दृढ़ संकल्पित तथा हासवादी हैं।

उदाहरण के लिए नवमार्क्सवादी परम्परागत मार्क्सवाद की पर्याप्तता को लेकर खुलेआम यह प्रश्न उठाते हैं कि विकास समाजों की सामाजिक वास्तविकताओं को स्पष्ट करने के लिए बूर्जुआ पूँजीवादी संदर्भ के लिए मार्क्सवादी यह प्रश्न उठाते हैं। उनका विचार है कि मार्क्सवाद को अक्सर विकास की धारणा के अंतर्गत बहुत भिन्न परिस्थितियों के लिए अपनाया गया है। इसमें बताया गया है कि विकासशील राज्य के स्वरूप का सिद्धान्त बनाने में मार्क्सवादी विश्लेषणात्मक उपकरणों का उपयोग करते समय मार्क्सवादी अवधारणाओं का इस्तेमाल सावधानी के साथ करना चाहिए।

इसी प्रकार उदारवादियों ने भी राज्य के स्वरूप के बारे में सामान्यीकरण करने का प्रयास करने की अपेक्षा इन नए राज्यों की सांस्कृतिक विशिष्टता का अध्ययन करने पर बल दिया है। जैसा कि 1950 तथा 1960 के दशकों में आधुनिकीकरण तथा विकास के महान सिद्धान्त के संदर्भ में कहा गया था।

5.4 विकासशील समाजों में राज्य का सिद्धान्त स्थापित करना: सैद्धान्तिक आधार मजबूत करना

जब एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी देश स्वतंत्र हुए थे, तो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों को लाने के मामले में राज्य की क्षमता के प्रति अभूतपूर्व विश्वास था। इसका निम्नलिखित आधारों पर स्पष्टीकरण किया जा सकता है:

पहला, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी राज्य की धारणा उपनिवेशवादी राज्य की परम्परा के अनुरूप

है। उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन की राज्य की सत्ता के प्रति दावे राज्य का अधिग्रहण करने के लिए थे। इस उद्देश्य के लिए राष्ट्रवादी नेतृत्व ने नागरिक समाज तथा राज्य के बीच अंतर को कम करने का प्रयास किया ताकि समाज अर्थात् नागरिक समाज की आन्तरिक शक्ति संरचना में राज्य का आधार बने। राष्ट्रवादी नेतृत्व के हिस्से पर राज्य की शक्ति के लिए आकांक्षाओं ने उत्तर उपनिवेशी राज्य के लिए वैधता और स्वीकार्यता प्रदान की।

दूसरा, नागरिक समाज उपनिवेशवादी हस्तक्षेप के कारण कम विकसित था। इसलिए साम्राजिक परिवर्तन के मामले में उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य ने प्रमुखता प्राप्त कर लिया।

तीसरा, इस बात पर व्यापक सहमति थी कि उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य सामाजिक इंजीनियरी, संजातीय एकरूपता, आर्थिक आधुनिकीकरण, तथा राष्ट्रीय निर्माण के लिए हस्तक्षेपवादी भूमिका निभाते हुए उपनिवेशवादी विरासत को उल्टा रूप दे देगा।

चौथा, उत्तर उपनिवेशवादी राज्य पर बहस ने भी आधुनिकीकरण तथा विकास के बारे में पश्चिमी उदारवादी बहस को भी सहायक के रूप में शामिल किया गया, विकास की तीन धारणाएँ इस बहस के इर्दगिर्द घूमती रही : (क) कि यह समय की अनिवार्यता थी और कि राज्य का स्वरूप विकास का पूरक था। (ख) विकास को मूल्य मुक्त सामाजिक प्रक्रिया तथा अंतः जो सामाजिक दमन के अपने ही पैटर्न ऐसे शो को जन्म दे सकता था जिन्हें मान्यता न दी गई। परिणामस्वरूप विकास को ऐसे रूप में माना गया जो ऊपर से लादा नहीं जा सके। (ग) और अंत में एक दृढ़ विश्वास की परम्परागत विशेषताओं से दुख उठाने वाले विकसित समाज उन आवश्यक सुधारों को हासिल करने में सूक्ष्म कहेंगे जो आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है और ऐसा विकासशील समाज हो जो अपना नियमन करने में अक्षम रहते हैं।

इस प्रकार उदारवादियों में प्रमुख विश्वास यह था कि विकसित राज्य राष्ट्रीयता के स्वतंत्र स्रोत के साथ तथा समाज के ऊपर तथा बाहर से खड़े रहने की योग्यता के कारण आधुनिकता लाने वाले बुद्धिजीवियों की सहायता से सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिए विकास के कार्यक्रमों की शुरुआत तथा पहल कर सकता है।

विकासशील उपायों के बारे उपर्युक्त विचार तथा इसके आधुनिकीकरण लाने वाले बुद्धिजीवियों की छठे दशक में ही परीक्षा ले ली गई। यह व्यापक रूप से महसूस किया गया कि प्रिंसटन के सिद्धान्तवादियों, जैसे पावेल, वर्बा, कोलमैन, पाई आइसेन्सवाद तथा विन्दर सहित अन्य अनेक सिद्धान्तवादियों ने हटिंगटन, विनर तथा संजय लाल जैसे उदार संस्थावादियों का अनुसरण किया जो संजातीय केन्द्रित/यूरोप केन्द्रित थे और शोषण की नव-उपनिवेशवादी व्यवस्था को छिपाने के लिए सैद्धान्तिक आवरण रखते थे। इस विचारधारा की परिधि पर रहने वाले आलोचकों ने आधुनिक राज्य की धारणा को अलोकतांत्रिक होते हुए महसूस किया क्योंकि इसे परम्परावाद के खिलाफ आधुनिक क्षेत्र के प्रति तरजीही बर्ताव देना था। नव मार्क्सवादियों, सक्रिय कार्यकर्ताओं तथा नारिवादियों ने जोरदार तर्क दिया है कि जिनकी आजीविका परम्परागत क्षेत्र पर निर्भर है या जिनकी संस्कृति और समाज उन पर समर्थन नहीं दिया जाना चाहिए। राष्ट्रीय हित की दुहाई देने वाले दावे के बारे में प्रश्न उठाया गया क्योंकि इस बात के पर्याप्त सबूत थे जो राज्य की व्यवस्था

का संचालन करते हैं - आधुनिकीकरण के शब्दों में बुद्धिजीवी - वे प्रायः तरीकों में लिप्त होने से काफी हद तक व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करते थे और इस रूप में प्राप्त करते थे कि उसे सामान्य राष्ट्रीय हित में नहीं देखा जा सकता।

सामाजिक परिवर्तन अथवा आर्थिक सुधारों अथवा राजनीतिक परिवर्तन के अभिकारक के रूप में राज्य को वैधता न देने के कारण एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के विकासशील राज्य के बारे में सैद्धान्तिकरण में प्रतिमान परिवर्तन आया। अब सैद्धान्तिक विषय में राज्य पर मुख्य ध्यान दिया गया।

5.5 परिधीय राज्य का सिद्धान्त तैयार करना: नव-मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

विकासशील समाजों में राज्य का विश्लेषण करने के लिए बाद में जो नव-मार्क्सवादी सिद्धान्त उभरा, उसमें बाह्य निर्धारकों को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया और कभी कभी उन्हें पूरा ही महत्व दिया गया, जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है। इस प्रक्रिया में विश्व पूँजीवाद के प्रति परिधीय राज्य के पूरक तथा अनुवांशिक संबंध को स्पष्ट करने के लिए उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के साथ उनके संबंधों के इतिहास पर भी बल दिया गया।

ए.जी. फ्रैंक, इमैन्युअल वालरस्टीन, अरीघिरी इमैन्युअल तथा रुईगारिनी ऐसे प्रथम व्यक्तियों में थे, जिन्होंने लैटिन अमेरिका में राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के बारे में निर्भरता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् समीर आमीन, ईसा शिवजी, कॉलीन स्पेईस, जायेल सैगोफ, महमूद मामडानी, माइकेल वान फ्री होल्ड तथा कुछ अन्य विद्वानों ने ठोस अध्ययन करने से पहले उत्तर उपनिवेशवादी अफ्रीकी राज्यों के संदर्भ में सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तवादियों का योगदान राजनीतिक वैशिष्ट्य को रेखांकित करने के मामले में है जो कि उदारवादी राजनीतिक विकास सिद्धान्त में विद्यमान नहीं था।

एंजिल्स द्वारा प्रस्तुत शोधपत्र पर आधारित राज्य की वर्ग प्रकृति पर जोर देते हुए एंजिल्स ने लिखा है कि राज्य बूर्जुआ या श्रमिक वर्ग का प्रथम तथा अग्रणी उपकरण है। इन अवर विकास/ विश्व प्रणाली सिद्धान्तवादियों ने एशियाई, लैटिन अमेरिका के राज्यों, अफ्रीका को पूँजीवाद संग्रह की प्रक्रिया तथा श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण में इन परिधीय अर्थव्यवस्थाओं की सहयोगी भूमिका के प्रशासन के लिए उपकरणों के रूप में देखा। निर्भरतावादी सिद्धान्तवादियों ने तर्क दिया कि पूँजीवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली है जो विश्व बाजार के जरिये तकनीकी रूप से विकसित तथा पिछड़े राज्यों के बीच आदान-प्रदान द्वारा परिभाषित होती है। मेट्रोपोलिटन राज्यों की तकनीकी तथा सैन्य उच्चता के कारण आसपास के छोटे राज्यों तथा विश्व अर्थव्यवस्था के देशों में प्रभुत्व शोषण तथा विकृति (अल्पविकसित) के परिणाम आएँ। असमान विनिमय की प्रक्रिया के जरिये परिधि से आर्थिक अधिशेष निकलता है। असमान विनिमय अत्याधिक मुनाफे की वापसी व्यापार की शर्तों में हास मेट्रोपोल तकनीकी के उपयोग के लिए एकाधिकार शुल्क तथा व्यापार तथा तटकर नीतियाँ जो कि अपने तथा विश्व बाजार पर परिधीय नियंत्रण नहीं होने देती है।

बाह्य राज्यों ने यह अनुभव किया कि स्वायत्त विकास के लिए उन्हें अतिरिक्त आवश्यक धन नहीं मिल पाता है और अग्रणी पूँजीवादी राज्यों में निवेश तथा उनके द्वारा इस्तेमाल किए गए आर्थिक अधिशेष स्वायत्त राष्ट्रीय बूर्जुआ के उपयोग के लिए उपलब्ध नहीं होते। स्पष्टतः उत्तर उपनिवेशकाल के राज्यों की अर्थव्यवस्था में उपनिवेशवाद की समाप्ति से बहुत मामूली परिवर्तन आया। महानगरीय मध्यवर्गीय का अप्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभुत्व जारी रहा है।

इस प्रकार निर्भरता के समर्थक सिद्धान्तवादियों के अनुसार एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के बाह्य राज्यों के लिए नए स्वरूप तथा नए आवरण महज देशी वर्गों के लिए पुनः उत्पादन की बुनियादी व्यवस्थाएँ जारी रहीं। ए.जी. फ्रैंक के शब्दों में 'विकासशील राज्य राष्ट्रीय पूँजी तथा श्रम और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के बीच आश्रित राज्य के रूप में काम चलाते हैं और ऐसा करने से स्थानीय श्रम को पूर्ण तिलांजली पर अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का लाभ पर्याप्त रूप से प्राप्त करते हैं। पूँजी संग्रह की प्रक्रिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन की आवश्यकताएँ, विश्वव्यापी तथा अवर-विकसित देशों में तथा विकासशील देशों के राज्य के स्वरूप की भूमिका के मुख्य रूप से निर्णायक होते हैं (ए.जी. फ्रैंक, *क्राइसिस इन दी थर्ड वर्ल्ड*, हैनिमैन, लंदन, 1961)।

क्या आश्रित राज्य कमजोर राज्य होता है या मजबूत राज्य? निर्भरता सिद्धान्तवादियों का तर्क होता है कि बाह्य राज्य में स्थानीय बूर्जुआ कमजोर होता है परन्तु आश्रित राज्य में अपेक्षाकृत मजबूत होता है। साम्राज्यवादी बूर्जुआ वर्ग के साथ राज्य के संबंध में निर्भर समाजों में सिद्धान्त भिन्न भिन्न होते हैं ताकि स्थानीय बूर्जुआ की तुलना में विकासशील विश्व का राज्य मजबूत हो परन्तु स्थानीय बूर्जुआ वर्ग अनेक मामलों में महानगर की साम्राज्यवादी बूर्जुआ व्यवस्था का कई अर्थों में माध्यम मात्र होता है।

लैटिन अमेरिका में निर्भरता के सिद्धान्तवादियों ने स्पष्ट किया है कि दो विभिन्न मॉडलों का इस्तेमाल करते हुए विकासशील देश नव-लोकतांत्रिक अधिनायक प्रकृति के होते हैं पहला राज्य पूँजीवादी मॉडल होता है इस मॉडल में, लोकतंत्र तथा अधिनायकवाद दोनों की अवधियों में सामाजिक वर्गों के बारे में राज्य उपकरण के प्रभावों की ओर तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाता है। आश्रित आर्थिक संबंध में कमजोर बूर्जुआ का अस्तित्व उत्पादन के लिए राज्यों के विस्तार के पूँजीवादियों के संदर्भ में अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक दशाएँ उत्पन्न करता है। राज्य पूँजीवादी विश्लेषकों का विचार है कि राज्य की भूमिका संग्रह प्रक्रिया के विशेष दौर की विशेषता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो महानगर केन्द्रों के प्रति आश्रित अर्थव्यवस्थाओं के संबंध के कारण संकट में रही है। इस प्रकार बाह्य राज्य न केवल वितरण और उत्पादन में सम्मिलित होते हैं बल्कि महानगर राज्य उनके बूर्जुआ वर्ग के साथ भी आपसी सम्पर्क करते रहते हैं।

इस उपर्युक्त उद्देश्य के साथ आश्रित राज्य एक ऐसा राज्य बूर्जुआ - नया वर्ग पैदा करना चाहता है जिसके हित प्रत्यक्ष स्वामित्व की अपेक्षा संसाधनों के साथ शक्ति से जुड़े हों यह राज्य बूर्जुआ नागरिक समाज के वर्ग हित के अफसरशाह प्रतिनिधियों की अपेक्षा राज्य की सेवा करता है।

तानाशाह आश्रित राज्य के साथ दूसरी माडल ऐसा होता है कि उसकी जड़ें कारदोसो, फालेटो, तथा ओडोनेल के वर्ग संघर्ष के विचारों की जड़ों के मूल में होती हैं। ऐतिहासिक संरचना दृष्टिकोण को अपनाते हुए ये बाद के निर्भरता सिद्धान्तवादी वर्ग संघर्ष के संदर्भ में लैटिन अमेरिका के राज्यों में स्थित हैं - विश्व व्यवस्था में विकासों तथा संकटों द्वारा वे एक जैसे स्थित हैं। वे अफसरशाही अधिनायकवाद राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुए उसे प्रभुत्व की गारंटी देने वाला तथा संयोजक बतलाते हैं और प्रभुत्व के संयोजक तथा गारंटी देने वाले का दबदबा अल्पतंत्र तथा समुद्रपारीय बूर्जुआ वर्गों के उच्च गुटों के जरिये होकर चलता रहता है। इस वर्ग ने लोगों को आर्थिक दृष्टि से अलग-अलग करके नागरिक समाज के राजनीतिकरण का कार्य चला रखा है। बुनियादी ढाँचे के खास प्रकार के खर्च को सामाजिक क्षेत्र में सरकारी तौर पर खर्च करके लोगों को उसका लाभ उठाने और अन्तर विदेशी निवेश को प्रोत्साहन करने तथा राज्य अफसरशाही को लाभ पहुँचता है (उदाहरण के लिए सैनिक निर्माण तथा राज्य पूँजी निवेश)। विदेशी निवेश को प्रोत्साहन देता है।

इतना ही नहीं, पूँजी संग्रह का लाभ निजी पूँजी तथा राज्य निगमों के बड़ी राष्ट्रीय तथा विदेशी इकाइयों के लाभ के लिए होता है। अफसरशाही तथा अधिनायक शब्दों पर निर्भर राज्य सख्ती से श्रमिक यूनियनों तथा समूह संगठनों पर कड़ाई से नियंत्रण करता है। गैर-राजनीतिकरण पर दबाव देने के कारण राजनीतिक दलों के जरिये राज्य की राजनीति में पहुँच बता पाना असंभव हो जाता है। जो थोड़ी-बहुत पहुँच बाकी रह जाती है, वह व्यक्तिगत सम्पर्कों तथा अफसरशाही के भीतर तथा बाहर के लोगों के बीच संबंधों तक ही सीमित है।

इस प्रकार अफसरशाही अधिनायकवाद राज्य से अलग-थलग हो जाता है तथा राज्य की वैधता आर्थिक वृद्धि और खपत वाली सामग्री के बढ़ने पर निर्भर करती है और तकनीकी क्षमता तथा सामग्री खपत को वैधता पर निर्भर करती है जबकि श्रमजीवी तथा कृषक वर्गों को दमनकारी तरीकों के जरिये मौन रहने को बाध्य किया जाता है।

हम निम्नलिखित टिप्पणियाँ करते हुए निर्भरता से संबंध सिद्धवादियों के सैद्धान्तिक मतभेदों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं: अग्रणी राज्य की प्रकृति के साथ आश्रित राज्य की तुलना इसमें विदेशी पूँजी की भूमिका के कारण बिल्कुल भिन्न प्रकार से आश्रित राज्य तानाशाही रूप अपनाते हैं। विश्व प्रणाली का दबदबा स्थानीय बूर्जुआ वर्ग को ऐतिहासिक रूप से कमजोर रखता है, कमजोर स्थानीय बूर्जुआ अपना दबदबा स्थापित नहीं रख सकते इसलिए वे शक्ति भी बरकरार नहीं रख सकते (और विदेशी पूँजी के लिए अपनी अर्थव्यवस्था के लिए गारन्टी) भी राज्य के लोकतांत्रिक रूप से जरिये नहीं रख सकते हैं। विदेशी पूँजी तथा महानगरीय राज्यों की शक्ति तथा उसकी अनिच्छा लोकतांत्रिक राज्यों की लोकप्रिय असाम्राज्यवादी नियंत्रण को कम कर देती है और ऐसे अफसरशाही अधिनायकवादी व्यवस्था को कायम करने में सैनिकों का समर्थन करती है जो विदेश की वास्तविक शक्ति तथा स्थानीय पूँजी की ओर अपेक्षाकृत अधिक उन्मुख होते हैं।

निर्भरता के संबंध में सिद्धान्तवादियों के अनुसार आश्रित विकासशील राज्य का रूप वास्तव

में विदेशी पूँजी का कार्य होता है और इसे बाह्य समाजों से अतिरिक्त अधिशेष लेने की आवश्यकता पड़ती है। गुलिरमों-ओ-डोनेल ने तर्क दिया है कि लैटिन अमेरिका के राज्य तीन चरणों से होकर गुजरे हैं: बुद्धिजीवियों द्वारा आधिपत्य वाले अल्पतंत्र-राज्य जो निर्यात क्षेत्रों पर आश्रित हैं; जनप्रिय अवधि जिसके दौरान देशी मध्यम वर्ग आयात विकल्पों घरेलू मांग और शहरी वर्ग के साथ सहयोग पर निर्भर करता है और एक अफसरशाही तानाशाही दौर जिसमें आयात विकल्प में मंदी आ जाती है और महानगरीय पूँजी के साथ सैनिक तथा असैनिक तकनीशियनों का सहयोग हो जाता है और सत्तारूढ़ समूहों के विभिन्न संघ तानाशाही बुद्धिजीवी निगमों के एक वर्ग में शामिल हो जाते हैं।

निर्भरता के सिद्धान्त की एक बड़ी जटिलता हाल के वर्षों में आलोचना का शिकार हुई है, पहला, निर्भरता सिद्धान्तवादी पहले के उपनिवेशों तथा महानगरीय पूँजीपतियों के बीच सत्ता संबंधों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन स्वतंत्र रूप से गठित करने में विफल रहे हैं। दूसरा, विकासशील देशों के अंदर स्वदेशी मध्यम वर्ग का उत्थान एक नया कारक रहा है जिसकी आश्रित सिद्धान्तवादियों द्वारा उपेक्षा की गई है। तीसरा, यदि कोई इस विचार से सहमत हो जाए कि महानगरीय पूँजी आर्थिक प्रभुत्व कायम रखती है तो स्वदेशी वर्गों के लिए उसे किसी न किसी प्रकार की ढील देनी पड़ती है। महानगरीय पूँजी की प्रभुत्ववादी उपस्थिति द्वारा जो संरचनात्मक सीमाएँ बनती हैं, उनके संबंध में स्वदेशी पूँजीवादी वर्गों को सीमित तरीके से नीति के बारे में मुक्त चयन का अधिकार मिलता है। चौथा, निर्भरता सिद्धान्तवादी स्वदेशी वर्ग संघर्ष के संदर्भ में विकासशील राज्यों की स्थिति को समझने में विफल रहे हैं। विकासशील राज्य अधिशेष के हस्तांतरण के लिए मात्र एजेन्ट के रूप में उन्नत तरीके से कहे गए हैं जो कि वास्तविकता नहीं है। वर्ग निर्भरता के सिद्धान्तवादियों नीतियों के विभिन्न बाह्य राज्यों द्वारा अपनाए गए वास्तविक विकास मार्गों की विभिन्नताओं के बारे में बहुत कम ध्यान देते हैं। यह विचार की उत्पादन का सर्वव्यापी बाह्य पूँजीवाद विकासशील देशों में सभी विकास कार्यों को वस्तुतः अवरुद्ध कर देता है पूर्व एशियाई विकास के अनुभवों के संबंध में भी इस पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। बिलवाइन तथा संजय लाल जैसे मार्क्सवादी विद्वान तो इस हद तक तर्क देते हैं कि उपनिवेशवाद एक लक्ष्य हैं और कई विकासशील देश अपेक्षाकृत मजबूत स्थिति में हैं, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद अब और परोपजीवी नहीं रह गया है बल्कि अपेक्षाकृत प्रगतिशील है जैसा कि एशियाई राज्यों के संबंध में मार्क्स ने एक बार तर्क दिया था।

यह सही ही कहा गया है कि *विकासशील राज्य न तो नव-उपनिवेशवाद के प्रभुत्व का माध्यम है न तो पूँजीवादी वर्ग का उपकरण जैसा कि निर्भरता पर जोर देने वाले सिद्धान्तवादी हमें विश्वास दिलाते हैं।* हालांकि यह विचार उन्होंने शुरू किया था ये सत्ता संरचना बन गया था और यह न तो पूँजीवादी संग्रह का कार्य करता था जैसा कि मार्क्सवादी वर्ग सिद्धान्त में कहा गया था न तो यह महानगरीय पूँजी के लिए पूरी तरह लागू था केवल उन स्पष्ट समाजों में जहाँ की वर्गों के लिए द्वारपाल जैसी विचित्र धारणा लागू की जा सकती है। महानगरीय पूँजी के साथ निर्धारण राज्य के तत्वों में से एक था जैसा कि स्वदेशी पूँजीवादी वर्ग की अनुक्रिया थी इसे विकसित कर लिया था। हालाँकि राज्य स्वयं सत्ता की संरचना के रूप में उभारता है (नीरा चन्दोक, लिमिट्स ऑफ कम्पैरेटिव पॉलिटिकल एनेलिसिस, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 27 जनवरी 1995)

पृष्ठ 66)। मूल तथा बाह्य देशों के बीच सम्बंधों के असमान आदान-प्रदान पर अत्यधिक जोर देते हुए निर्भरता पर जोर देने वाले सिद्धान्तवादियों ने गलती से भौगोलिक इकाइयों के साथ मार्क्सवाद वर्गों की समानता दिखाई है और विकासशील देशों की समानता दिखाई है और विकासशील देशों की असमानता तथा गरीबी की समस्या को बाह्य राज्यों के लाभकारी वर्ग विश्लेषण की संभावना जैसे जो बना दिया है वह अत्यंत ही असंभाव्य है। यह इसलिए भी अधिक था क्योंकि निर्भरता के सिद्धान्तवादियों के बहुत बड़े परिप्रेक्ष्य में ठोस स्तर पर इन भेदों का अन्तर कर पाना दुश्कर हो गया।

5.6 उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य से संबद्ध वर्ग

1970 के दशक में निर्भरता सिद्धान्त का स्पष्टीकरण की दृष्टि से अपनी प्रमुखता नहीं बना सका उन लोगों के लिए अपेक्षाकृत अधिक अवसर उभरे जिन्होंने एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के विकासशील समाजों में राज्य तथा वर्ग के बीच संबंध की जाँच को बेहतर माना। दक्षिण एशिया के संबंध में लिखते हुए हमजा आल्वी ने इस संबंध में अग्रणी कार्य किया। आल्वी ने उत्तर उपनिवेशवादी समाजों के ऐतिहासिक वैशिष्ट्य के बारे में अपने राज्य का सिद्धान्त तैयार किया उन्होंने इसे उपनिवेशवादी दबदबे तथा बहुत दिनों के इतिहास, संस्कृति तथा इन समाजों की परम्परा द्वारा संरचनात्मक परिवर्तनों से इसे उद्भूत बताया। बाह्य पूँजीवाद के अंतर्गत उत्तर उपनिवेशवाद की प्रकृति के उनके सैद्धान्तिकरण की उनकी ईसा शिवजी, जॉन सॉल और कॉलिन लिज जैसे अफ्रीकी नव-मार्क्सवादियों ने सराहना की।

आल्वी का प्रमुख विचार यह है कि उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य अपने अत्यधिक विकसित संरचना के कारण नागरिक समाज तथा राजनीति पर प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। उत्तर उपनिवेशवादी राज्य के दमनात्मक तथा सैद्धान्तिक उपकरण (अग्रिम पूँजीवादी देशों में अपने प्रतिपक्षियों की तुलना में) अत्यधिक विकसित होने के कारण सभी स्वदेशी सामाजिक शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। आल्वी ने उपनिवेशों में चल रहे उपनिवेशवादी पूँजीवादी विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को इसका श्रेय दिया है। उपनिवेशवादी राज्य शक्तिशाली सैनिक अफसरशाहों की व्यवस्था से सज्जित, शक्तियों की व्यवस्था तथा संस्थागत प्रणाली के विनियमन तथा स्वदेशी समाजों का नियंत्रण करता था।

उचित विकसित पूँजीवादी वर्ग के न होने के कारण इस संबंध में उपनिवेशवादी तथा उत्तर-उपनिवेशवादी के बीच में आल्वी ने ऐतिहासिक साम्यता को रेखांकित किया है जिसके कारण उत्तर-उपनिवेशवादी राज्यों में अफसरशाही सैनिक अल्पतंत्र लगभग सामान्य विशेषता हो गया है।

इसके बाद यह तर्क दिया गया है कि उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य किसी एक ही वर्ग का उपकरण नहीं है। यह अपेक्षाकृत स्वायत्त वर्ग है क्योंकि इसमें राज्य के तंत्र की प्रकृति का अत्यधिक विकास हो गया है और यह तीन प्रभुत्व वाले वर्गों महानगरीय मध्यम वर्ग, देशी मध्यम वर्ग तथा प्रतिस्पर्धात्मक हितों वाले भू-स्वामी वर्ग की ओर से कार्य करता है तथा मध्यस्थता करता है। इस प्रकार उत्तर उपनिवेशवादी राज्य को सामाजिक व्यवस्था

संरक्षित करने का कार्य सौंपा जाता है जिसमें सत्तारूढ़ वर्गों का हित निहित रहता है।

आल्वी से एक दूसरा पूरक विचार भी मिलता है जिसमें उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य की केन्द्रीयता को स्पष्ट किया गया है। उपनिवेशवाद की समाप्ति के समय उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य को एक नई तथा अपेक्षाकृत स्वायत्त आर्थिक भूमिका प्राप्त हुई जोकि वर्ग बूर्जुआ राज्य में जिसकी समानान्तर कोई बात मौजूद नहीं थी क्योंकि उत्तर-उपनिवेशवादी समाज में राज्य सीधे आर्थिक अधिशेष वाले बहुत बड़े हिस्से तक पहुँचता है और अपने अफसरशाही के जरिये आर्थिक कार्यकलापों को दिशा देता है। राज्य के लिए स्वतंत्र आर्थिक आधार सार्वजनिक खर्च के बड़े पैमाने पर व्यवस्था कायम की और उसे स्वायत्त आर्थिक भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया।

आल्वी और सॉल के अनुसार एक अन्य कारक भी है जो उत्तर उपनिवेशवाद के समाजों में राज्य के निर्णायक महत्व को परिभाषित करता है। वे प्रादेशिक एकता, वैधता और राष्ट्रवाद की भावना पैदा करने के लिए राज्य के विशेष आदर्शवादी कार्य का उल्लेख करते हैं। विशेषकर सॉल ने तर्क दिया है कि विकसित पूँजीवादी प्रणाली के लिए सैद्धान्तिक मजबूती प्रदान करने के लिए राज्य के कार्य में आर्थिक परिवर्तन को भी साथ-साथ तैयार किया गया है। लेकिन उपनिवेशवाद उत्तर समाजों में, प्रादेशिक सीमाओं की कृत्रिम प्रकृति की स्थिति में एक बार शक्तिशाली प्रत्यक्ष उपनिवेशवादी शक्ति के चले जाने के बाद इस प्रकार की दबदबा बनाने वाली स्थिति को पैदा किया गया था।

आल्वी और उपनिवेशवाद के बाद के अन्य राज्य सिद्धान्तवादियों के अनुसार ऊपर के तीनों कारकों को एक साथ ले लेने पर उत्तर उपनिवेशवादी सामाजिक संरचनाओं के लिए राज्य की केन्द्रीयता अधिक उजागर होती है। इस प्रकार की उच्च सापेक्ष स्वायत्तता की स्थिति में राज्य की नीतियों के निर्धारण करने के मामले में अफसरशाही अपने अधिकारों को लेकर एक प्रमुख घटक के रूप में सामने आती है।

ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में अफसरशाही की विशेष भूमिका के बारे में अनेक मार्क्सवादियों ने विशेष ध्यान देते हुए विश्लेषण किए हैं बहस का यह हिस्सा दो दृष्टियों से जटिल और प्रश्न करने लायक है। पहला, अफसरशाही या अल्पतंत्र एक विशेष श्रेणी या विशेष वर्ग माना जाता है। अब बात की स्थिति में यह स्पष्ट नहीं है कि अपने वर्ग उत्पत्ति की गुणवत्ता के आधार पर क्या वे सदस्य एक वर्ग का गठन करते हैं या क्योंकि वे अफसरशाही से संबंध है दूसरा, राज्य के उपकरण और राज्य की सत्ता के बीच भेद हमेशा स्पष्ट नहीं होता है ऐसी स्थितियों में राज्य की शक्ति को अफसरशाही वर्ग से संबंध मान लिया जाता है तब प्रश्न यह उठता है कि क्या अफसरशाही को एक वर्ग माना जा सकता है?

उपर्युक्त संदर्भ में हम निकोस पोलंतजास के विचारों का उल्लेख कर सकते हैं जिनमें वह तर्क देता है कि अफसरशाही किसी वर्ग का गठन नहीं करती है, यह एक सामाजिक श्रेणी बनी रहती है जिसे सामाजिक समष्टि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसकी मुख्य विशेषता अन्य आर्थिक विषयों की अपेक्षा राजनीतिक संरचनाओं के संदर्भ में विशेष संबंध पर आधारित है। पोलंतजास का विचार है कि जिन समाजों में उत्पादन

का संबंध पूँजीवादी स्वरूप नहीं ग्रहण कर चुका है राज्य का मध्यम वर्ग अपने लिए एक विशेष स्थान स्थापित करने में सक्षम रहता है परन्तु इस मामले में भी अफसरशाही के आधार वर्ग का गठन नहीं करता है बल्कि एक प्रभावी वर्ग होने के कारण ही वह एक वर्ग बनता है।

आल्वी के विश्लेषण में यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि वह सैनिक-अफसरशाही तंत्र को राज्य के प्रशासकीय उपकरण या राज्य को शासन करने की शक्ति के आधार पर एक वर्ग मानता है जैसा कि ऊपर विचार किया जा चुका है, वह सैनिक तथा अफसरशाही की ऐतिहासिक विशिष्ट भूमिका का उल्लेख करता है जो उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य के उपकरण का रूप लेती हैं, लेकिन उसके विचार में अल्पतंत्र राजनीतिज्ञों के माध्यमों से शासन करना बेहतर मानता है जहाँ तक कि वे अपनी सापेक्ष स्वायत्तता और शक्ति कायम रख सकें।

पूर्वी अफ्रीका के संदर्भ में सॉल ने तर्क दिया है कि देशी वर्ग गठन की स्थिति में थे और इस मामले में वे उन एशियाई समाजों की तरह नहीं थे जो निर्धारित वर्ग हित नहीं रखते थे। यह उपनिवेशी राज्य की दमनात्मक नीतियों के कारण था। इस प्रकार सॉल तर्क देता है कि देशी वर्गों के हितों को पूरा करने के लिए राज्य के अफसरशाही के पास बहुत कम संभावना रह जाती है। वास्तव में, अफ्रीका जैसे उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य अफसरशाही देशी मध्यम वर्ग की स्पष्ट अक्षमता को देखते हुए राज्य की नीतियों को तैयार करने में निर्णायक भूमिका निभाने लगती है और प्रभुत्वशाली सत्तारूढ़ वर्ग में उभर जाती है जो राज्य की अफसरशाही को शासक वर्ग के दर्जे को उपभोग करने की अनुमति दे देती है।

उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य के अफसरशाही को केन्द्रीय भूमिका दिए जाने का नव-मार्क्सवादियों जैसे जी. ए. मान तथा लेनजिनडोर्फर, जॉयल सामोफ, पीटर इवान्स तथा सजेन्तेस ने भी अनुमोदन किया है। जी. ए. मान तथा लेनजिनडोर्फर ने तर्क दिया है कि राज्य अफसरशाही (प्रशासकीय अफसरशाही) अपनी गहरी दिलचस्पी के कारण राज्य की आय के वितरण को लेकर एक सामाजिक इकाई की तरह लगातार संघर्ष में लिप्त हो जाती है। विकसित राजनीतिक संस्थाओं के अभाव में एक ऐसी स्थिति बन जाती है जिसमें राज्य की अफसरशाही अपने वर्ग हितों के कारण राजनीतिक अन्तराल को भरने के लिए राष्ट्र से बाहर की पूँजी और दिलचस्पी लेने वाले समूहों के बीच मध्यवर्ती हेसियत से काम करने लगती है। इवान्स के तर्कों के अनुसार राज्य अफसरशाही ऐसी शक्ति ग्रहण का लेती है जिससे वह न केवल अर्थव्यवस्था की सामान्य स्थिति का नियमन और निर्धारण करने लगती है बल्कि राज्य के अधिशेष को वितरक व्यवस्था का भी रूप ले लेती है। इसके दुलमुल वर्ग हित या तो राष्ट्र से बाहर की पूँजी के साथ अथवा लोकप्रिय आधार सहित स्थानीय वर्ग के साथ गठजोड़ या सम्पर्क साधने में सक्षम बना देते हैं।

जहाँ तक राज्य के बूर्जुआ वर्ग की संघटन का सवाल है, सजेन्तेस ने तर्क दिया है कि राज्य के बुद्धिजीवी वर्ग में सिविल अधिकारी, प्रबंधक, प्रशासक, अफसरशाह कुछ बुद्धिजीवी तथा सशस्त्र सेना के अधिकारी शामिल होते हैं।

धारणा की यह भिन्नता की अफसरशाही एक स्पष्ट अलग वर्ग की होती है, शिवजी मिलयसॉक्स, तथा मामदानी के लेखों में पाई जाती है। उत्तर उपनिवेशवादी अफ्रीका के संदर्भ में लिखते हुए उन्होंने तर्क दिया है कि जहाँ देशी बुर्जुआ वर्ग असामान्य रूप से कमजोर है और राज्य अपेक्षाकृत मजबूत है वहाँ राज्य अफसरशाही ने आर्थिक अधिशेष का विनियोजन और संग्रह किया। इस अफसरशाही की वर्ग उत्पत्ति मध्यम तंत्र में होती है और उनके हितों के लिए कार्य करती है दूसरी ओर इस अफसरशाही बुर्जुआ ने भी राज्य के संसाधनों और अंगों का विनियोजन भी किया।

हम उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श कर सकते हैं। तीन वर्गों को जैसे महानगरीय मध्यम वर्ग देशी मध्यम वर्ग तथा जमींदार कृषक वर्ग को आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशाही मान सकते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वे राजनीतिक दबदबा या राज्य के कार्मिकों/अफसरशाही मध्यम वर्ग/ लघु बुर्जुआ वर्ग को सत्तारूढ़ या प्रशासकीय तत्व के रूप में राजनीतिक प्रक्रिया में सबसे सक्रिय तथा सरकार की सत्ता पर अधिकार रखने वाला मान सकते हैं।

यहाँ इस बात पर जोर देने की आवश्यकता है कि नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तिकों के लेखों में आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली वर्गों को आमतौर पर ऐसे वर्ग के रूप में माना जाता है जिनकी पुनःउत्पादन आवश्यकताएँ सामाजिक संरचना के समग्र आर्थिक ढाँचे का अन्ततः निर्धारण करती है। लेकिन राजनीतिक प्रभुत्व को राज्य के उत्पादन के रूप में समझा जाना चाहिए और आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली वर्गों की सामान्य पुनःउत्पादक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर विशेष नीति निर्धारक के रूप में भी माना जाना चाहिए।

पहले के अनुभागों में हम राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर विचार कर चुके थे। मार्क्स और एंजिल्स पर फिर से दृष्टिपात करते समय यह तर्क दिया जाता है कि सामान्य स्थिति में राज्य आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व वाले सामाजिक वर्ग के उपकरण के रूप में कार्य करता है लेकिन उन्होंने यह भी तर्क दिया कि कुछ ऐतिहासिक अनुमानों में राज्य को सापेक्ष स्वायत्तता प्राप्त है। पहला, जहाँ किसी खास उत्पादन पद्धति के अनोखे विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक वर्गों का उत्पादन कम रहा है। उपनिवेशवाद पूर्व एशियाई राज्य तथा औपनिवेशिक राज्य के साथ कमोबेश यही स्थिति रही है। दूसरा, जहाँ राज्य एक वर्ग के खिलाफ दूसरे वर्ग का इस्तेमाल करते हुए सापेक्ष स्वायत्तता प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से हमें उत्तर-उपनिवेशवादी सामाजिक संरचना की जानकारी मिलती है जैसा कि पहले विश्लेषण किया जा चुका है, उत्तर उपनिवेशवादी राज्य सिद्धान्तकारों द्वारा यह तर्क दिया जा चुका है कि ऊपर लिखित तीनों सत्तारूढ़ वर्गों के भिन्न-भिन्न संरचनात्मक आधार और प्रतिस्पर्धात्मक वर्ग हित है। इस जटिल वर्ग संरचना के संदर्भ में जहाँ कोई भी खास वर्ग प्रमुख नहीं है और राज्य तथा इसके कार्मिकों को विरासत में मिले राज्य की व्यवस्था के भीतर अपने तरीके से कार्यवाही करने के लिए व्यापक क्षेत्र उपलब्ध है तथापि राज्य के बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका केवल सापेक्ष रूप से स्वायत्त है क्योंकि यह वर्ग समाज की संरचना के बाहर से नहीं निर्धारित होती बल्कि भीतर से निर्धारित होती है जिनका निजी सम्पत्ति की संख्या पर आधारित व्यवस्था को सुरक्षित रखने का स्पष्ट उद्देश्य है।

ऐतिहासिक सूझ बूझ के महत्व को रेखांकित करने के लिए सैद्धान्तिक विशिष्टता की योग्यता के बावजूद उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य सिद्धान्तवादी निर्भरता के सिद्धान्तवादियों की ही तरह विफल रहे और एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के विभिन्न देशों के स्पष्ट उपनिवेशवादी अनुभवों से कुछ विचार ग्रहण करने में विफल रहे, जैसा कि नीरा चण्डोक ने लिखा है, 'विभिन्न देशों ने उपनिवेशवाद के अपने विशेष अनुभवों, रहस्यों के अपने इतिहासों, विरोध की परम्पराओं, विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्तों, बौद्धिक अवदानों तथा भविष्य की विभिन्न कल्पनाओं के आधार पर अनेक प्रचार के उपनिवेशवादी संघर्षों को देखा था। और स्वतंत्रता के बाद विभिन्न देश संस्थाओं के निर्माण के विभिन्न मार्गों, वैद्य सिद्धान्तों को पैदा करते हुए राजनीतिक गतिशीलता की पद्धतियों और राष्ट्र राज्य परियोजनाओं का सहारा लिया (नीरा चन्दोक, लिमिट्स ऑफ कम्परेटिव पॉलिटिकल एनेलिसिस, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 27 जनवरी 1995 पृष्ठ 5)।

स्वाभाविक रूप से पिछले दो दशकों के दौरान विश्लेषण के विश्व संरचना के आधार पर विकासशील समाजों में राज्य के सामान्य सिद्धान्तों को व्यक्त करने की किसी भी कोशिश को निरुत्साहित किया गया है। तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण के सार्वभौम आमूर्त वर्गों के बारे में आधुनिकीकरण/विकास तथा निर्भरता और उसके बाद उत्तर उपनिवेशवादी राज्य सिद्धान्तवादियों ने स्थानीय विशेष तथा राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रचलनों में दर्शित खास अध्ययनों द्वारा विस्थापित की गई है इस प्रकार राज्य की प्रकृति का विश्लेषण करने से पहले अपेक्षाकृत अधिक कठोर ऐतिहासिक सूझ-बूझ को सामने लाने का प्रयास किया जा रहा है।

5.7 सारांश

उदार आधुनिकीकरण तथा राजनीतिक विकास सिद्धान्तवादियों ने स्वीकार किया कि विकासशील समाज पश्चिम की उन्नत पूँजीवादी लोकतांत्रिक संस्थाओं में दृष्टा विकास के आदर्श प्रतिमान की ओर अग्रसर हैं। उसके बाद वे उन चरणों के विश्लेषण की ओर बढ़े जो उत्तरी अमेरिका के व्यक्तिगत/मनोवैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी, वित्तीय तथा संस्थाओं के स्तर पर पश्चिमी अनुदान की सहायता से यह घटित हुआ। आर्थिक तरीके के विश्वास के सिद्धान्तवादियों ने अपनी परिकल्पना में राज्य को सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तन का एक अव्यक्तिक वाहक माना। यह इस प्रक्रिया को आधुनिक बुद्धिजीवियों के मार्ग निर्देश की आवश्यकता है। विकास सिद्धान्तवादियों ने स्थिरता का अनुसरण करने वाली ऐसी बुद्धिजीवी धारणा का विरोध करने वाली सामाजिक ताकतों का न केवल अवमूल्यन किया बल्कि उन्हें विकास के राज्य मॉडल के लिए पूर्व शर्त बताया। इतना ही नहीं यह विडम्बना की ही बात है कि राजनीतिक व्यवस्था के बारे में किसी भी विचार विमर्श से राज्य को पहले से ही अलग कर लिया।

दूसरी ओर, नव-मार्क्सवादी निर्भरता सिद्धान्तवादियों ने यह स्वीकार किया कि साम्राज्यवाद के आदर्श प्रकार की यूरोपीय या विकास के आत्मकेन्द्रित प्रतिमान को उभरने से ही रोक दिया। आर्थिक और नियतवादी विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उपनिवेशवाद के ऐतिहासिक दबावों के मुकाबले निर्भरता की बाह्य प्रकृति तथा उत्तर-उपनिवेशवादी युग

में असमान विश्व पूँजीवादी प्रणालियों के उभरने को कारक बताया। विकसित पूँजीवादियों के विकास तथा विकासशील राज्यों के महानगरीय क्षेत्रों में विकासशील देशों के अवर विकास की कीमत पर स्थान बनाया। इसके बाद नीति नियामन के लिए क्षेत्र की निर्भरता के असमान संबंधों की कटु आलोचना की गई तथा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के महत्व को कम बताया गया। कम विकसित राज्यों के लिए एक मात्र तरीका था, सत्ता की वैश्विक संरचना से अलग रहना ताकि कम विकसित राज्य निर्भरता के मजबूत संरचना से प्रगति कर सके। जब तक ऐसा नहीं होता तीसरी दुनिया के आश्रित राज्यों को महानगरीय पूँजी तथा इसके घरेलू अधोरेखणों का उपकरण बने रहना होगा। राजनीतिक व्यवस्था के सत्तावादी रूपों के अब हासिये पर और कम हो जाने की संभावना है।

पूर्व एशियाई देशों में जिन्होंने पूँजीवादी मॉडल को अपनाया, वहाँ बाह्य या आन्तरिक रूप से अत्यधिक तेज गति से विकास हो रहा है। वर्ग निर्भरता से संबंध सिद्धान्तवादियों के मुख्य शोधपत्रों में बताया गया है कि विकासशील देशों में पूँजीवादी विस्तार के कारण कम विकास हुआ है और 'वास्तविक' विकास और संभव होने की बात दिनोदिन प्रश्नचिह्न के अंतर्गत आने लगी है।

इसके परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत सैद्धान्तिकरण में बढ़ोतरी हुई जो सामान्य स्तर के आर्थिक प्रतिमानों और बाह्य कारकों से आन्तरिक वर्ग संबंधों के विस्तृत विश्लेषण की ओर स्थानांतरित हो गई। इन सिद्धान्तवादियों ने तर्क दिया कि विकासशील समाज में राज्य ने असामान्य रूप से उच्च स्तर की स्वायत्तता का प्रदर्शन किया है जटिल वर्ग संरचना का तात्पर्य यह हुआ कि कोई एक प्रभुत्व वाला सत्तारूढ़ वर्ग नहीं रहा और राज्य को मध्यस्थता का कार्य करना पड़ा। साथ ही राजनीतिज्ञ और अफसरशाह पूँजीवादी विरासत के हिस्से के रूप में प्राप्त अत्याधिक विकसित राज्य संरचनाओं और संगठनों का उपयोग कर सकते थे।

5.8 बोध प्रश्न

1. समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य के सिद्धान्त के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
2. राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
3. राज्य के बहुलवादी उदार सिद्धान्त के प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिए।
4. टिप्पणी करें - 'विकासशील समाजों में राज्यों की संरचना अनोखी प्रकार की है'।
5. उदार तथा मार्क्सवादी दोनों ही परम्पराओं में राज्य के सिद्धान्तों के सैद्धान्तिक मतों की व्याख्या कीजिए।
6. नव मार्क्सवाद से आप क्या समझते हैं?
7. आश्रित राज्य के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 6 नागरिक समाज और राज्य

संरचना

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 नागरिक समाज का अर्थ और स्वरूप
- 6.3 लोकतंत्र और नागरिक समाज
- 6.4 नागरिक समाज की उल्लेखनीय विशेषताएँ
- 6.5 नागरिक समाज और राज्य
 - 6.5.1 राज्य-नागरिक समाज संबंध: विकासवादी परिप्रेक्ष्य
- 6.6 प्रमुख अंशदाता
 - 6.6.1 प्रतिकूलक तत्व
 - 6.6.2 श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्री
 - 6.6.3 हेजल: नागरिक समाज और राज्य
 - 6.6.4 नागरिक समाज के बारे में मार्क्स के विचार
 - 6.6.5 नागरिक समाज के बारे में ग्रामस्की के विचार
- 6.7 नागरिक समाज विवेचना की समसामयिक सार्थकता
- 6.8 सारांश
- 6.9 बोध प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

लोकतंत्र अपने उदार बहुलतावादी रूप में समाज का एक आदर्श माना जाता है। लेकिन प्रश्न यह है कि किस प्रकार का नागरिक समाज आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणाली के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है? नागरिक समाज के इस अवधारणीकरण के लिए राज्य और समाज के सम्बंध पर केन्द्रित पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा की लम्बी परम्परा की ओर जाना होगा। राज्य के स्वरूप को समझते हुए अपने सामाजिक आधार पर इसकी समझ आवश्यक है। लोकतान्त्रिक स्वरूप भागीदारी जबाबदेही और नागरिकों के अधिकारों के आदर्शों पर आधारित होता है और लोकतान्त्रिक पद्धति की आधारशिला के रूप में नागरिक समाज की धारणा में केन्द्रित है तब, नागरिक समाज का अर्थ क्या है और कोई व्यक्ति इसके स्वरूप तथा राज्य के साथ इसके कार्यों को किस प्रकार परिभाषित करता है। राजनीतिक चिंतन में नागरिक समाज में विचार का किस प्रकार उद्भव हुआ और राजनीतिक व्यवस्था के विकास के मार्ग में तथा विभिन्न दशाओं में वास्तविक राज्य व्यवस्थाओं के संचालन में यह किस प्रकार विकसित हुआ। भागीदारी वाली राजनीति की भावना और जबाबदेह सरकार और अधिकारों का सम्मान करने वाले राज्य की भावना को लेकर लोकतंत्र का विचार लगातार विस्तृत होता रहा है और सामयिक राजनीतिक विवेचना में इसे मूल रूप से स्वीकृति मिलती रही है। नागरिक समाज इसके सभी अर्थ

भेदों में पर्याप्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ध्यान आकृष्ट करता रहता रहा है। इसलिए इस इकाई में विचार-विमर्शों का उद्देश्य राज्य के सिद्धान्त के मूल तथ्यों की ओर और राज्य तथा नागरिक समाज के बीच सूक्ष्म अन्तरक्रियात्मक सम्बंध के जरिये लोकतान्त्रिक राजनीतिक सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास की ओर जाना होगा। इस परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से देखने पर यह राजनीतिक सिद्धान्त के बुनियादी निर्माण खण्डों को स्पष्ट करना चाहिए है इस इकाई के अंत में हम यह समझ सकेंगे कि 'नागरिक समाज के सिद्धान्त के बिना राज्य का कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता'। आइए, हम यह समझने का प्रयास करें कि नागरिक समाज का अर्थ क्या होता है।

6.2 नागरिक समाज का अर्थ और प्रकृति

नागरिक समाज की परिभाषा करना आसान नहीं है, क्योंकि यह इतिहास में विकास करती हुई एक अवधारणा है। प्रारंभ में ही, हम कह सकते हैं कि नागरिक समाज सामाजिक आत्म संगठन का एक ऐसा स्वरूप है जो राज्य के साथ सहयोग के लिए अनुमति देता है और साथ ही व्यक्तिकरण को समृद्धि प्रदान करता है। कोहन तथा अरातो (1997) ने इसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है:

“हम जानते हैं कि नागरिक समाज अर्थनागरिक समाज और राज्य के बीच सामाजिक अन्तरकार्य का एक क्षेत्र है और सभी परिचित क्षेत्रों विशेषकर (परिवार से) ऊपर है, संघों के क्षेत्र (विशेषकर स्वयंसेवी संघों) सामाजिक आन्दोलनों तथा सार्वजनिक संचार के रूप में इन सभी से ऊपर है। आधुनिक नागरिक समाज आत्मगठन के रूपों में तथा स्वयं गतिशीलता के जरिये पैदा होता है। यह कानूनों विशेषकर व्यक्तिगत अधिकारों जो कि सामाजिक भेदों को स्थिर करते हैं के जरिये साधारणीकृत होता है।”

साधारण शब्दों में, नागरिक समाज राज्य में अलग होते हुए भी एक समानान्तर क्षेत्र है। यह ऐसा क्षेत्र है जहाँ नागरिक अपने हितों तथा इच्छाइयों के अनुसार इकट्ठे होते हैं। यह “संगठित सामाजिक जीवन एक ऐसा क्षेत्र है जो स्वैच्छिक आत्मजनित, पर्याप्त रूप से आत्म समर्थित और वैध व्यवस्था तथा निर्धारित आपसी मूल्यों के द्वारा बंधा हुआ है। अपने कुटुम्बों के बाहर समाज के सदस्य अपने हितों का संवर्धन करने और सुरक्षा करने के उद्देश्य के लिए अनेक प्रकार के मध्यवर्ती संगठनों का गठन करते हैं।

इस सवाल के बारे में कोई एकरूपता नहीं है कि किस प्रकार के सामाजिक संगठन नागरिक समाज के दायरे के अंदर आने चाहिए तथापि परंपरागत रूप से जो संगठन नागरिक समाज के हिस्से के रूप में समझे जाते हैं उनमें गिरजाघरों, पड़ोसी संघों, निजी धर्मार्थ संस्थाओं निचले मूल समूहों तथा स्थानीय क्लबों को शामिल किया जा सकता है, उन सभी सामाजिक संगठनों को जो राज्य से स्वायत्त आत्म उत्पादन स्वैच्छिक तथा खुले हैं तथा साथ ही कानूनी व्यवस्था से बंधे हुए हैं। नागरिक समाज में स्वतंत्र मास मीडिया (mass media) तथा स्वायत्त सांस्कृतिक एवं बौद्धिक कार्यकलाप शामिल हैं। विश्वविद्यालयों, थियेटर्स, फिल्म सोसाइटियों, प्रकाशन गृहों तथा सामाजिक विचार से सम्पन्न बुद्धिजीवियों को नागरिक समाज का प्रमुख घटक माना जाता है। संक्षेप में यह मध्यवर्ती विशेषता है जो निजी क्षेत्र तथा राज्य के बीच स्थित है।

नागरिक समाज को सामान्य रूप से 'समाज' की अपेक्षाकृत व्यापक अवधारणा से भिन्न समझे जाने की आवश्यकता है क्योंकि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में सामूहिक रूप से कार्य करने वाले तथा व्यवहार करने वाले शामिल होते हैं जो अपने हितों विचारों तथा प्राथमिकताओं को व्यक्त करने के लिए सामूहिक लक्ष्य को हासिल करने के लिए और राज्य के बारे में माँग करने के लिए शामिल होते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन का सबकुछ नागरिक समाज में पूरी तरह समाहित नहीं हो सकता है।

व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन और अन्तरमुखी समूह गतिविधियों, जैसे धार्मिक पूजा आध्यात्मिकता आदि द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त संकीर्ण समाज को नागरिक समाज के दायरे में नहीं माना जाता। इसी प्रकार व्यक्तिगत कारोबार वाली फर्मों में उद्यम करके मुनाफा कमाने वाले रूप में आर्थिक समाज को भी नागरिक समाज के दायरे से बाहर माना जाता है।

नागरिक समाज को राजनीतिक समाज से भिन्न किए जाने की आवश्यकता है। लोकतंत्र में राजनीतिक दलों तथा अभियान दलों तथा संगठनों द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त संगठनों जो कि राज्य के नियंत्रण को प्राप्त करने के लिए आकांक्षा रखते हैं उनको भी राजनीतिक समाज से भिन्न समझा जाना चाहिए।

6.3 लोकतंत्र और नागरिक समाज

लोकतंत्र और नागरिक समाज जुड़वा जैसे हैं: वे एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। स्वस्थ उदारवादी लोकतंत्र के लिए लोकतंत्र को ऐसी जनता के समर्थन की आवश्यकता है जो "लोकतंत्र के लिए संगठित हैं, उसके सिद्धान्तों तथा मूल्यों के लिए समाजीकृत है तथा केवल लुभावने संकीर्ण हितों मात्र के लिए ही वचनबद्ध नहीं है बल्कि अपेक्षाकृत बड़े, सामान्य नागरिक उद्देश्य के लिए वचनबद्ध हैं।" लारी डायमण्ड के शब्दों में "इस प्रकार की सभ्य जनता प्रबुद्ध नागरिक समाज में ही संभव है।" (1999)

इस संदर्भ में अलैक्सीस डे टोकविले का उल्लेख किया जा सकता है, अमरीकी राजनीति या जीन की श्रेष्ठ रचनाओं में लोकतंत्र - नागरिक समाज की साँठगाँठ के लिए शोध कार्य की आधारशिला रखी। टोकविले की राज्य में अमेरिका का लोकतंत्र वहाँ के स्वयंसेवी संगठनों की विविधता तथा समृद्धि से टिकाऊ हो गया था। उनके विचार में स्वयंसेवी संगठनों ने विश्वास, सहनशीलता तथा समझौते जैसे लोकतान्त्रिक मूल्यों के विकास में सहयोग दिया। नव टोकविलेवादी नई पीढ़ियों में रॉबर्ट पुतनम जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उन्होंने 1990 के दशक से लोकतंत्र की भूमि जैसे नागरिक समाज की अवधारणा को पुनर्जीवित किया। इटली क्षेत्रों के राजनीतिक विकास के बारे में पुतनम का कार्य समृद्ध उत्तर बनाम कंगाल दक्षिण समृद्धशील सामाजिक पूँजी के शब्दों में उच्चतर संस्थाओं की सफलताओं को स्पष्ट करना चाहा जिसका तात्पर्य "विश्वास सिद्धान्त तंत्र जैसे सामाजिक संगठन की विशेषताएँ हैं।" पुतनम के अनुसार निजी तथा स्वयंसेवी संगठनों में शामिल होने की व्यक्तियों की प्रवृत्ति लोकतंत्र की प्रभाविता के लिए अपने आंतरिक तथा बाह्य परिणामों के लिए योगदान करती है, आंतरिक रूप से संघ सहयोग एकता तथा सार्वजनिक

उत्साह की आदतें डालते हैं, बाह्य रूप से माध्यमिक संघों का सघन तंत्र "प्रभावी सामाजिक सहयोग के लिए योगदान करता है।" पुतनम की धारणा सामान्य रूप से यह है जहाँ सामाजिक पूंजी नहीं है, लोकतंत्र फलफूल नहीं सका (1993)।

लोकतान्त्रिक संक्रमण तथा मजबूती के संदर्भ में नागरिक समाज के गुणों के सर्वाधिक व्यापक सैद्धान्तिक आंकलन के लिए 'डेवलपिंग डेमोक्रेसी' (विकासशील लोकतंत्र 1999) के बारे में हाल के लारी डायमण्ड की कृति "सिविल सोसाइटी इन डायमण्डस व्यू" लोकतंत्र के विकास गहनता तथा मजबूती को देखना होगा। प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए डायमण्ड लिखता है नागरिक समाज राज्य की शक्ति की सीमा के लिए आधार उपलब्ध कराता है, राजनीतिक सहभागिता को प्रेरित करने में दलों की भूमिका का पूरक बनता है, राजनीतिक सक्षमता और लोकतान्त्रिक कौशलों को बढ़ाता है। लोकतंत्र में जनसाधारण को शिक्षित करता है, राजनीति दल के बाहर मल्टी चैनलों की संरचना तैयार करता है और उनके हितों का प्रतिनिधित्व करता है और उन्हें समग्र रूप में अभिव्यक्ति करता है और उनके हितों को बोधगम्य बनने के लिए शक्ति प्रदान करता है। विभिन्न वर्गों के व्यापक हितों को पैदा करता है और राजनीतिक संघर्ष के ध्रुवीकरण द्वारा समाप्त करता है। नए राजनीतिक नेताओं को भर्ती करता है तथा उन्हें प्रशिक्षित करता है। संघर्ष की मध्यस्थता तथा उनके समाधान के लिए तकनीकों का विकास करता है। राज्य के लिए नागरिकों का सम्मान करता है और नागरिकों को राज्य के लिए सम्मान देता है और उसके लिए उन्हें सलंगन करता है तथा आर्थिक सुधार के लिए आवश्यक विचारों को प्रसार करता है।

लेकिन डायमण्ड ने कुछ दशाएँ निर्धारित की हैं, उन्हें लोकतंत्र के निर्माण कार्यों के लिए पूरा करने के वास्ते नागरिक समाज के लिए निर्धारित शर्तों को पूरा करना होगा। पहला, यदि नागरिक समाज में अधिकतमवादी समझौता न करने वाले तथा लोकतंत्र विरोधी लक्ष्यों और तरीकों के साथ समझौता न करने वाले हित समूहों अथवा उपसमूह के हितों के साथ नहीं है तो फिर लोकतंत्र के लिए अच्छी संभावना है। दूसरा, मजबूत नागरिक समाज की एक अन्य विशेषता है जिसे डायमण्ड ने कहा है "संगठनात्मक, संस्थागत संस्थानीकरण का स्तर"। जैसा कि वह तर्क देता है, "जहाँ हित संरचनाबद्ध, स्थिर तरीके से संगठित हैं, सहकारी तंत्र की वृद्धि तथा सौदेबाजी करने की सुविधा होती है। तीसरा, अन्य प्रमुख आवश्यकता है संगठनों का "आंतरिक लोकतान्त्रिक" स्वरूप जिसे "निर्णय करने वाले नेतृत्व चयन जबाबदेही और पारदर्शिता" द्वारा परिभाषित किया गया है।

6.4 नागरिक समाज की उल्लेखनीय विशेषताएँ

नागरिक समाज की पाँच प्रमुख विशेषताएँ, डायमण्ड के प्रस्तुतीकरण को निम्नलिखित रूप में रेखांकित किया गया है:

- i) नागरिक समाज का निजी लक्ष्यों की अपेक्षा सार्वजनिक लक्ष्यों से सम्बंध होता है।
- ii) नागरिक समाज और राज्य एक दूसरे के इस प्रकार सम्बंध होते हैं कि राज्य पर नियंत्रण या जीत

की जरूरत नहीं होती। नागरिक समाज का लक्ष्य होता है कि संगठनों के रूप में शक्ति का अधिग्रहण करने के बजाय शक्ति की संरचना में सुधार लाना।

- iii) नागरिक समाज बहुवाद तथा विविधता के आयाम को समाहित करता है। कोई संगठन जो एकाधिकारवादी की तरह शक्ति पर एकाधिकार करना चाहता है और राजनीतिक जगह को कब्जे में लेना चाहता है जो अपने सभी प्रतिस्पर्द्धियों को इजाजत देने से मना कर देता है, नागरिक समाज के बहुवादी तथा बाजारोन्मुखी प्रवृत्ति का उल्लंघन करता है।
- iv) नागरिक समाज किसी व्यक्ति या समुदाय के हितों के पूर्ण स्वरूप का प्रतिनिधित्व करना नहीं चाहता है। जो कुछ ऊपर कहा गया है, यह विशेषता उसका अनुसरण करता है। विभिन्न संगठनात्मक सम्बंधों वाले व्यक्तियों तथा विभिन्न संगठनों का आधिक्य स्वस्थ नागरिक समाज के काम-काज का स्पष्ट संकेत है।
- v) डायमण्ड के मतानुसार नागरिक समाज नागरिक समुदाय की विशेषताओं को बढ़ाने वाला है और यह स्पष्ट रूप से उससे भिन्न होना चाहिए। सामाजिक पूँजी के विचार के साथ-साथ नागरिक समुदाय का पुतनम का मॉडल नागरिक समाज की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा अपेक्षाकृत अधिक संकीर्ण दोनों ही अवधारणाओं वाला है, "मौटे तौर पर, यह संघों के सभी तरीकों को सम्मिलित कर लेता है, अपेक्षाकृत संकीर्ण रूप में यह केवल ऐसे संघों को शामिल करता है जो सम्बंधों के इर्द गिर्द क्षितिज रूप से बने हुए हैं और कमोबेश सहकारी एक रूप तथा विश्वास करने योग्य हैं।" तोकविले की तरह पुतनम ने सामान्य रूप में संघीय जीवन के महत्व को संवेदनशील बनाया है परन्तु नागरिक समाज अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत अवधारणा से युक्त है जो कि संघीय जीवन के सामान्य क्षेत्र को अधिक से अधिक व्यापक और सामान्य बनाता है। इस संदर्भ में इस बात पर अधिक जोर दिए जाने की आवश्यकता है कि "एक नागरिक समुदाय के निर्माण की कुंजी स्पष्ट रूप से सार्वजनिक या राजनीतिक उद्देश्य है या कोई संगठन है।"

6.5 नागरिक समाज और राज्य

राजनीतिक सिद्धान्त में दो ऐसी प्रवृत्तियाँ रही हैं जिन्होंने राज्य और नागरिक समाज के सम्बंधों को धुँधला बना दिया है। एक ऐसी प्रवृत्ति रही है कि सभी वस्तुओं के केन्द्र में राज्य को रखा गया है। राजनीति के श्रेष्ठ सैद्धान्तिकरण के दिनों से ही राज्य-केन्द्रित दृष्टिकोण के अंतर्गत राज्य को अनावश्यक रूप से अधिक प्रमुखता प्रदान की गई है और राज्य को एक विशेष प्रकार का संस्थागत प्रबंध माना गया है जो समाज के व्यक्तियों की क्षमताओं के विकास तथा अच्छे जीवन की पूर्णता को संभव बना देता है। इसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति के अन्तर्गत पृष्ठभूमि में पहुँचा देने और व्यक्तिगत उद्गम के प्रोत्साहन के लिए अनियंत्रित बाजार की लगाम थमा दी जाती है, निजी सम्पत्ति की पहले से ही प्रमुखता तथा अनियंत्रित प्रतिस्पर्द्धा ला दी जाती है। राज्य की ओर वापसी को नव-उदारवादी परियोजना और बाजार के प्रभुत्व को अनुमति देने वाली परियोजना के नागरिक समाज को सुविधा देना अपना उद्देश्य रखा है जो कि राज्य-केन्द्रित दृष्टिकोण के विपरीत है।

समाज के नियामक के रूप में राजनीतिक प्रथा की सीमाओं को निर्धारित करना चाहता है बदले में नागरिक समाज नागरिकों तथा व्यक्तियों द्वारा न्यायिक रूप से परिभाषित तथा अधिकारों से युक्त व्यक्तियों द्वारा निर्धारित क्षेत्रों की ओर ले जाता है। राजनीति के खुले प्रचार तथा इसके कार्य के लिए उत्तरदायी राज्य को धारण करने के लिए राजनीतिक भागीदारी नागरिक समाज का प्रमुख लक्ष्य है। चंडोक के शब्दों में राजनीति का आवश्यक तत्व है, बातचीत तथा राज्य के साथ संघर्ष। इसलिए "नागरिक समाज ऐसे तार्किक प्रवचन के उत्पादन की, स्थली बन जाता है।" "उस स्थल को रखो जहाँ राज्य के साथ समाज एक सम्बंध में प्रवेश करता है उसे नागरिक समाज के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" मुक्त संप्रेषण तथा प्रचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा संघों के गठन के अधिकार की विशेषताओं से युक्त नागरिक समाज का लोकतान्त्रिक सिद्धान्त में एक गौरवपूर्ण स्थान है। कोई राज्य लोकतान्त्रिक है या सर्वहारा उसकी प्रकृति के बारे में नागरिक समाज की राजनीति से सम्बंध जोड़कर ही समझा जा सकता है। पुनः नागरिक समाज का प्रभावकारी कार्य (जैसा कि नियंत्रण कार्य से अन्तर समझा जा सकता है) उसके लोकतान्त्रिक स्वरूप पर निर्भर करता है। लोकतान्त्रिक सिद्धान्त ने नागरिक समाज के महत्व को लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए एक पूर्व शर्त के रूप में माना है। चण्डोक के सुन्दर स्पष्टीकरण का अनुसरण करते हुए अब यह कहा जा सकता है कि राज्य की प्रकृति को नागरिक समाज की राजनीति से जोड़कर समझा जा सकता है। दोनों ही परस्पर एक बंधन से बंधे हुए हैं "नागरिक समाज के सिद्धान्त के बगैर राज्य का कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता, और इसी के अनुसार राज्य के सिद्धान्त के बिना नागरिक समाज का कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता।"

6.5.1 राज्य-नागरिक समाज संबंध: विकासवादी परिप्रेक्ष्य

राजनीतिक विचार का इतिहास वास्तव में राज्य-नागरिक समाज सम्बंध का इतिहास है जैसा कि अनेक राजनीतिक दार्शनिकों ने स्पष्ट किया है। इससे पहले की हम प्रमुख विचारकों के योगदान के बारे में विचार करें सामान्य जानकारी के लिए आइए अपने विचारों की प्रगति के बारे में संक्षेप में विवेचना करें। 'सिविल सोसाइटी' अर्थात् नागरिक समाज शब्द की उत्पत्ति प्राचीन ग्रीक (यूनान) राजनीतिक विचारों से हुई और जिनका उल्लेख सिसरो तथा अन्य रोमन विचारकों की कृतियों में मिला। परन्तु नागरिक समाज की राज्य के साथ समानता व्यक्त की गई आधुनिक रूप से नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) 18वीं शताब्दी के स्काटिश एण्ड कॉंटेनेन्टल एनलाइटनेमेन्ट में उभरा। थॉमस पेन से लेकर हेजेल तक अनेक राजनीतिक सिद्धान्तवादियों ने नागरिक समाज की अवधारणा करते हुए इसे राज्य से अलग किन्तु उसके समानान्तर माना उनके विचार में यही ऐसा क्षेत्र है जहाँ नागरिक अपनी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के साथ सम्बंध कर सकते हैं यह नया विचार उन नई आर्थिक वास्तविकताओं का प्रतिबिम्ब नहीं था जो निजी सम्पत्ति बाजार प्रतिस्पर्धा तथा बूर्जुआ वर्ग यानि मध्यमवर्गीय अभ्युदय के परिणामस्वरूप परिलक्षित हुआ। स्वतंत्रता के लिए माँग दिनों दिन बढ़ती ही जा रही थी जैसा कि अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्तियों में देखने को मिला।

19वीं शताब्दी के मध्य में नागरिक समाज के विचार को ग्रहण जैसा लगा क्योंकि

औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक और आर्थिक परिणामों ने सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् एन्टोनियो ग्रामस्की ने नागरिक समाज के विचारों का पुनर्जीवित किया और नागरिक समाज को स्वतंत्र राजनीतिक कार्यकलाप का विशेष केन्द्र और क्रूरता के खिलाफ संघर्ष के क्षेत्र के रूप में उसका वर्णन किया। तत्कालीन सोवियत संघ के साम्यवादी राज्यों तथा पूर्वी यूरोप में सामाजिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में उनके नियंत्रण का विस्तार हो गया। साम्यवादी राज्यों के ध्वस्त होने के बाद राज्य के नियंत्रण क्षेत्रों पर प्रश्न पूछे जाने लगे वास्तव में चेक हंगरियाई और पोलैण्ड के क्रान्तिकारियों ने नागरिक समाज का नारा बुलंद किया। उनके विचार में राज्य की वैधानिक संस्था के बाहर नागरिक समाज (चर्च) की संस्थाओं को फलने-फूलने की माँग की।

सोवियत प्रणाली के विघटन और पूर्वी ब्लाक के खंडित होने से विश्व भर में लोकतंत्र के लिए तथा लोकतंत्र की ओर अग्रसर होने के लिए अभूतपूर्व गतिविधियाँ चलाई जाने लगी। नागरिक समाज ने गैर राज्य संगठनों के संगठित होने की पहल को उत्तर-साम्यवाद प्रशासन की स्थितियों तथा विकसित पश्चिमी देशों जहाँ “पूंजीवादी आणवीकरण” दोनों ही वांछनीय सामाजिक पहल के रूप में उभरे, बड़ी जल्दी ही अस्वीकार्य हो गए थे। परम्परागत पार्टी प्रणालियों से थककर बहुत जल्दी ही लोगों ने अपनी दिलचस्पी बढ़ा ली और नए सामाजिक आंदोलनों (महिलावादी, पर्यावरण आन्दोलन) ने राज्य के नागरिक समाज पहल के लिए अवसरों के द्वार खोल दिए।

6.6 प्रमुख अंशदाता

अब हम उन प्रमुख अंशदाताओं की पहचान कर सकते हैं जिनके विचारों ने नागरिक समाज अवधारणीकरण को समृद्ध किया तथा राज्य-नागरिक समाज से सम्बंधित मुद्दों का स्पष्टीकरण किया।

6.6.1 प्रतिकूलक तत्व

यूनानियों की दृष्टि में राजनीतिक समाज मानव के लिए स्यंभायिक था इसलिए यूनानी राजनीतिक संस्कृति के लिए स्वतंत्र अस्तित्व रख पाने की जहाँ किसी व्यक्ति के लिए निजी गैर-राज्य क्षेत्र का विचार हो, कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। रोमन कानून के अनुसार व्यक्ति द्वारा निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण का प्रावधान किया गया। इस प्रकार राजनीतिक समुदाय के बाहर व्यक्तिगत अलग अस्तित्व के विचार को रोमन कानून में मान्यता दी गई।

आधुनिक रूप में, नागरिक समाज की अवधारणा के प्रारंभ को 17वीं और 19वीं शताब्दियों के आरंभ में देखा जा सकता है। सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के दो प्रमुख व्यक्तियों हॉब्स और लॉक को नागरिक समाज की अवधारणा तैयार करने के मामले में अग्रणी व्यक्तियों के रूप में मना जा सकता है। लॉक ने राज्य की स्थिति के विरोध में राजनीतिक या नागरिक समाज के बारे में लिखा। हॉब्स और लॉक दोनों ही ने प्रकृति के राज्य के अवधारणात्मक विरोधों में एक नागरिक समाज का निर्माण किया। नागरिक समाज एक

कृत्रिम सृजन है जहाँ प्रकृति का राज्य मानव के प्राकृतिक रूप में रहने की पूर्व नागरिक समाज की स्थिति में था। अनुबंध आधारित नागरिक और सामाजिक सम्बंध ने नागरिकता की दशाओं को तैयार किया इसके विपरीत प्रकृति का अनियंत्रित राज्य जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा तथा सुव्यवस्थित जीवन के लिए अनुकूल नहीं था। नागरिकता विशेष रूप से गठित राजनीतिक सत्ता का सृजन थी। लोक की अवधारणा में संवैधानिक राज्य सही मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों के लिए था। इन अधिकारों ने प्रभुसत्ता को सीमित कर दिया। हॉब्स ने भी आत्मरक्षा के व्यक्ति के अधिकार के सम्मान के रूप में राज्य की सीमाएँ निर्धारित की थी। लेकिन नीरा चंडोक ने यह सही ही कहा कि अनुबंध सिद्धान्त वाले लोग नागरिक समाज के वास्तव में सिद्धान्तवादी नहीं हैं। "नागरिक समाज के बारे में बाद में उदार नियमों को तैयार करते समय जो प्रमुख विषये उभरे, इन सिद्धान्तों में भ्रूण रूप में पाए जाते हैं।

6.6.2 श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्री

18वीं शताब्दी के श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्री उस प्रबुद्ध दर्शनशास्त्र से प्रभावित थे जिसने तर्क से ईश्वर के स्थान पर तर्क को प्रतिष्ठित किया और पुजारियों तथा प्रतिनिधि दार्शनिकों के स्थान पर वैज्ञानिकों को प्रतिष्ठित किया उनके अनुसार नागरिक समाज कृत्रिम रचना नहीं है बल्कि विकास का उत्पाद है। समाज इसके कानूनों और सिद्धान्तों के अनुसार प्रगति करता है। एडम कागुसन ने नागरिक समाज के विकास मूल प्रगति के उच्चतर दौर से मानव अन्तरकार्य के प्रारंभिक रूपों से माना जो कि श्रम विभाजन उच्चतर नैतिक सांस्कृतिक उपलब्धि तथा कानून के सरकारी नियम के विषय को माना। क्रमिक सामाजिक विकास के फलस्वरूप वाणिज्यिक समाज का आविर्भाव हुआ तथा सामाजिक आध्यात्मिकता की वृद्धि हुई यहाँ भौतिक दशाएँ तथा अर्थव्यवस्था में विशेष रूप से समाज की प्रकृति का निर्धारण करने को प्राथमिकता दी गई मनुष्यों को तार्किक प्राणी के रूप में बताया गया जो कि श्रम के जटिल विभाजन के जरिए अपने को एक दूसरे पर आश्रित हो कर सक्षम बनाने में समर्थ होते हैं। नागरिक समाज की आत्मनियंत्रित सम्पत्तियाँ राजनीति तथा राज्य के अवमूल्यन की ओर ले गई।

स्वतः नियामी वाली अर्थव्यवस्था तथा समाज की अवधारणा को एडम स्मिथ के लेखों में पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली उनके विचार में राज्य का हस्तक्षेप समाज में आर्थिक कारकों की सृजनात्मकता में व्यवधान होता है। राज्य की भूमिका का जीवन स्वतंत्रता तथा नागरिकों की सम्पत्ति की आंतरिक अराजकता तथा बाह्य अनुक्रमण से रक्षा करनी थी। अच्छे जीवन की दशाओं को परिभाषित करना या सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करना राज्य का कार्य-व्यापार नहीं था।

श्रेष्ठ राजनीति अर्थशास्त्रियों ने व्यक्तिवाद - सम्पत्ति तथा बाजार को प्राथमिकता दी और बुनियादी स्तर पर उन्होंने तार्किक व्यक्ति को वस्तुओं के केन्द्र में रखा इस प्रकार श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों द्वारा उदार एजेन्डा तैयार किया गया और उससे ऐसे नागरिक समाज की अवधारणा उभरी जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्तियों के अधिकारों और स्वतंत्रता से निकली जहाँ एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा में व्यक्ति अपने निजी हितों का अनुसरण करने लगा (चंडोक 1995)।

तथापि प्रारंभिक उदार सिद्धान्तवादियों ने सीमित राज्य की अवधारणा को स्थापित किया बाद में विशेषकर जे. एस. मिल तथा तोकमिल ने मानव स्वतंत्रता की धमकी देने वाली राज्य की राजनीतिक शक्ति के बारे में चिन्ता महसूस की। उदाहरण के लिए, तोकविल ने देखा की सामाजिक संस्थाओं के सामने खतरा पैदा हो गया है और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा उनका गला घोंटा जा रहा है। इन आवश्यकताओं पर बल दिया जा रहा था कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी राज्य की बताई जा रही थी लेकिन साथ ही साथ यह अनुभव किया जा रहा था कि राज्य के पास असीमित शक्ति कभी नहीं रहनी चाहिए जैसा की पहले उल्लेख किया जा चुका है। तोकविल ने पाया कि बहुसामाजिक संघों में यह क्षमता है कि वह राज्य की शक्ति को नियंत्रित कर सके। मुक्त चयन के सिद्धान्त पर आधारित संघ सामूहिक कार्य की आवश्यकता के साथ व्यक्तियों के हित के प्रति सामंजस्य रख रहे थे। इन्हीं नागरिक संघों के जरिये नागरिक लोकतान्त्रिक गुण अंकुरित होते थे और नागरिक समाज को आकार प्रदान करते थे। तोकविल की ही तरह मिल का भी विचार था कि सार्वजनिक समारोह में निजी नागरिकों के भाग लेने से सार्वजनिक भावना पैदा होती है! "सार्वजनिक भावना का यह विद्यालय कहीं नहीं विद्यमान है, इस भावना को शायद ही माना जा सकता है कि निजी व्यक्तियों की प्रमुख सामाजिक स्थिति नहीं होती या समाज के प्रति उनका कोई कर्तव्य नहीं बनता। कानून को मानने तथा सरकार की सत्ता में बने रहने के लिए अतिरिक्त उनका और कोई कर्तव्य नहीं होता। "

उदारवादी विचारधारा का राज्य-समाज संबंध पर स्थाई प्रभाव रहता था। नागरिक समाज के बारे में सामयिक विचारों में उदार-अवधारणीकरण इस प्रकार होता था कि वह राज्य की शक्ति पर नागरिक समाज द्वारा सीमाएँ निर्धारित करता था।

6.6.3 हेजल: नागरिक समाज और राज्य

जैसा कि हम पहले विचार कर चुके हैं कि श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्री ऐसे पहले लोग थे जिन्होंने राज्य को नागरिक समाज से अलग माना लेकिन हेजेल ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राज्य-नागरिक समाज के अंतर का स्पष्ट विश्लेषण किया। हेजेल की दृष्टि में नागरिक समाज और आधुनिकता जुड़वा चीजें थी। व्यक्ति नागरिक समाज में आत्म हित के वैध अनुसरण के दौरान व्यक्तिगत स्वतंत्रता हासिल करता है जोकि उसकी क्षमताओं को पूर्णता प्रदान करने के लिए आवश्यक होती हैं। आधुनिक समाज के अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों के विचार-विमर्श द्वारा प्रारंभिक काल में विशेषाधिकार के स्थान पर आधुनिक समाज को प्रतिष्ठित किया।

नीरा चन्दोक के सुन्दर विश्लेषण का अनुसरण करते हुए हेजेल ने श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के पदचिह्नों का अनुसरण किया। परन्तु, पहले के सिद्धान्तवादियों से उनका विश्लेषण तीन प्रकार से भिन्न था।

एक

हेजेल ने नागरिक समाज को अर्थव्यवस्था के साथ उमड़ी अतिरिक्त पहचान से अलग

अस्तित्व प्रदान किया। निःसंदेह नागरिक समाज में सामाजिक परम्पराएँ होती हैं जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तर्क द्वारा गठित होती हैं। तथापि अर्थव्यवस्था से उनका अलग अस्तित्व होता है। परिवार और राज्य के बीच स्थित होते हुए भी, हेजेल के अनुसार नागरिक समाज "ऐतिहासिक दृष्टि से परिवार से अलग एक प्रमुख लक्षण होता है जो कि सामाजिक संगठन के रूप को राज्य से अलग रखते हुए उसे सर्वोच्च तथा ऐसे संगठन का अंतिम स्वरूप दे देता है।" परिवार प्राकृतिक तथा अलक्षित एकता का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ प्यार और एक दूसरे से सरोकार से जुड़ा होता है। नागरिक समाज आत्म जिज्ञासु व्यक्तियों का क्षेत्र होता है, साथ ही इसमें सार्वभौमिकता के सिद्धान्त जिसका राज्य मूर्त रूप होता है। नागरिक समाज में भ्रूण रूप से उसे पाया जा सकता है। इस प्रकार हेजेल की अवधारणा में नागरिक समाज स्वतंत्रता जैसे अधिकारों का एक ऐसा क्षेत्र है जिसे नकारात्मक रूप से नहीं देखा जा सकता है। इसके बजाय नागरिक समाज "ऐसा सक्रिय क्षण है जहाँ विशेषकर एक रूपता तथा सार्वभौमिकता के बीच द्वैधता का सम्मिलन होता है।"

दो

एडम स्मिथ के इस आशावाद कि व्यक्तिपरक, स्वार्थी व्यवहार प्रगतिशील समाज का आधार होता है - के विपरीत हेजेल ने संदेह व्यक्त किया है, और लिखता है कि नागरिक समाज वह सामाजिक क्षेत्र है जहाँ "प्रत्येक व्यक्ति का निजी हित हर अन्य व्यक्ति से मिलता है।" उसका विचार था कि आत्महित वाले कार्य आत्मकेन्द्रीयता की ओर ले जाते हैं और नैतिक जीवन को नष्ट करते हैं। हेजेल के विचार में, मानव समाज नैतिक जीवन को समझ पाने की क्षमता खो चुका है और आधुनिकता ने एक ऐसी दुनिया में प्रवेश कर लिया है जहाँ श्रम विभाजन सामाजिक अन्तर कार्य का विनिमय अभिमुखी, उपकरणिका का सृजन करता है। जैसा कि चंडोक ने लिखा है, हेजेल की दार्शनिक परियोजना "इस मूल हीन व्यक्ति को घर उपलब्ध कराती रही है जो कि सामुदायिक जीवन के परम्परागत सहयोगी संरचनाओं से विहीन हो गया है।"

तीन

स्वतंत्रता के बारे में हेजेल के विचार का आधार है, एक तार्किक सामाजिक व्यवस्था में स्वार्थ के क्रियान्वयन की धारणा। व्यक्तियों को स्वतंत्रता स्वतः और स्वीच्छिक रूप से ही नहीं प्राप्त हो जाती है उन्हें शिक्षित और सामाजिक होना पड़ता है। "स्वतंत्रता को व्यक्तिगत रूप से प्राप्त करने का व्यक्तियों का अधिकार तभी पूरी तरह प्राप्त होता है, जब वे एक वास्तविक नैतिक व्यवस्था से संबंधित होते हैं। इस प्रकार इसका तात्पर्य यह है कि नागरिक समाज को संगठित होने की आवश्यकता पड़ती है, विशेषकर आधुनिकता की यह प्रमुख विशेषता है। सार्वभौमिकता के द्वारा इसकी मध्यस्थता की जानी होती है। जैसा कि चन्द्रोक ने स्पष्ट किया है "नागरिक समाज ऐसा क्षेत्र है जहाँ हेजेल ने एक नैतिक समुदाय में विशेष तथा सार्वभौमिकता की अपनी ऐतिहासिक परियोजना को अव्यवस्थित किया है।"

यद्यपि मध्यवर्ती संस्थाओं के क्षेत्र की मध्यस्थता के जरिये हेजेल ने संगठनात्मक भावना

की उपस्थिति को सुनिश्चित करना चाहा है। "ये माध्यम राज्य तथा नागरिक समाज के अपेक्षाकृत लघु स्वरूप हैं और राज्य के गठन की दिशा में एक चरण हैं।" हेजेल का राज्य नैतिकता के सर्वोच्चता के स्तर को, प्राप्त करने लेने का प्रतीक है जो किसी खास लक्षण से सर्वथा मुक्त है। मध्यवर्ती चरण की सामाजिक संस्थाएँ विशिष्टता को किस प्रकार परिवर्तित करती हैं और सार्वभौमिकता को संस्थागत रूप प्रदान करती हैं। "हेजेलियन दर्शन के विचार में सार्वभौमता की यह विशेषता नागरिक समाज के ऐसे उर्ध्वगामी संगठन की ओर ले जाती है जो नीति की अंतिम अभिव्यक्ति करते हुए राज्य के रूप में परिणीत होता है।"

6.6.4 नागरिक समाज के बारे में मार्क्स के विचार

नागरिक समाज के बारे में हेजेल ने अवधारणा व्यक्त की है कि नागरिक समाज आधुनिकता की नागरिकता तथा अहमवादी व्यक्तित्व से उद्भूत होता है। मार्क्स के विचार इस अवधारणा से काफी मिलते जुलते हैं लेकिन राज्य की द्वैधता के बारे में हेजेल के विचार को मार्क्स ने अस्वीकार कर दिया है। मार्क्स ने इस बात को स्वीकार किया है कि राज्य का सार तत्व नागरिक समाज में व्यक्तियों के खास हितों को सीमाओं को पार करते हुए सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की ओर जाता है। मार्क्स ने हेजेल के इस विचार को परे रख दिया है कि नागरिक समाज राज्य की अधीनस्थता में रहता है। मार्क्स के अनुसार नागरिक क्षेत्र में स्वार्थपरता, अहमन्यता और धन लोलुप्तता पाई जाती है। यह मध्यवर्गीय क्रान्ति के जरिये इसमें बदलाव नहीं लाया जा सकता है। नागरिक क्षेत्र में जो कुछ घटित होता है, राज्य उससे भिन्न नहीं हो सकता है क्योंकि यह अभी ऐतिहासिक प्रक्रिया से जन्म होता है जिससे नागरिक समाज उद्भूत होता है। मध्यम वर्ग की असीमित ताकत नागरिक क्षेत्र में दमन और शोषण के कार्यों में लगी रहती हैं। इसलिए इस प्रकार की पृष्ठभूमि को देखते हुए राज्य वर्ग का धब्बा लगा हुआ एक संस्थान का रूप लेता है जिसमें निष्पक्षता और सार्वभौमिकता के सिद्धान्त नहीं रह सकते हैं। मार्क्स के विचार में राज्य नागरिक क्षेत्र में विरोधाभासों से समझौता करते हुए चलता है इसलिए वह नागरिक समाज पर हावी नहीं रह सकता है वह नागरिक समाज के उन विरोधों को केवल निलंबित रख सकता है।

मार्क्सवादी स्थिति को स्पष्ट करते हुए चंडोक ने लिखा है कि "नागरिक समाज ऐसा मंच है जहाँ सामाजिक और राजनीतिक बीच, प्रभुत्व तथा प्रतिरोध के बीच, दमन तथा अभ्युदय के बीच द्वैधता के याहक चलते रहते हैं।" इस प्रकार मार्क्स ने नागरिक समाज के बारे में हेजेल और उन उदारवादियों के विचारों का खंडन किया है जिन्होंने नागरिक समाज को स्वतंत्रता और अधिकारों का मुख्य स्थान माना है। इसके विपरीत मार्क्स ने नागरिक समाज की वास्तविक प्रकृति का पर्दाफास किया है "जहाँ समानता तथा स्वतंत्रता के थोथे राजनीतिक रागों द्वारा उत्पादन सम्बंधों में व्यक्ति की शक्तिहीनता की तस्वीर झलकती है।" नागरिक समाज को अपनी मुक्ति के लिए राज्य के बाहर नहीं बल्कि उसके भीतर झाँकना होता है इसके लिए गहरी जड़ों वाले लोकतान्त्रिक स्वरूप में परिवर्तन लाना होता है जो आवश्यक नहीं कि क्रान्ति द्वारा ही लाया जाता हो। मार्क्स के अनुसार नागरिक समाज पद्धतियों की प्रणाली को लागू करके नहीं बचाया जा सकता है।

6.6.5 नागरिक समाज के बारे में ग्रामस्की के विचार

इटली के साम्यवादी नेता तथा समाजशास्त्री एन्टोनियो ग्रामस्की को नागरिक समाज के वामपंथी मूल आलोचना के आधुनिक पुनर्नवीकरण का श्रेय दिया जा सकता है। ग्रामस्की मार्क्स का अनुयायी था लेकिन उसने हेजेल के विचारों का अध्ययन करके नागरिक समाज की अपनी अवधारणा को पर्याप्त संवर्धित बनाया था। ग्रामस्की के अनुसार राज्य को नागरिक समाज की प्रकृति के साथ जोड़कर ही समझा जा सकता है। नागरिक समाज ऐसा समाज है जहाँ राज्य की तमाम शक्तियाँ (पुलिस, कारावास, सशस्त्र बल) केन्द्रित करते हैं। जबकि समाज ऐसा होता है जहाँ "राज्य शैक्षिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक प्रणालियों तथा अन्य संस्थाओं के माध्यम से शक्ति के सूक्ष्म रूपों दृश्य तथा अदृश्य रूपों को लागू करने का कार्य करता है। राजनीतिक समाज दंड संहिताओं तथा कारावासों के जरिए संस्थाओं को अनुशासित रखता है लेकिन नागरिक समाज इन संरचनाओं के जरिये मन तथा मनोभावना को अनुशासन में रखता है।"

ग्रामस्की की राय में राज्य में वे सब कार्यकलाप शामिल हैं जिन्हें सत्तारूढ़ वर्ग अपने प्रभुत्व को बनाए रखने में उपयोग में लाता है। यह नागरिक समाज में चल रहे उन सभी दैनिक कार्यों में अपने को परिलक्षित करता है जो व्यक्ति तथा सामूहिक चेतना का सूक्ष्म रूप से निर्माण करते हैं। ग्रामस्की की मुख्य अवधारणा में आधिपत्य को प्रतीकों तथा पौराणिक आख्यानों के इस्तेमाल के जरिए सहमति तैयार करने की अवधारणा के रूप में स्वीकार किया गया है। आधिपत्य एक ऐसा संगठनात्मक सिद्धान्त है जो संघर्ष से पूर्ण नागरिक क्षेत्र में तथा उसकी बहुलता में एकता उपलब्ध करता है। नीरा चंडोक के शब्दों में "प्रभुत्वशाली वर्गों के बौद्धिक तथा नैतिक नेतृत्व के रूप में आधिपत्य राजनीतिक जीवन को नैतिक क्षण उपलब्ध कराता है यह राज्य के लिए स्वीकृति का आधार उपलब्ध कराता है नागरिक समाज एक ऐसा नैतिक क्षण है जहाँ नैतिक दृष्टि तथा अग्रणी वर्ग की दूरदर्शिता द्वारा विखंडित समाज को एकजुट बनाया रखा जा सकता है।"

ग्रामस्की अर्थव्यवस्था और राज्य से नागरिक समाज के संघीय तथा सांस्कृतिक आयामों का अन्तर करते हुए (मार्क्सवाद की श्रेष्ठता) के आर्थिक तथा राजनीतिक कमियों से खुद को बचा कर रखता है। ग्रामस्की ने विकसित पूँजीवादी देशों में नागरिक समाज के संघों तथा सांस्कृतिक संस्थाओं को स्थापित प्रणाली की खाइयाँ बताया है। जो मध्यवर्गीय प्रशासन को स्थिरता प्रदान करती है इसलिए नागरिक समाज के इस संस्करण को नष्ट किया जाना चाहिए और इसके स्थान पर (श्रमिक क्लबों, नई सर्वहारा पार्टी) के वैकल्पिक रूपों तथा बौद्धिक रूपों से भरा जाना चाहिए जो वर्तमान बूर्जुआ रूपों को हटाकर एक सर्वहारा प्रतिपूरक आधिपत्य तैयार करने में सहायता दें।

इस प्रकार सामंजस्य नागरिक क्षेत्र में परिवर्तित परम्पराओं के द्वारा वर्गों के उपपरिवर्तन की विशेषताओं द्वारा भी लाया जा सकता है। ग्रामस्की की दृष्टि में नागरिक समाज का एक व्यापक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रान्ति के जरिये रूपांतरण किया जाना चाहिए। चंडोक ने स्पष्ट किया है कि ग्रामस्की के सिद्धान्त में नागरिक समाज ने "एक सक्रिय और गतिशील आयाम प्राप्त कर लिया है। यह ऐसा स्थल है जहाँ बुनियादी

वर्ग अपने खास हितों को व्यक्त करते हुए अन्य सामाजिक समूहों के साथ वर्ग की स्थितियों को मुखर बनाते हैं नागरिक समाज ऐसा स्थल है जहाँ राज्य की वैधता को सुदृढ़ बनाया जाता है यह संघर्ष स्थली भी है। यही वह स्थान है जहाँ अनेक उपवर्ग राज्य की शक्ति को चुनौती दे सकते हैं।

हेजेल, मार्क्स और ग्रामस्की के सूत्रों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इन मौलिक राजनीतिक दार्शनिकों ने नागरिक समाज की नए प्रकार से अवधारणा प्रस्तुत की है उन्होंने नागरिक समाज के उदार संस्करण का एक वैकल्पिक स्वरूप उपलब्ध कराया है। उनमें से प्रत्येक की धारणात्मक शब्दावली की अपनी विशिष्ट व्याख्याएँ हैं। राज्य-सामाजिक सम्बंध दृष्टि तथा परिवर्तनात्मक प्रतिमान, तथापि सामूहिक रूप से उन्होंने उदार राजनीतिक सिद्धान्त को शक्तिशाली चुनौती दी है। नीरा चंडोक ने इसका उपसंहार करते हुए लिखा है "उन्होंने इस उदार व्याख्या को स्वीकार करने से इंकार कर दिया है कि नागरिक समाज अधिकारों, व्यक्तिवाद तथा बाजार का क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र के सतही पहलू हैं। सतह के नीचे नागरिक समाज आधुनिक और अमानवीयता के सार जैसा प्रतीत होता है। यदि इसे अपनी क्षमता को हासिल करना है और ऐतिहासिक उद्देश्य पूरा करना है तो संगठित और परिवर्तित होना होगा।"

6.7 नागरिक समाज विवेचना की समसामयिक सार्थकता

हाल में नागरिक समाज नए उत्साह और अन्तर्दृष्टि के साथ राजनीतिक सिद्धान्त में फिर से उभरा है। सुदिप्त कविराज और सुनील खिलनानी ने नागरिक समाज के बारे में अपनी नई पुस्तक में समसामयिक विचार-विमर्श में तीन सूत्रों का उल्लेख किया है:

एक: पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप की अब तक की साम्यवादी प्रणालियों ने अपने वैधानिक अधिकार क्षेत्र को और राज्य संस्थाओं के प्रभावी नियंत्रण, जैसे अफसरशाही के नियंत्रण को लगभग क्षेत्रों पर बढ़ा लिया है। उन साम्यवादी व्यवस्था वाले राज्यों के समाप्त हो जाने के बाद राज्य के वैधानिक अधिकार क्षेत्र के बाहर नागरिक समाज की संस्थाओं की प्रगति को प्रोत्साहित करने में आवश्यकता के बारे में तर्क दिया गया।"

दो: वामपंथी राजनीतिक विचार की कम से कम प्रवृत्तियाँ नागरिक समाज के विचार को पुनर्जीवित करने के लिए उत्सुक रही हैं। सोवियत प्रयोग तथा समाजवाद के विचार के प्रति निरुत्साह के कारण लोकतंत्र के विचार के प्रति निरुत्साह के कारण लोकतंत्र के विचार में कुछ मूलभूत परिवर्तन लाने और नागरिक समाज के विश्लेषण को फिर से शुरू करने की ओर भी ध्यान गया। थैचर-रीगन शासनकाल के दौरान नव-कंजरवेटिव प्रतिक्रिया के वर्षों के दौरान कल्याणकारी राज्य की ओर वापस लौटने के विचार ने ब्रिटिश बहुलवादी परम्परा की भावना को ओर आगे बढ़ाया। "पूँजीवादी पर मानवीकरण की स्थिति का मुकाबला करने के लिए नागरिक समाज में गैर राज्य संगठनों की संघात्मक पहल" को पुनर्जीवित करने का आह्वान किया गया।

तीन: पश्चिमी देशों में नए सामाजिक आन्दोलनों (नारीवाद, पर्यावरणवाद) आदि के

बारे में वर्तमान चिंतन का नागरिक समाज की विवेचन से कविराज तथा खिलनानी के शब्दों में "संघीय तर्कों तथा विचारों तथा नए सामाजिक आन्दोलनों के बीच सुदृढ़ समानता है जो कि श्रेष्ठ श्रमिक वर्ग आन्दोलनों से हितों और रूपों की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न हैं, मूल लोकतान्त्रिक आकांक्षाओं के वाहक हैं।"

तीसरी दुनिया के देशों में, नागरिक समाज विकास प्रशासन के क्षेत्र में गैर राजकीय क्षेत्रों (गैर सरकारी संगठनों तथा सामुदायिक संगठनों) को लाने के लिए विश्व बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय दाता एजेंसियों का उपभोग करने में लगे हुए हैं। भारत जैसे देशों में भी नागरिक समाज को सामाजिक परिवर्तनों के माध्यम से परम्परागत दलगत राजनीति की भूमिका तथा क्षमता के बारे में निराशा की भावना से निकलकर लोकतंत्र को व्यापक तथा गहरा बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

6.8 सारांश

आपने अभी इस इकाई में जो कुछ पढ़ा है, उससे आपने नागरिक समाज के अर्थ और प्रकृति और लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के लिए इसके महत्व को समझ लिया होगा। राज्य-समाज सम्बंध राजनीतिक सिद्धान्त का मूल तत्व है। इस पाठ को पढ़ने पर आपको यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि नागरिक समाज विवेचना का एक लम्बा इतिहास है। इस पाठ को पढ़ने से आपको अनुबंध सिद्धान्त के दिनों से लेकर अब तक के राजनीतिक नागरिक समाज के बारे में स्पष्ट विचारों को जान गए होंगे। इस इकाई को पढ़ने से आपको सबसे प्रमुख दार्शनिकों विशेषकर, हेजेल, मार्क्स और ग्रामस्की के योगदान के बारे में भी जानकारी मिली होगी और आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि हाल में नागरिक समाज के विचार को फिर से क्यों जीवित किया गया है।

6.9 बोध प्रश्न

1. नागरिक समाज के अर्थ और प्रकृति की विवेचना कीजिए।
2. लोकतान्त्रिक सिद्धान्त में नागरिक समाज के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
3. नागरिक समाज और राज्य के बीच सम्बंधों की समीक्षा कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:
 - (क) नागरिक समाज के बारे में मार्क्स के विचार।
 - (ख) नागरिक समाज के बारे में ग्रामस्की की अवधारणा।
5. नागरिक समाज की सामयिक सार्थकता का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 7 भूमण्डलीकरण और राज्य

संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 भूमण्डलीकरण क्या है?

7.3 भूमण्डलीकरण के प्रति दृष्टिकोण

7.4 राज्य सम्प्रभुता पर प्रभाव

7.4.1 नई विश्व अर्थव्यवस्था से चुनौतियाँ

7.4.2 नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से चुनौतियाँ

7.4.3 अन्तर्राष्ट्रीय कानून से चुनौतियाँ

7.5 राज्य के आंतरिक कार्य पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव

7.5.1 लोकतांत्रिक निर्णय करना

7.5.2 संजातीय पुनरुत्थान

7.6 सारांश

7.7 बोध प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

भूमण्डलीकरण ऐसी अवधारणा है जिसकी कोई मानक परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसका मुख्य कारण मुद्दों और समस्याओं की अधिक विविधता है और इसे विभिन्न प्रकार के सैद्धान्तिक और राजनीतिक स्थितियों में इसकी व्याख्या की गई है। तथापि अनेक विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विश्व पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के प्रभुत्व को सुदृढ़ बनाने तथा विश्व संस्कृति के माध्यम से स्थानीय संस्कृतियों और परम्पराओं के क्षरण और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय निगमों और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा राज्य की सर्वोच्चता को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रक्रिया को जारी रखना है। यहाँ राज्य के हमारे पारम्परिक सूझबूझ के बारे में जो परिवर्तन लाया गया है उसके महत्व को हम समझते हैं। हमारे अध्ययन में प्रमुख बात राज्य की सत्ता के परिवर्तन अथवा पुनरुत्थान, और उसकी समाप्ति के साथ भूमण्डलीकरण का क्या सम्बंध है? क्या समसामयिक भूमण्डलीकरण राज्य-राष्ट्र के अंदर राजनीति की नई सीमाएँ निर्धारित करता है?

7.2 भूमण्डलीकरण क्या है?

भूमण्डलीकरण को समसामयिक समाज तथा राजनीतिक जीवन के सभी पहलुओं में विश्वव्यापी अंतर सम्बंधों को व्यापक बनाने, गहरा बनाने तथा शीघ्रगामी बनाने के माध्यम के रूप में माना जा सकता है। समाजशास्त्री ऐन्टोनी गिडेन्स ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "यह स्थान और समय को कई गुणा बढ़ाने, तत्काल संप्रेषण पर जोर

देने ज्ञान और संस्कृति की हिस्सेदारी तत्काल विश्व भर में करने"। इसके प्रभाव के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं, तथापि राज्य को प्रभावित करने और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया जारी रहने के मामलों में धारणा और विश्वासों में पर्याप्त समानता विद्यमान है। 15वीं शताब्दी में आधुनिक राज्य के अभ्युदय के साथ अन्तरसम्बंधों की एक पद्धति सदैव विद्यमान रहती थी युद्ध और व्यापार आदि के कारण आन्तरिक राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और गतिविधियों से प्रभावित हुई तथा राज्यों की एक दूसरे पर निर्भरता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। ब्रोइटस और कान्ट के लेखन से यह परिलक्षित होता है जिन्होंने यह तर्क दिया कि "राज्यों के समाज" तथा "अन्तर्राष्ट्रीय कानून" के दायरे में राज्यों का अस्तित्व रहता है और उन्होंने राज्यों के सहअस्तित्व और सहयोग पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया। आज हम जो अनुभव कर रहे हैं, वह गुणात्मक दृष्टि से एक नई विशेषता है: विश्व अन्तरकार्य का विशाल तंत्र और वित्तीय प्रवाह जिनपर राज्यों का बहुत सीमित नियंत्रण रहता है, संचार में अभूतपूर्व वृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा सत्ताओं का आविर्भाव, सरकारी सीमाओं से बाहर के कार्य भूमण्डलीय सैन्य व्यवस्था तथा इंटरनेट के कारण दूरी के विचार का पुनर्व्यवस्थापन।

भूमण्डलीकरण उस पूँजीवादी विस्तार की ऐतिहासिक प्रक्रिया का लक्ष्य उत्पाद है जो यूरोप में शुरु हुआ तथा बाद में जिसने समूचे विश्व को अपने दायरे में समेट लिया। इस सम्बंध में कोई ऐसा प्रारंभिक बिन्दु नहीं है जिसपर सभी सहमत हों तथापि ऐसे कुछ ऐतिहासिक काल खंडों की पहचान की जा सकती है, जहाँ से इसके विकास की पहचान की जा सकती है। 1519 और 1521 में जहाजों से विश्व की प्रारंभिक परिक्रमा के पश्चात् 16वीं शताब्दी में यूरोपीय पूँजीवाद का प्रथम महान विस्तार हुआ। परन्तु विश्व व्यापार और निवेश का प्रथम वृहद विस्तार यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के बाद 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ, जिसने इन देशों को निर्मित माल का उत्पादक देश बना दिया। यह उपनिवेशीकरण का स्वर्ण काल भी था। जब पश्चिम की महान शक्तियाँ विश्व को आपस में बाँटकर और उनके संसाधनों का शोषण करती थी। प्रथम विश्व युद्ध के साथ यह क्रम रुका और 1930 के दशक के महान अवसाद के कारण मुक्त व्यापार संरक्षणवाद विरोधी कदम उठाए गए। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से बहु राष्ट्रीय कम्पनियों के अभ्युदय से पूँजीवाद के महान विस्तार का एक अन्य दौर आया जिसने उत्पादन तथा व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया। आर्थिक क्षेत्र में नई ब्रेटन वुड्स व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजारों के उत्थान में सहायता की। राजनीतिक रूप में उपनिवेशीकरण के समाप्त होने की प्रक्रिया से अनेक नए-नए राज्यों के आविर्भाव से नई विश्व व्यवस्था तैयार हुई। भूमण्डलीय शक्तियों के विजय का तीसरा तथा अपेक्षाकृत अधिक समसामयिक दौर बर्लिन की दीवार के पतन तथा सोवियत संघ के विखण्डन के साथ हुआ जिससे पूँजीवादी तथा समाजवादी शक्तियों के बीच शीत युद्ध समाप्त हुआ जिसमें पूँजीवाद विजयी रहा इसके साथ ही विश्व के सभी भागों में रहने वालों के लिए भूमण्डलीकरण एक वास्तविकता बन गया।

7.3 भूमण्डलीकरण के प्रति दृष्टिकोण

भूमण्डलीकरण की इस नई प्रक्रिया के स्वरूप और परिणाम तथा उसके प्रभाव के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। भूमण्डलीकरण की अनवरत प्रक्रिया को समझने के लिए तीन

दृष्टिकोणों की पहचान की जा सकती है। एक दृष्टिकोण के ओहमी (K. Ohmac) जैसे विद्वानों का है, जिसे अति भूमण्डलीयवादी कहा जाता है। वे इसे केन्द्रीय और अपरिवर्तनीय प्रक्रिया के रूप में देखते हैं तथा भूमण्डलीकरण को इतिहास के एक नए काल खंड के रूप में परिभाषित करते हैं जिसमें परम्परागत राष्ट्र-राज्य 'भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था' में अस्वाभाविक, यहाँ तक की असंभव व्यावसायिक इकाई हो चुके हैं, इस दृष्टि से, जो आर्थिक शक्ति या बाज़ार की विशेष सुविधा प्रदान करती है। सीमा रहित अर्थव्यवस्था भूमण्डलीय पूंजी के लिए और संप्रेषण प्रक्रियाओं के लिए राष्ट्रीय सरकारों को कम कर देती हैं अथवा सामान्य मध्यवर्ती संस्थाएँ बढ़ते हुए शक्तिशाली स्थानीय, क्षेत्रीय तथा प्रशासन की भूमण्डलीय क्रियाविधि के बीच बुरी तरह पिस जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार तथा बहुराष्ट्रीय निगम शक्तिशाली हो चुके हैं और अव्यक्तिक ताकतें विश्व को नियंत्रित करती हैं। परिणामस्वरूप राज्यों की शक्ति क्रमिक रूप से ह्रास की ओर अग्रसर हो रही हैं। अब शक्ति का फैलाव हो रहा है, अब यह स्थानीय है और अन्तर्राष्ट्रीय है यह महत्वपूर्ण है न कि राज्य जो कि इससे पहले अपनी सत्ता और वैधता खो चुके हैं और अब जो कुछ सीमाओं पर घटित हो रहा है। उनपर उनका बहुत मामूली नियंत्रण रहता है। उनका विश्वास है, आर्थिक भूमण्डलीकरण ही सामाजिक और राजनीतिक संगठनों - अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक समाज तथा महा राज्य सरकार के नए नए रूप पैदा कर रहा है और अन्ततः वह परम्परागत राष्ट्र-राज्य का स्थान ले लगा और वह विश्व समाज का प्राथमिक राजनीतिक और आर्थिक इकाई का स्थान ले लगा। इस प्रकार विकसित-विकासशील राज्य के रूप में जो विभाजन पहले किया जाता था अथवा केन्द्र-परिधि पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध बनते थे, वे विलुप्त हो रहे हैं तथा आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक शक्ति की अपेक्षाकृत अधिक जटिल नया स्वरूप उभर रही हैं। इस स्थिति में जो राज्य भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में नहीं शामिल होते या जो समय की धारा के साथ नहीं मिलकर चलते थे, पीछे छूट जाते हैं। पहले जो कल्याण राज्य की नीतियाँ अथवा प्रशासन के सामाजिक, लोकतांत्रिक प्रतिमान होते थे, उनका अब कोई उपयोग नहीं रहा। विश्वभर में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय अभिजात वर्ग या 'ज्ञान' वर्ग विकसित हो रहा है जो भूमण्डलीकरण के परिवर्तनों से मिलने वाले लाभ से सज्जित है जबकि अन्य सीमा रेखा पर चले गए हैं। इन परिवर्तनों के साथ विश्वभर में उपभोक्तावाद का सिद्धान्त चल रहा है जो परम्परागत संस्कृतियों और जीवन पद्धतियों को विस्थापित कर विश्व सभ्यता के भीतर एक नई सामान्य पहचान को प्रतिष्ठित कर रहा है जिसे बाज़ारों के अनुशासन द्वारा सार्वभौम मानकों के माध्यम से पारिभाषित किया जाता है। अतः अत्यधिक भूमण्डलीय विचारधारा वाले व्यक्तियों का विश्वास है कि भूमण्डलीकरण मानव कार्य का 'एक सैद्धान्तिक पुनर्केन्द्रीयकरण का प्रतिनिधित्व करता है।'

कुछ विद्वानों के दृष्टिकोणों का इससे तीव्र मतभेद है, उन्हें शंकालु बताया जाता है जो यह तर्क देते हैं कि भूमण्डलीकरण एक मिथक है, जैसा कि अति भूमण्डलीय विचारधारा के लोग मानते हैं। उनका कहना है कि 19वीं शताब्दी में व्यापार में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई श्रमिकों की बाढ़ आई और अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के रूप में राज्यों के एकीकरण का अपेक्षाकृत उच्च स्तर पर आर्थिक अन्तर निर्भरता बढ़ी और एडम स्मिथ और अन्य द्वारा तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ इसलिए आज जो हम अनुभव कर रहे हैं वे इन प्रक्रियाओं के अन्तर्राष्ट्रीय का अत्यधिक बढ़ता हुआ स्तर है। अति-भूमण्डलीयता

की विचारधारा वाले विद्वानों के विचारित आर्थिक शक्ति की तुलना में राजनीतिक शक्ति को महत्व देने वाले महसूस करते हैं कि राज्यों की राजनीतिक शक्ति को कम आँकने की आर्थिक शक्तियाँ मूर्खता कर रही हैं, बाज़ार शासन नहीं करता है बल्कि राज्य सभी आर्थिक कार्यकलापों का नियमन करता है। भूमण्डलीकरण की ताकतें राज्यों को भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की ओर अग्रसर करती हैं। इस प्रकार दिनोंदिन परस्पर आपसी सम्बंधों के बढ़ने वाले राज्यों के बीच सम्बंधों का निर्धारण करने के मामलों में अकेले अर्थशास्त्र नहीं बल्कि राजनीति अधिक महत्वपूर्ण है। संदेहवादी यह भी तर्क देते हैं कि बढ़ते हुए आर्थिक कार्यकलाप विश्व अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीयकरण के आविर्भाव यूरोप, उत्तरी अमेरिका और एशिया-प्रशान्त, जैसे तीन प्रमुख वित्तीय खंडों के रूप लिए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में विश्व अर्थव्यवस्था पहले की अपेक्षा कम समेकित या भूमण्डलीय है तात्पर्य यह है कि यह पहले की अपेक्षा अधिक स्तंभों पर टिकी है। इस विचारधारा वाले लोगों को यह भी तर्क देते हैं कि नए अपेक्षाकृत कम राज्य केन्द्रित विश्व का कोई सबूत नहीं है। इसकी अपेक्षा राज्य सीमा पार के आर्थिक क्रियाकलाप के सक्रिय संवर्धन और विनिमयन में अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रीय भूमिका निभा रहे हैं। वे भूमण्डलीय प्रणाली को स्वरूप प्रदान कर रहे हैं। वे वास्तव में ऐसा महसूस करते हैं कि भूमण्डलीकरण बहुपक्षीय आर्थिक व्यवस्था का एक उप-उत्पाद है जिसे द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत की अवधि में अमेरिका द्वारा पैदा किया गया है, अन्य ऐसा महसूस करते हैं कि पश्चिमी साम्राज्यवाद का ऐसा चरण है जिसमें उन पश्चिमी राज्यों द्वारा विश्व व्यापार को तीव्र किया गया है तथा उसमें निवेश किया गया है और जो एकाधिकार पूँजी के अभिकर्ता के रूप में उभरे हैं। अन्त में, संदेहवादी विचारधारा वाले विद्वानों का मत है कि विश्व अर्थव्यवस्था की पुनर्संरचना नहीं हुई है। अधिकांश व्यापार तथा निवेश उत्तर का पक्ष लेते हैं और दक्षिण को हासिये पर कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप दोनों क्षेत्रों में असमानताएँ बढ़ती जा रही हैं और पुराना अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन अपेक्षाकृत मज़बूत होता जा रहा है। वास्तव में, वे महसूस करते हैं कि इन्हीं असमानताओं के बढ़ने के कारण विश्व सभ्यता तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बजाय कट्टरवादिता संजातीय पुनरुत्थान और आक्रामक राष्ट्रवादिता बढ़ रही हैं। सांस्कृतिक सामंजस्यकरण के बजाय हम पाते हैं कि स्थानीय पहचानों का पुनर्प्रादुर्भाव हो रहा है। विश्व प्रशासन के स्थान पर केवल पश्चिमी प्रभुत्व चल रहा है जो भूमण्डलीकरण के लुभावने नारे के पीछे छिपा हुआ है।

तीसरा, तथा अपेक्षाकृत अधिक संतुलित दृष्टिकोण परिवर्तनवादियों द्वारा दिया जाता है जिनका विश्वास है कि भूमण्डलीकरण दुनिया में परिवर्तन ला रहा है और वे आधुनिक समाजों तथा विश्व व्यवस्था के तीव्र सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों को लाने वाले एक प्रमुख शक्ति के रूप मानते हैं। इस प्रकार की प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय तथा देशी, बाह्य तथा आंतरिक मामलों के बीच कोई स्पष्ट अंतर नहीं रह गया है। इस संदर्भ में भूमण्डलीकरण को शक्तिशाली परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में माना जाता है जो विश्व व्यवस्था तथा समाज अर्थव्यवस्थाओं तथा प्रशासकीय संस्थाओं के व्यापक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। हालाँकि इस परिवर्तन की दिशा अनिश्चित बनी रहती है क्योंकि भूमण्डलीकरण अनिवार्यतः विरोधाभासों से पूर्ण भूमण्डलीय प्रक्रिया का परिवर्तित रूप है। कोई निर्धारित आदर्श पद्धति सामने रखने की बजाय परिवर्तनवादी विचारधारा वाले विद्वान भूमण्डलीकरण को एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में मानते हैं जिसमें

विरोधाभास पड़े हुए हैं और जो अनेक अनुमानिक कारकों द्वारा रूपायित किए गए हैं। तथापि उनका विश्वास है कि भूमण्डलीय, आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक, प्रौद्योगिकी तथा सांस्कृतिक प्रवाहों की सामयिक पद्धतियाँ ऐतिहासिक रूप से अभूतपूर्व हैं। उनका तर्क है कि वास्तव में विश्व के सभी देश यदि उनकी सीमा तथा उनके समाज के सभी हिस्से नहीं हैं तो भी वे एक या अन्य रूपों में व्यापक विश्व प्रणाली के कार्य रूप में हिस्से हैं। बल्कि स्तरीयकरण की नई पद्धतियों के साथ ऐसा भूमण्डलीकरण है जिसमें कुछ राज्य, समाज तथा समुदाय क्रमिक रूप से विश्व व्यवस्था में सन्निहित हो जाते हैं जबकि कुछ अन्य क्रमशः हासिये की ओर बढ़ते जाते हैं।

इस प्रकार भूमण्डलीकरण की बहस के मूल में यह विश्वास है कि यह राष्ट्रीय सरकारों की सत्ता शक्ति और कार्यों का पुनर्गठन या पुनःअभियंत्रण कर रहा है। साथ ही इस तथ्य पर विवाद नहीं है कि राज्य अपनी सीमाओं के अन्दर प्रभावी सर्वोच्चता के लिए अन्ततः वैधानिक दावा बनाए रखता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन की संरचनाओं के बढ़ते हुए अधिकार क्षेत्र के साथ-साथ भिन्नता लिए रहता है। इसके प्रमुख उदाहरणों में यूरोपीय संघ और विश्व व्यापार संगठन शामिल हैं जहाँ सम्प्रभुता शक्ति अब अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय तथा स्थानीय शक्तियों के रूप में विभक्त है। इसलिए भूमण्डलीकरण परिवर्तन के साथ सम्बंध है अथवा प्रभुसत्ता, प्रादेशिकता तथा राज्य शक्ति के बीच सम्बंध का बहुआयामी रूप है इस प्रकार नई प्रभुसत्ता वाली संस्था राज्यत्व की परम्परागत अवधारणाओं को विस्थापित कर रही हैं और उनके स्थान पर पूर्ण अदृश्य, क्षेत्रीय रूप से विशिष्ट तथा सार्वजनिक शक्ति के रूप में मानती हैं। परिणामस्वरूप सम्प्रभुता राज्य शक्ति तथा क्षेत्रीयता का रूप एक दूसरे के साथ अपेक्षाकृत अधिक जटिल सम्बंधों वाला है जबकि जिस समय आधुनिक राज्य स्वरूप ग्रहण कर रहे थे तो उस काल खण्ड में उनके सम्बंध इतने जटिल नहीं थे।

नवमार्क्सवादियों द्वारा भूमण्डलीकरण की उत्पत्ति तथा स्वरूप के बारे में भिन्न प्रकार का आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाता है और खास तौर पर, विकासशील विश्व के बारे में भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण दिया जाता है। इसे साम्राज्यवाद का एक नया रूप बताते हुए वे इसे नव उदारवादी संकीर्ण नीतियों का विस्तार बताते हैं जिनका प्रचलन विकसित पश्चिमी देश इसलिए करते हैं ताकि वे अपनी अर्थव्यवस्थाओं को व्यवस्थित रख सकें तथा 1970 एवं 1980 के दशकों में तेल संकट के कारण आए हुए भूमण्डलीय संकट पर काबू पा सकें। इन नीतियों से विकसित देशों को तो मदद मिली परन्तु उन विकासशील देशों को मदद नहीं मिली जिन्हें ऊपर आज आंतरिक रूप से निजीकरण और उदारीकरण के लिए अत्यधिक दबाव है तथा जो भूमण्डलीकरण की ताकतों के लिए अपनी अर्थव्यवस्थाओं को खुला रखने के लिए बाध्य रूप से बाध्य हैं। विकासशील विश्व के लिए भूमण्डलीकरण 1980 के दशक के ऋण संकट का एक हिस्सा है जिनके कारण संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (Structural Adjustment Programmes – SAPs) चलाए गए। इनमें से अनेक देशों को इस अवधि में सरकारी सहायता की शुष्कता की स्थिति में उन वाणिज्यिक बहुराष्ट्रीय बैंकों से भारी मात्रा में ऋण लेना पड़ा जो पेट्रो डालर से अभिभूत थे। कुछ देश ऋणों की पुनःअदायगी के लिए असमर्थ थे। उदाहरण के लिए, 1982 में मेक्सिको को भूमण्डलीकरण मुद्रा कोष की शर्तों की बाध्यता के कारण अपने

देश में अनेक परिवर्तनों को लागू करना पड़ा, जैसे राज्य की रोलिंग बैक (Rolling back) योजना, व्यापार प्रतिबंधों को हटाना तथा निर्यातानुमुखी वृद्धि पर जोर, क्षेत्रीय मूल्य नियंत्रण आदि जिनके कारण मेक्सिको की अर्थव्यवस्था में अन्दरूनी तौर पर पूरी तरह परिवर्तन की दिशा आ गई। विकासशील राज्यों पर राजनीतिक क्षेत्र के शर्तों के कारण इस बात पर जोर दिया गया कि वे लोकतांत्रिक व्यवस्था, अच्छा प्रशासन तथा मानव अधिकारों के संरक्षण पर जोर दें।

इन विकासों के कारण प्रतिस्पर्धात्मक बाज़ार शक्तियाँ लागू की गईं और विकासशील राज्यों के अन्दर कल्याणवाद के ढाँचे को तहस नहस कर दिया गया जिसकी वजह से वहाँ अपेक्षाकृत अधिक वर्ग तथा क्षेत्रीय असमानताएँ बढ़ीं और आबादी के बहुसंख्यक वर्गों जैसे छोटे-छोटे किसानों खेतिहर मज़दूरों और लघु उद्योगपतियों पर भूमण्डलीकरण का बहुत असर पड़ा। भारत में आंध्र प्रदेश और पंजाब जैसे क्षेत्रों में कपास की खेती करने वाले किसानों द्वारा आत्महत्या की घटनाओं के रूप में इसका प्रभाव देखा गया। इस प्रकार संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों के रूप में भूमण्डलीकरण से विकासशील राज्यों में ह्रास आया और खुली अर्थव्यवस्थाओं की दुनिया में प्रबंध करने के मामलों में उनमें अक्षमता आई। ये राज्य भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप उपलब्ध नए अवसरों का लाभ उठा पाने और प्रतिस्पर्धा में टिके रहने का लाभ नहीं उठा सके और उसका वास्तविक लाभ विकसित पश्चिमी देशों को अधिक मिला और अपने देश में अगर लाभ मिला तो वह आबादी के ऐसे लोगों को मिला जो पहले से ही खुशहाल थे। संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप लेटिन अमेरिका के कुछ राज्यों में शुरु में कुछ प्रगति हुई परन्तु गरीबी और सामाजिक असमानताओं की खाई और गहरी हुई। इसका एक अच्छा उदाहरण अर्जेंटीना में देखा जा सकता है। विश्व बैंक ने अफ्रीका पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में महाद्वीप के बारे में अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट संकेत दिया था। वास्तव में 1990 के दशक के दौरान विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने इन देशों के गरीबों की सहायता के लिए नीतियाँ अथवा सुरक्षा तंत्रों के लिए आग्रह किया। इससे अनेक विकासशील देशों में, यहाँ तक कि कुछ विकसित देशों में भी सरकार के खिलाफ उपद्रव तथा हिंसा की घटनाएँ बढ़ने लगीं। ये घटनाएँ रोज़गार के स्तरों में कमी होने तथा विषमताओं के बढ़ने के खिलाफ ज्यादा होने लगीं। हाल ही में, ए.जी. फ्रैंक ने संकेत दिया कि भूमण्डलीकरण के प्रभाव तथा संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों ने निर्भरता सिद्धान्त को सही साबित किया है परन्तु विरोधाभाव यह है कि यह सिद्धान्त भूमण्डलीकरण के बारे में अध्ययन के लिए आज मुश्किल से इस्तेमाल में लाया जाता है। इस प्रकार भूमण्डलीकरण एक ऐसी शक्ति है जो सभी राज्यों को एक ही तरह प्रभावित नहीं करती। यहाँ तक की आबादी के विभिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न तरीकों से यह प्रभावित कर सकती है जो कि प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों को सामना करने की उनकी योग्यता पर निर्भर करते हैं।

7.4 राज्य सम्प्रभुता पर प्रभाव

अधिकतर विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि राज्य-राष्ट्र का काल समाप्त नहीं हुआ है बल्कि 19वीं शताब्दी में गौरव के शिखर पर पहुँचने के पश्चात् 20वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तक इसमें ह्रास आया है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अब भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण

भूमिका निभा रहा है और अपनी स्वायत्तता बनाए हुए हैं परन्तु यह स्थिति असमान है। कुछ राज्यों का ह्रास हुआ है जबकि कुछ का उत्थान हुआ है। श्रेष्ठ साम्राज्यों का पतन हुआ है परन्तु नए नए साम्राज्यों का आविर्भाव हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य का अंत नहीं हुआ है अपितु इसकी शक्ति और सत्ता में परिवर्तन आया है। डेविड हेल्ड द्वारा राष्ट्र-राज्य की सम्प्रभुता के बारे में चुनौतियों अथवा कुछ भूमण्डलीकरण या बाह्य दुष्प्रभावों की जाँच करने पर इसे सर्वोत्तम तरीके से समझा जा सकता है।

7.4.1 नई विश्व अर्थव्यवस्था की चुनौतियाँ

राज्य की सम्प्रभुता को प्रभावित करने वाले आर्थिक लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में दो प्रमुख परिवर्तन बहुराष्ट्रीय निगमों (Multinational Corporations – MNCs) द्वारा आयोजित रहे हैं। ये हैं, उत्पादन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा वित्तीय लेन-देन। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विश्व के साथ अपने कार्यकलापों में उत्पादन तथा वित्तीय लेन-देन करते समय केवल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को मन में नहीं रखते। राष्ट्रीय आधार होने के बावजूद उनके हित भूमण्डलीय होते हैं और अपने गृह देश में उनके कार्यकलाप अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों के बैंकों जैसे वित्तीय संगठन के भूमण्डलीय स्तर के तथा नई सूचना प्रौद्योगिकी से जुड़े होते हैं और उन्होंने यह संभव बना दिया है कि स्टॉक और शेयर अब मोबाइल (संचल) हो चुके हैं और वे आसानी से सीमाओं को पार कर जाते हैं। इसलिए वित्तीय विश्व अर्थव्यवस्था अब राज्य के ही नियंत्रण में नहीं रह गई। संचार तथा परिवहन के क्षेत्र में प्रौद्योगिकी प्रगति उन राष्ट्रीय बाजारों के बीच सीमाओं का क्षरण कर रही है जो कि अतीत में स्वतंत्र राष्ट्रीय नीतियों के गढ़ हुआ करते थे। बाजार तथा समाज एक दूसरे के प्रति अधिकाधिक संवेदनशील होते जा रहे हैं। यद्यपि उनकी राष्ट्रीय पहचान अलग अलग होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में आवागमन के द्वारा उनकी मौद्रिक तथा वित्तीय नीतियाँ प्रभावित होती हैं। उदाहरण के लिए, 1937 में प्रमुख बाजार की अस्त व्यस्तता का प्रभाव अनेक देशों पर पड़ा था।

परिणामस्वरूप, राज्य के भीतर आंतरिक नीति नियामक-निवेश, रोज़गार तथा राजस्व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की गतिविधियों तथा विश्व अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों के कारण प्रभावित होता है। सरकारों द्वारा प्रमुख कल्याण नीतियाँ, आयात अथवा तटकर के अवरोधक (राज्य के हस्तक्षेप) उदारवाद के युग में गृह उद्योग की सुरक्षा के लिए सरकारों द्वारा इस्तेमाल में लाए जाते थे। अब उनपर अमल कर पाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता जा रहा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि राज्य की अर्थव्यवस्थाएँ अब केवल राज्य सरकारों द्वारा ही नहीं नियंत्रित होती हैं बल्कि उनके प्रबंधों पर विदेशी ताकतों जैसे ह्रास, मुद्रा स्फीति व्यापार समझौतों आदि का असर पड़ता है जो कि विश्व अर्थव्यवस्था के अंतर सम्बंधों के कारण इस प्रकार की स्थितियाँ आती हैं। हालाँकि कुछ राज्य इस स्थिति में बेहतर प्रबंध कर सकते हैं और वे विश्व अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीयकरण के लाभ भी उठा सकते हैं और सीमाओं को भी बहाल करने में सक्षम होते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका अथवा यूरोपीय संघ ने इस स्थिति का लाभ उठाया है। इस प्रकार विश्व प्रणाली के भीतर प्रवृत्तियाँ विभिन्न राज्यों पर एक जैसे प्रभाव नहीं डालती हैं बल्कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य के विचार के बीच एक निश्चित कारक होता है जो कि उसके भविष्य तथा ऐसी आधुनिक

अर्थव्यवस्थाओं का निर्धारण करता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक शक्तियों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में बट जाती हैं।

7.4.2 नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से चुनौतियाँ

राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के बीच अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा सत्ता राजनीतिक संघों के नए-नए रूप उभरे हैं जो राष्ट्र के बाहर के सभी क्षेत्रों की सभी गतिविधियों (व्यापार, समुद्र, अंतरिक्ष) का प्रबंध करते हैं तथा सामूहिक नीति समस्याओं का समाधान करते हैं। 1909 में 37 अंतर सरकारी संगठन, 176 अन्तर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठन थे। 1984 तक इसकी संख्या बढ़कर क्रमशः 280 और 4615 हो गई। परिणामस्वरूप, हमारे सामने अनेक राज्यों को निर्णय प्रक्रिया में शामिल करने वाले नए-नए रूप तथा अन्तर्राष्ट्रीय दबाव समूहों के समग्र परिदृश्य देखने को मिलते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय डाक यूनियन अथवा दूर संचार यूनियन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियाँ हैं जो काफी हद तक गैर-राजनीतिक संगठन हैं लेकिन विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूनेस्को, संयुक्त राष्ट्र जैसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जो बहुत अधिक राजनीतिक तथा विवादास्पद हैं तथा राज्यों के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने के मामले में उनकी शक्ति बढ़ी है। इसलिए राष्ट्र-राज्य प्रभुसत्ता की धारणा के बीच निश्चित रूप से तनाव विद्यमान रहता है जो इसके आंतरिक मामलों में तथा इसकी राजनीतिक व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था के प्रबंधन में हस्तक्षेप करने में सक्षम अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व से भरा हुआ है। यूरोपीय संघ अति राज्य संसा का एक ऐसा उदाहरण है जो कानून बना सकता है सजा दे सकता है नियमन कर सकता है। निर्देश दे सकता है, नीति पर अमल कर सकता है तथा सामान्य मुद्रा रख सकता है। यूरोपीय राज्यों ने अपनी आर्थिक प्रगति को बढ़ाने तथा अमेरिका और जापान की प्रतिस्पर्धा का सामना करने के उद्देश्य से इस संस्था के प्रति अपनी प्रभुसत्ता को सोच समझकर समर्पित कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रभुसत्ता अब अभिभाज्य, असीमित, विशिष्ट, सतत तथा एक ही राज्य में अन्तरनिहित नहीं है।

7.4.3 अन्तर्राष्ट्रीय कानून से चुनौतियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में परिवर्तनों ने विनियमनों तथा अधिकारों तथा कर्तव्यों के नए-नए रूप लागू किए हैं जिनका राज्यों पर दबाव पड़ता है। इनके पीछे कोई जोर-जबर्दस्ती करने वाली शक्ति का समर्थन नहीं है इसके बावजूद ये इतने महत्वपूर्ण हैं कि राज्यों को उन्हें मानना पड़ता है। परम्परागत रूप से राज्य सम्प्रभुता में एक नियम यह रहा है कि व्यक्तियों तथा राज्य एजेन्सियों को ऐसी छूट होनी चाहिए कि किसी अन्य देश के न्यायालय में उनपर मुकदमा न चलाया जा सके। परन्तु हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों में इन नियमों पर सवाल उठाए जा रहे हैं। राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच एक ऐसा तनाव बना हुआ है जिसका विशेषकर यूरोपीय संघ के अंदर हल किया जाता है। इतना ही नहीं 1950 में मानव अधिकारों की सुरक्षा तथा बुनियादी स्वतंत्रताओं की सुरक्षा के लिए 1950 में यूरोपीय समझौता किया गया जो कि एक महत्वपूर्ण कदम था। यह मानव अधिकारों के बारे में कई घोषणापत्र जैसा नहीं है यह कुछ अधिकारों के सामूहिक परिवर्तन की दिशा में एक कदम आगे ले जाता है। एक प्रमुख अभिनव तथ्य यह है कि व्यक्ति अपनी ही सरकारों के खिलाफ कार्यवाही शुरू कर सकती हैं।

यूरोपीय देशों ने यह स्वीकार किया है कि उनके नागरिक मानव अधिकारों के बारे में यूरोपीय आयोग पर सीधे याचिका दाखिल कर सकते हैं जो मामलों को यूरोप के काउंसिल की मंत्री समिति के सामने तथा उसके बाद मानव अधिकारों से सम्बंध यूरोपीय अदालत में ले जा सकते हैं। इस प्रकार कोई भी राज्य अब अपनी मर्जी के अनुसार अपने नागरिकों की मर्जी के खिलाफ व्यवहार नहीं कर सकता। एक राज्य की सदस्यता के बीच में अंतर उभरा है जोकि परम्परागत रूप से अपने नागरिकों को कुछ अधिकार तथा कर्त्तव्य निर्धारित करता है और न्यूरेबर्ग स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल द्वारा निर्धारित अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं के नए रूपों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून बना सकता है। ट्रिब्यूनल ने यह प्रावधान निर्धारित किया है कि जब बुनियादी मानवीय मूल्यों की रक्षा करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का राज्य के कानूनों के साथ टकराव हो जाता है तो यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह प्रथम का अनुसरण करें। इतना ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का दायरा और उसकी दिशा में भी परिवर्तन आया है। परम्परागत रूप से सम्प्रभुता संपन्न राज्यों के विचार को मानव जाति के सर्वोच्च राजनीतिक संगठन के रूप में महत्व प्रदान किया जाता था। हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अब राज्यों के बीच कानून के रूप में नहीं परिभाषित किया जाता है, अपितु इसे राज्यों के ऊपर एक सार्वभौम एजेन्सी के रूप में न केवल माना जाता है बल्कि सभी इसे स्वीकार करते हैं। यहाँ तक स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि भूमण्डलीकरण के बावजूद इसे सभी राज्य राज्य और व्यक्ति स्वीकार नहीं करते। ये उदाहरण के लिए इस्लामी कट्टरवादी आन्दोलन इसे स्वीकार नहीं करते।

अंत में एक स्वायत्त सामरिक अभिकर्ता तथा राज्यों की भूमण्डलीय प्रणाली के विकास के बीच एक विरोधाभास है जो महाशक्तियों तथा शक्ति प्रखण्डों के अस्तित्व के रूप में दिखाई पड़ता है और कभी कभी राज्य की सत्ता और अखण्डता में भीतर से कटौती कार्य का संचालन करता है। नाटो और वारसा पैक्ट के अस्तित्व से विशेषकर उनकी सैनिक और विदेश नीति सम्बंधी निर्णय करने वाली शक्तियों पर दबाव पड़ सकता है। राज्यों द्वारा सशस्त्र सैनिकों के संयुक्त इस्तेमाल के बारे में 'सुरक्षा का अन्तर्राष्ट्रीयकरण' भी उभरा है जिसने राज्यों के ऊपर एक ऐसी नियंत्रक संरचना का सृजन किया है जिसपर व्यक्तिगत रूप से उन राज्यों का बहुत मामूली नियंत्रण होता है।)

7.5 राज्य के आंतरिक कार्य पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव

7.5.1 लोकतांत्रिक निर्णय करना

राष्ट्र-राज्यों के आंतरिक कार्य संचालन पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव के बारे में अनेक सवाल उठाए जाते हैं। उदार राजनीतिक सिद्धान्त द्वारा एक प्रमुख सवाल उठाया जाता है जो कि लोकप्रिय सम्प्रभुता से निकट रूप से जुड़ा हुआ है और जो लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया पर भूमण्डलीकरण के बारे में है। परम्परागत रूप से उदार सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया कि शासकों तथा शासितों के बीच एक जैसा तथा उपयुक्त सम्बंध है। पूर्ववर्ती ने बहुसंख्यक शासन तथा जबाबदेही की अवधारणाओं पर आधारित निर्णय किए और परवर्ती ने उन्हें वैधता प्रदान की। राष्ट्र-राज्यों को अपने आप में पूर्ण इकाइयों के रूप में देखा गया और युद्ध अथवा आक्रमण की स्थिति को छोड़कर अन्य राज्यों या अन्तर्राष्ट्रीय

प्रणाली में परिवर्तनों को विचार के लिए नहीं लिया गया। नव-उदारवाद के आविर्भाव से नागरिक समाज तथा प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों के लिए और अधिक जगह पैदा करने के लिए राज्य की ओर झुकाव हुआ जोकि राष्ट्र-राज्यों के भीतर ही सीमित या घिरा हुआ नहीं है। इतना ही नहीं विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी एजेन्सियों के सक्रिय हस्तक्षेप के कारण संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों तथा विकास परियोजनाओं तथा व्यापार प्रतिबंधों, अनुदान, सैनिक आयातों आदि की ओर झुकाव हुआ और यह झुकाव इस हद तक हुआ कि लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया के सामने इससे गंभीर पैचिदगियाँ पैदा हुईं। परिणामस्वरूप राज्यों को अपने ही फैसलों और कार्यों पर उस तरह नियंत्रण नहीं रहा जैसा कि अतीत काल में होता था। इसका तात्पर्य यह है कि सहमति की परम्परागत अवधारणा में परिवर्तन जो कि लोकतांत्रिक सिद्धान्त का एक प्रमुख तत्व है। सामाजिक अनुबंध की पहले की धारणाएँ तथा मतपेटी के इस्तेमाल पर आधारित चुनावी लोकतंत्र जो कि मुक्त और समान व्यक्तियों के समुदाय पर आधारित लोकतंत्र की भागीदारी के ओर ले जाता है अब और अधिक वैध नहीं रह गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-सा सार्थक समुदाय है, - स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय? कौन कानून बनाता है यह वैध प्रश्न है क्योंकि अब प्रादेशिक सीमाओं को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा रहा है। इसलिए भूमण्डलीकरण में उदार लोकतंत्र में निहित स्वीकृतियों की फिर से खुलने की संभावना है। भूमण्डलीकरण के साथ-साथ उदार लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर पुनः दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

7.5.2 संजातीय पुनरुत्थान

एक दूसरा मुद्दा है, भूमण्डलीकरण का सहअस्तित्व और जातीय पहचान, भाषा, जनजाति या धर्म पर आधारित स्वीकृतियाँ जो आजकल सामान्य राष्ट्रीय भावना पर आधारित सामंजस्यपूर्ण राष्ट्र-राज्य की अवधारणा पर सवाल खड़ा कर रही है कि पश्चिम में चर्च और सामंतवाद के खिलाफ या विकासशील विश्व में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ लम्बे संघर्षों से अवधारणाओं का निर्माण हुआ। इससे पहले राष्ट्र-राज्य के साथ अपने सम्बंध तथा जातीय पहचानों की जाँच करते समय विद्वानों का विश्वास रहता था कि जातीय बंधन मौलिक थे, अर्थात् वे प्रारंभ से ही थे तथा निर्धारित थे और सार्वभौमता के सिद्धान्त के आधार पर भूमिकाओं के बढ़ते हुए आबंटन तथा आधुनिकीकरण के साथ उनके विलुप्त हो जाने की आशा थी। राष्ट्र-राज्य समय के साथ-साथ जातीय अल्पसंख्यकों की समस्या को एक करने में सक्षम हो जाएँगे और आत्मसात् करने का गुण मात्र सामाजिक सिद्धान्त नहीं रह जाएगा, अपितु राज्यों द्वारा अनुसरण किए जाते हुए नीति का लक्ष्य भी बन जाएगा। 1980 के दशक के प्रारंभ से न केवल विकासशील देशों में बल्कि कनाडा जैसे आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में भी जातीय आन्दोलन होने लगे। एन्डरसन जैसे विद्वानों ने यह संकेत किया कि पहचान का आविष्कार 'कल्पना' से ही जाना जा सकता है। इसका तात्पर्य यह था कि ये तथ्य अब केवल रक्त सम्बंध, भाषा और संस्कृति में ही मूल रूप से नहीं रह गए थे बल्कि सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यों द्वारा उनकी संरचना की जा सकती थी। इसका तात्पर्य यह था कि जातीयता तथा राष्ट्रीयता के अवधारणाओं के बीच तथा जातीय समूहों और राष्ट्र के बीच सम्बंधों में पर्याप्त परिवर्तन आ चुका है। राज्यों के अन्दर तीन प्रकार की स्वीकृतियाँ स्थान लेती

हुई प्रतीत होती है। पहला, जो इस विश्वास पर आधारित की सांस्कृतिक पहचान तथा आर्थिक समृद्धि बनाए रखे जा सकती है अथवा वर्तमान राज्य से अलग होते हुए हासिल की जा सकती है। इसका एक सुन्दर उदाहरण पूर्ण सोवियत संघ है। दूसरा, जो यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रवादी आकांक्षा बिना पूर्ण स्वतंत्र राज्य सत्ता के हासिल नहीं किए जा सकती। उदाहरण के लिए युगोस्लाविया। तीसरा, अपेक्षाकृत अधिक व्यापक कारण है जिसमें राज्य एक विशिष्ट जातीय समूहों की पर्याप्त देख रेख नहीं करता जो कि पिछड़ गया है और हासिये पर जा चुका है उदाहरण के लिए, भारत में दलित। इसलिए आज भूमण्डलीकरण पहली बड़ी ताकत है जो राज्य के सामने बुनियादी चुनौती प्रस्तुत कर रही है, जातीय पहचान का पुनः आविर्भाव और दूसरा है वे विपरीत दिशा प्रायः खिचाव डालते हैं। भूमण्डलीकरण एक भूमण्डलीय संस्कृति का प्रोत्साहन देता है जबकि जातीय पहचान स्थानीय संकीर्ण पहचानों को प्रोत्साहित करते हैं तथा 'अन्य' पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार राष्ट्र-राज्य को बाहर से तथा भीतर से दोहरे दबाव का सामना करना पड़ता है। राष्ट्रवाद का सिद्धान्त जिसने 19वीं शताब्दी में राज्य को जन्म दिया। अब राज्यों को एक साथ बनाए रखने में सक्षम नहीं रह गया। बाह्य प्रभाव भी पहचानों को पुनर्प्राप्ति के करने पर दबाव डाल सकते हैं।

7.6 सारांश

अधिकांश विद्वान डेविड हेल्ड के विचार से सहमत होंगे जो राज्य की प्रभुसत्ता के बारे में भूमण्डलीकरण के प्रभाव के बारे में संतुलित दृष्टिकोण बनाए रखने की कोशिश करते हैं वे तर्क देते हैं कि राज्य अपनी प्रभुसत्ता को नहीं खो चुके हैं जिसकी वजह से एक नई विश्व लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम हो, न ही जॉन आस्टीन द्वारा प्रस्तुत प्रभुसत्ता का पारम्परिक सिद्धान्त छोड़ा जा सकता है। इसके बजाय वह महसूस करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अंदर लोकतांत्रिक राज्य के बदलते हुए स्थान के सिद्धान्त का फारमूला तैयार करने की आवश्यकता है। हम एक ऐसी प्रणाली की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें सत्ता एक-दूसरे पर स्थानांतरित होती है और जिसमें विविध प्रकार की वफादारी होती है। अधिकारों और कर्तव्यों तथा सत्ता के ढाँचे की परस्पर विरोधी व्याख्याएँ होती हैं जिसमें कोई राज्य सर्वोच्च नहीं होता। इसमें प्रभुसत्ता केवल एक नया अदृश्य नहीं रह जाती। यह मध्यकालीन ईसाई धर्म की तरह हो जाती है जिसमें कोई भी शासक न तो सर्वोच्च होता है और नहीं अन्य से - एक नव मध्यकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से ऊपर नहीं होता है। इसके लिए कानून तथा व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार का नया 'धर्म निरपेक्ष मध्य कालवाद' ऐसी तमाम समस्याओं से ग्रस्त हो सकता है जिसमें लोकतांत्रिक राज्य परम्परागत रूप से जैसे प्रतिनिधित्व तथा जबाबदेही की अवधारणाओं के साथ कार्य करते हैं। लोकतंत्र की संस्थाओं ने इन दबावों के कारण परिवर्तन आ सकता है। अतीत की तरह ही इन राज्यों पर नागरिकों का नियंत्रण नहीं रह सकेगा। इसका एक अच्छा उदाहरण पूर्वी यूरोप के राज्य हैं जो अपने निजी मामलों पर नियंत्रण रखने की कोशिश किए हैं लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ जो उनमें बाहर हो गई, है उनका प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार भविष्य के लिए एक आदर्श प्रणाली यह होगी कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों को जारी रखा जाए, लेकिन साथ ही नई बहुसत्तात्मक प्रणालियों के साथ उनका सह-अस्तित्व बना रहे। आवश्यकता इस बात की

है कि राज्यों के अंदर और राज्यों के बीच लोकतंत्र बना रहे। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय ताकतों के रूप में एक-दूसरे से पृथक संजाल के अंदर नेटवर्क तथा संबंध। राज्य प्रणाली के लोकतंत्रीकरण का यही तात्पर्य है, परस्पर सम्बंध राजनीतिक निर्णयों की संरचना तथा उनके परिणाम जिससे प्रत्येक एक-दूसरे को प्रभावित करें और एक दूसरे से टकराएँ तथा एक-दूसरे पर प्रभाव डालें। यह सब एक अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक व्यवस्था तथा नागरिक समाज के अंदर विद्यमान रहने की परिकल्पना की गई है।

7.7 बोध प्रश्न

1. भूमण्डलीकरण क्या है? भूमण्डलीकरण के विभिन्न दृष्टिकोणों का विश्लेषण कीजिए।
2. राज्य सम्प्रभुता पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव की समीक्षा कीजिए।
3. राज्य के आंतरिक कार्यों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव पर विचार व्यक्त कीजिए।

इकाई 8 क्षेत्रीय संघटन और राज्य

संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 परिभाषा

8.3 संघटन के विभिन्न दृष्टिकोण

8.4 राज्य पर क्षेत्रीय संघटन का प्रभाव

8.4.1 राज्य के स्वरूप और उसके कार्यों पर प्रभाव

8.4.2 प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय दायित्वों पर प्रभाव

8.5 क्षेत्रीय संघटन के स्वरूप

8.5.1 पश्चिमी यूरोप का संघटन : यूरोपीय संघ (European Union)

8.5.2 मध्य पूर्व और अरब देशों का संघटन : [अरब लीग]

8.5.3 अफ्रीकी राज्यों का संघटन: [अफ्रीकी एकता का संगठन (Organisation of African Unity - OAU)]

8.5.4 अमेरिकी राज्यों का संघटन : [अमेरिकी राज्यों का संगठन (Organisation of American States - OAS)]

8.5.5 ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्य का संघटन: [ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्य समझौता (Australia-New Zealand - United States Pact (ANZUS) 1951)]

8.5.6 एशियाई महाद्वीप में संघटन: [दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की एसोसिएशन (आसियान) (The Association of South Asian Nations - ASEAN) तथा क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई एसोसिएशन (सार्क) (South Asian Association for Regional Cooperation - SAARC)]

8.5.7 एशिया प्रशान्त महासागर देशों में संघटन: [एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग (एपेक)]

8.6 क्षेत्रीयवाद और राज्यों को सुदृढ़ बनाना

8.7 सारांश

8.8 अभ्यास प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

दूसरे विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र-राज्य समुदाय के संघटन का विकास स्पष्ट और व्यापक हो गया था। जैसे जैसे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी, उसी प्रकार पारस्परिक सहयोग के लिए उन्होंने परस्पर संबंध और संस्थाओं की स्थापना की। वर्तमान समय में अधिकाधिक राज्य और उनके लोगों को पारस्परिक निर्भरता का और अपनी आवश्यकताएँ एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्षेत्रीय सहयोग स्थापना की आवश्यकता का अहसास हुआ है। इस कारण क्षेत्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की एक विशेष विचारधारा का विकास हुआ है। क्षेत्रीय संघटन की यह विचारधारा अति विशिष्ट महत्वपूर्ण है। यह विशिष्ट

इस अर्थ में है कि एक तरफ तो विश्व राजनीति में प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों की संख्या में वृद्धि हो रही है तो दूसरी तरफ प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य विकास के लिए सामूहिक कार्य करने हेतु पारस्परिक संबंध स्थापित करने और कई अधिकारों के बारे में समझौता करने की इच्छा रखते रहे। इसके परिणामस्वरूप नए राज्यों का उदय तथा पर्याप्त संख्या में सार्वभौमिक संस्थाओं तथा क्षेत्रीय कार्य-संगठनों का विकास हुआ है।

सार्वभौमिक संस्थाएँ विश्व शांति, समृद्धि तथा विकास के लिए सार्वभौमिक सहयोग करने का तथा क्षेत्रीय कार्य संगठन अपने सदस्य-राष्ट्रों के विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने के कार्य करने में लगे रहे। इस प्रक्रिया से राज्य पर पड़ने वाले प्रभाव को समझना काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इस विचारधारा से राज्यों के स्वरूप, उनकी कार्य प्रणाली तथा भूमिका में कई परिवर्तन हमारे समक्ष आए।

8.2 परिभाषा

क्षेत्रीय संघटन का अर्थ है ऐसे छोटे-छोटे गैर-राजनीतिक सहयोगी संगठनों का विकास करना जो आर्थिक, तकनीकी, वैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में क्षेत्रीय स्तर पर सर्वाधिक प्रभावी ढंग से स्थापित किए जाते हैं। ये ऐसे कार्य क्षेत्र हैं जिनमें राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को जोखिम में डाले बिना पारस्परिक सहयोगी संस्थागत संबंध स्थापित कर सकते हैं। ऐसे क्षेत्रीय कार्य संगठनों के पारस्परिक लाभ का आधार इन क्षेत्रों में विकास के वांछित उद्देश्य प्राप्त करने का उपयोगी तरीके अपनाना ऐसी सोच के प्रति बड़े अहसास ने क्षेत्रीय संघटन के प्रति एक निश्चित विचारधारा को जन्म दिया है। इतिहास के आधुनिक काल में प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की संकल्पना एवं वास्तविक स्थापना राष्ट्र परिवार का निर्माण हुआ है। ऐसे में संघटन, सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के नियमन की विचारधारा ने नया स्वरूप ग्रहण किया है और यह एक बड़ी आवश्यकता भी बन गई है।

क्षेत्रीय संघटन को अन्तर राज्य संघटन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह आधुनिक बहु राज्य व्यवस्था का एक सहायक उपाय है। अपने सर्वाधिक तात्त्विक रूप में यह शब्द/घटक सहयोग करने वाले राज्यों में एक समान उद्देश्य और संस्थाओं में वृद्धि करना तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लागू करना - ये दोनों व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में क्षेत्रीय संघटन का अर्थ राष्ट्र-राज्यों के संघटन की तरफ और या उसके लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा राष्ट्र-राज्यों का समूह परस्पर संस्थागत सहयोग स्थापित करता है। इन राष्ट्र-राज्यों द्वारा अपने संबंधों का निर्वाह करने के लिए स्थापित ये संगठित संस्थाएँ या तंत्र प्रणालियाँ भी क्षेत्रीय संघटन के एक हिस्से का निर्माण करती हैं। ये संस्थागत तंत्र प्रणालियाँ नीतियों और कार्यों में सहयोगी निर्णय करने का साधन प्रदान करती हैं। प्रत्येक संघटित संस्था प्रत्येक सदस्य को समग्र में मिला देती हैं, उनके आंतरिक संबंधों को विनियमित करती है तथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करती हैं। संपूर्ण व्यवस्था की प्रत्येक इकाई के उचित स्थान को स्वीकार करते हुए और उसका सम्मान करते हुए संघटित संस्था न केवल स्थिरता बनाए रखती हैं अपितु विकास के लिए सहयोग भी प्रदान करती हैं।

8.3 संघटन के विभिन्न दृष्टिकोण

क्षेत्रीय संघटन के वरीय पद्धतियों और दृष्टिकोणों के बारे में तीन विभिन्न प्रकार की विचार योजनाएँ हैं।

- (क) **संघीय विचार:** संघीय विचार संप्रदाय संघटन को वैधानिक रूप से एक संस्थागत अर्थ में ग्रहण करता है। यह समूह संघटन पर एक प्रक्रिया की अपेक्षा एक लक्ष्य परिणाम के रूप में विचार करता है। यह इसे प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की राजनीतिक एकता के अर्थ में प्रस्तुत करता है। विश्व संघ के समर्थक इस विचारधारा के पक्ष से संबंधित हैं।
- (ख) **क्षेत्रीय संघटन का संप्रेषण रूप:** संप्रेषण सिद्धान्तवादी, जैसे कार्ल डब्ल्यू ड्यूच संघटन को अन्तर्राष्ट्रीय परराष्ट्रीय आदान प्रदान की ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जो अंततः “सुरक्षा समुदाय” या “एक संघटित सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था” के विकास की ओर ले जा सकती है और लेकर भी जाएगी।
- (ग) **क्षेत्रीय संघटन का नव कार्य सिद्धान्तवादियों का विचार:** विचार का तीसरा संप्रदाय नव कार्य सिद्धान्तवादियों का है वे संघटन को एक प्रक्रिया तथा एक परिणाम दोनों के रूप में देखते हैं। वे सहयोगी निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर जोर देने को प्राथमिकता देते हैं जो संघटन का प्रामाणिक चिह्न भी है।

ये तीनों विचारधाराएँ क्षेत्रीय संघटन की संकल्पना को एक विशिष्ट पक्ष का द्योतक है। क्षेत्रीय संघटन में संघटन प्रक्रिया, सहयोगी संबंधों को बनाने वाली संस्थाएँ तथा इन सभी संस्थाओं और उनके कार्यों के पीछे रहने वाली सहयोगी निर्णय-निर्माण प्रक्रिया शामिल है। इसे राष्ट्र-राज्यों की शांतिपूर्ण और स्वेच्छा से क्षेत्रीय, महाद्वीपीय और सार्वभौमिक रूप से संगठित संस्थाओं, या एसोसिएशनों या एजेन्सियों के समीकरण की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

8.4 राज्य पर क्षेत्रीय संघटन का प्रभाव

क्षेत्रीय संघटन के बढ़ते प्रभाव का राज्य के स्वरूप, उसके कार्यों तथा कार्य प्रणाली पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करना बहुत महत्वपूर्ण है। यह राज्य की प्रभुसत्ता का कहाँ तक क्षय करता है? क्या राज्य अपने मूल दायित्वों को पूरा करने के लिए अखंड है या उसने इन महत्वपूर्ण तथ्यों की कुछ विशेषताओं पर समझौता किया है? आइए, हम इन प्रश्नों की समीक्षा करते हैं।

8.4.1 राज्य के स्वरूप और उसके कार्यों पर प्रभाव

मूल संघटन का राज्य के स्वरूप और कार्यों पर प्रभाव पड़ने के प्रश्नों को देखने से पूर्व यह समझना महत्वपूर्ण है कि एक राज्य का गठन/संघटन कैसे होता है। पामेर और पार्विन्स के अनुसार, “क्षेत्र अनिवार्यतः एक भूमि होती है जो तीन या अधिक राज्यों की सीमाओं से घिरी हुई होती है। ये राज्य अपने एक समान हितों तथा भौगोलिकता के

कारण परस्पर संबद्ध होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये राज्य संलग्न हो या एक ही महाद्वीप में हों। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में क्षेत्र का एक भौगोलिक क्षेत्र या इकाई होना आवश्यक नहीं है। क्षेत्र की संकल्पना भूमि, सेना/राजनीतिक समूह या आर्थिक समूहों या परराष्ट्रीय इकाई के रूप में की जा सकती है। एक क्षेत्र के राज्यों को या समान आवश्यकताओं या किसी विषय, समस्या या लक्ष्य के बारे में एक समान अनुभवों वाले तथा अपेक्षित उद्देश्य/उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले उपायों की दृष्टि से राज्यों को संगठित करने की संकल्पना को क्षेत्रीयता की संकल्पना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। क्षेत्रीयता की संकल्पना के अंतर्गत संगठित किसी संगठन को क्षेत्रीय संगठन कहा जा सकता है। क्षेत्रीय संघटन पर आधारित क्षेत्रीय व्यवस्था किसी क्षेत्र विशेष में एक समान राजनीतिक, सैन्य या आर्थिक कार्य करने वाले दो या अधिक राज्यों के बीच दीर्घकालीन समझौते का परिणाम होती है। इसमें शर्त यह होती है कि प्रतिबद्धताएँ एक निश्चित क्षेत्र और विशिष्ट राज्यों तक सीमित हों, ऐसी प्रणाली या व्यवस्था निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के कई देशों के समूह में स्थाई किस्म के संगठनों द्वारा आगे बढ़ाई जाती है। इसका कारण उन देशों की निकटता, हितों, या सांस्कृतिक, भाषाई ऐतिहासिक या आध्यात्मिक घनिष्टता होती है जिसके लिए वे अपने बीच उठ सकने वाले किसी विवाद को शान्तिपूर्वक सुलझाने तथा अपने क्षेत्र में सुरक्षा और शान्ति बनाए रखने, तथा अपने हितों की सुरक्षा एवं आर्थिक एवं सांस्कृतिक संबंधों के विकास की सुरक्षा के लिए संयुक्त रूप से जिम्मेदार होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक क्षेत्रीय व्यवस्था में (i) भौगोलिक तथ्य नितांत आवश्यक तत्व नहीं होता, (ii) जैसे राज्यों के बीच सहयोग एवं समन्वय को बढ़ावा देने का विचार होता है जो भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों के द्वारा परस्पर संबद्ध है, (iii) ऐसी व्यवस्था एक या अनेक उद्देश्यों के साथ सैनिक या आर्थिक या राजनीतिक हो सकती है।

ऐसी अवस्था में, जहाँ स्वयं राज्य एक क्षेत्रीय समझौता करने में भागीदार है, तो प्रश्न उठता है कि इसका राज्य के स्वरूप और कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका उत्तर केवल सकारात्मक ही हो सकता है, अर्थात् ऐसी व्यवस्था उनकी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को संकट में नहीं डालती। इतिहास के आधुनिक काल में राष्ट्र परिवार बनाने वाली प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की संकल्पना और वास्तविक स्थापना के साथ संघटन, सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विनियम की प्रवृत्ति ने महत्वपूर्ण आवश्यकता का रूप ग्रहण कर लिया है तथा यह किसी भी रूप में राज्य के मूल स्वरूप और उसके कार्यों पर विपरीत प्रभाव नहीं डालती। चूँकि यह प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र-राज्यों की शान्ति और एकीकरण की आत्म इच्छित प्रक्रिया है। अतः यह राज्यों की अपनी पहचान बनाए रखने में सुरक्षा प्रदान करती है तथा साथ ही राज्य का स्वरूप एवं उसके कार्यों को किसी भी तरह प्रभावित किए बिना संघटन और सहयोग के लाभ भी प्रदान करती है।

8.4.2 प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय दायित्वों पर प्रभाव

आज राजनीतिज्ञों से यह घिसा-पिटा जबाब सुनने को मिलता है कि वे किसी राष्ट्र-राज्य को निर्धारित करने वाले अनेक घटकों पर नियंत्रण नहीं रख सकते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय ताकतें किसी राज्य के लिए कोई विशिष्ट राष्ट्रीय नीति

का पालन करना सीमित या असंभव कर देती हैं। यदि इन दावों की सच्चाई को एक क्षण के लिए छोड़ भी दे तो हमें वैध प्रभुसत्ता और वास्तविक प्रभुसत्ता में पहले प्रस्तुत किए गए अंतर या हम कह सकते हैं कि प्रभुसत्ता और स्वायत्ता के बीच के अंतर को याद रखना उपयोगी होगा। यह अंतर कभी-कभी राज्य द्वारा वैध प्रभुसत्ता के अभाव में हमारी समस्याओं को राजनीतिक और आर्थिक स्वायत्तता समाप्त होने पर पैदा होने वाली समस्याओं से अलग करने के लिए किया जाता है। आगे हम जाँच करेंगे कि क्षेत्रीय संघटन और उससे पैदा होने वाले दायित्व कहाँ तक राज्य की प्रभुसत्ता को क्षय करते हैं जैसा कि वैधानिक अर्थ में या स्वायत्तता समाप्त होने के अर्थ में समझा जाता है।

प्रमुख शक्तियों और शक्तिशाली गुटों से युक्त राज्यों की भूमंडलीय व्यवस्था के विकास के साथ अनेक क्षेत्रीय संगठनों के प्रादुर्भाव से उनका संचालन कभी-कभी राज्य के अधिकार और अखंडता को कम कर देता है। विश्व शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका और फिर सोवियत संघ के आधिपत्य से और फिर उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) (North Atlantic Treaty Organisation – NATO) के गठबंधन तथा वारसा पैक्ट के कारण अनेक राष्ट्रों के लिए स्पष्ट निर्णय लेना कठिन हो गया है। किसी राज्य की विशिष्ट विदेश नीतियाँ अपनाने, कुछ सामरिक विषयों पर जोर देने, वैकल्पिक सैन्य तकनीकों में से चुनाव करने तथा अपने बड़े क्षेत्र में स्थित किसी शस्त्र प्रणाली को नियंत्रित करने की क्षमता शक्ति संबंधों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में उसकी हैसियत के कारण प्रतिबंधित हो जाती है। इस तथ्य को उदघाटित करने के लिए नाटो का उदाहरण देखिए। नाटो की चिन्ता सामूहिक सुरक्षा की है जिसने एक तरफ तो प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों का संगठन बनाए रखने (जो सिद्धान्ततः किसी सदस्य राज्य को उचित निर्णय होने पर कार्रवाई नहीं करने देता) और दूसरी तरफ एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विकसित कर रहा है जो यदि वैधानिक नहीं है तो भी अपने तर्क और निर्णय निर्माण प्रक्रियाओं के अनुसार कार्य करने के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचता है। एक राष्ट्र राज्य की प्रभुसत्ता आवश्यक है और एक बार इसका निर्णय हो जाए तो यह क्षेत्रीय संगठन में शामिल हो सकता है।

लेकिन ऐसी प्रतिबद्धता के बिना भी राज्य की प्रभुसत्ता एवं स्वायत्तता को सीमित एवं नियंत्रित किया जा सकता है यह अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रीय नीतिगत ढाँचों में कार्य करने के लिए राष्ट्रीय नीतियों के संघटन वाले क्षेत्रीय संगठन के दैनिक कार्यों पर लागू होता है। इस प्रकार क्षेत्रीय दायित्व स्वतः ही राज्य की स्वायत्तता को सीमित कर देते हैं। इस प्रकार क्षेत्रीय संघटन पर आधारित ऐसी व्यवस्थाएँ अनौपचारिक लेकिन अधिकार में संपूर्ण उच्च सरकारी कार्मिकों का नेटवर्क स्थापित करने या दायित्व और नियंत्रण की राष्ट्रीय तंत्र प्रणाली से निगरानी करने में कठिन सांझेदारी की स्थापना करती हैं। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय संगठनों के सदस्य कई बार दुर्लभ संसाधनों, शस्त्र समझौतों, अन्तर्राष्ट्रीय हैसियत प्राप्त करने और राष्ट्रीय प्रगति के अन्य साधनों की प्रतिस्पर्धा के लिए प्रतिद्वंद्वी भी बन जाते हैं।

कई बार प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों का ध्यान करते हुए अपने निर्णय निर्माण पर जोर देने तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की क्षेत्रीय संस्थाओं का सदस्य होने पर ऐसी संस्थाओं की अपेक्षाओं के बीच ऐसे राष्ट्र की प्रभुसत्ता पर गंभीर प्रश्न खड़े

हो जाते हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए हम यूरोपीय समुदाय का उदाहरण देते हैं। यूरोपीय समुदाय के सदस्य राज्य अपने राज्य की परिधि में अब अकेले ही शक्ति के केन्द्र नहीं हैं। जबकि दूसरी तरफ, यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि किसी यूरोपीय राज्य के संदर्भ में विचार किया जाए तो यूरोपीय समुदाय के भी अधिकार सीमित हैं। जैसे समुदाय अपने आप सेना, पुलिस बल और प्रत्यक्ष कानून लागू करने वाली अन्य संस्थाओं के अधिकार ग्रहण नहीं कर सकता। समुदाय अपने अधिकार सदस्य राज्यों द्वारा प्रभुसत्ता के स्वेच्छया समर्पण से प्राप्त करता है। यह समर्पण एक तरफ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पहले तीन दशकों तक संयुक्त राज्य अमेरिका को तथा दूसरी तरफ जापानी अर्थव्यवस्था की प्रगति से उत्पन्न चुनौती के प्रति है। हॉपमैन ने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है, “आज राष्ट्र राज्य जीवित है तो भी इसकी कुछ शक्ति दूसरों के साथ सम्मिलित हो गई है, और प्रत्यक्षतः प्रभुसत्ता के कुछ निर्णय महत्वपूर्ण रूप से बाधित हैं या वे दूसरों के निर्णयों के द्वारा अथवा किसी के भी नियंत्रण से बाहर आर्थिक प्रवृत्तियों के द्वारा प्रभावहीन बना दिए जाते हैं। यूरोपीय समुदाय कुछ भावी स्थितियाँ बनाने और अनेक प्रकार के प्रतिफल प्रदान करने वाले राज्य को बनाए रखने में सहायता प्रदान करता है। यह अपने देश में और विदेश में कार्य करने की राष्ट्र-राज्य की क्षमता को मजबूती प्रदान करता है।”

संक्षेप में, वैध प्रभुसत्ता का विचार विशेषतः दंडात्मक अधिकारों का प्रयोग करने में राज्य की क्षमता के बारे में अक्षुण्ण रहता है। फिर भी राज्यों का संचालन हमेशा ही एक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था है जो उनकी स्वायत्तता को सीमित और प्रभुसत्ता का उल्लंघन करती है, प्रभुसत्ता की उन परम्पराओं की स्पष्टता को कम करती है जो एफ हॉब्स से और दूसरी तरफ रूसों के अनुरूप है ये प्रभुसत्ता के राजनीतिक अधिकार का असीम और अविभाज्य के रूप में व्याख्या करते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि प्रभुसत्ता जैसी की संकल्पना है को विश्लेषणात्मक और आदर्श शक्ति-अंतिम निर्णय लेने, और निश्चित समुदाय में कानून बनाने और लागू करने की वैधानिक क्षमता के रूप में रखा जाए तो इस पर अनेक एजेंसियों में विभाजित करने तथा इसकी रक्षा करने वाली और इस बहुलता की प्रकृति नियमों और प्रक्रियाओं के द्वारा सीमित करने पर भी विचार करना होगा। ऐसा ही विचार लोकेन की राजनीतिक समुदाय की संकल्पना में निहित है और राजनीति के विश्लेषण की परम्पराओं का केन्द्र है जो किसी राज्य या समाज की प्रभुसत्ता को न तो निर्धारित करता है और न ही कम करता है। फिर भी आज जहाँ राज्य स्थित है उसकी नई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में आगे विस्तार की आवश्यकता होती है। यह कार्य आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त ने पहले ही आरंभ कर दिया है।

8.5 क्षेत्रीय संघटन के स्वरूप

विश्व के विभिन्न महाद्वीपों में क्षेत्रीय संघटन की संकल्पना के साथ कई प्रयोग किए गए हैं और इस प्रकार पश्चिमी यूरोप में जिसे यूरोपीय संघ के नाम से जाना जाता है, क्षेत्रीय संघटन के मुख्यतः सर्वाधिक सफल स्वरूप से आरंभ होकर हमारे पास अनेक स्वरूप हैं। इस प्रकार विश्व के प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षेत्र में क्षेत्रीय संघटन का लगभग एक ऐसा स्वरूप स्थित है। विश्व के विभिन्न भागों में राज्यों के क्षेत्रीय संघटन के सर्वाधिक सफल और प्रसिद्ध उदाहरण नीचे दिए गए हैं।

8.5.1 पश्चिमी यूरोप का संघटन : यूरोपीय संघ (European Union)

संघटन की संकल्पना अत्यधिक सफलतापूर्वक एवं फलदायक रूप से पश्चिमी यूरोप में अजमाई जा चुकी है। अपने आर्थिक और औद्योगिक नीतियों और निर्णयों के संगठित, संस्थागत और व्यवस्थित सहयोग एवं समन्वय के माध्यम से पश्चिमी यूरोप के राज्यों ने सफलतापूर्वक न केवल 1914-45 के बीच में हुई भारी क्षति को न केवल सफलतापूर्वक पूरा किया है अपितु अपनी अर्थव्यवस्था का भी भरपूर विकास किया है। पश्चिमी यूरोपीय संघटन विशेषतः पश्चिमी यूरोपीय राज्यों के आर्थिक संघटन ने शेष विश्व के लिए अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

i) पश्चिमी यूरोपीय संघटन का स्वरूप एवं संस्थाएँ

पश्चिमी यूरोपीय संघटन के त्रिआयामी क्षेत्र रहे हैं: राजनीतिक, सैन्य एवं आर्थिक, फिर भी वास्तव में आर्थिक संघटन ही खरा उतरा है और उसने एक समुदाय के रूप में पश्चिमी यूरोपीय अब राज्यों की सहायता की है। आइए हम राजनीतिक और सैन्य संघटन की संक्षिप्त जाँच करें और पश्चिमी यूरोप के आर्थिक संघटन की विस्तृत चर्चा के साथ इसको समझें।

ii) पश्चिमी यूरोप का राजनीतिक संघटन

शक्ति क्षति के कारण यूरोप में शक्ति शून्य की स्थिति हो गई थी। जिससे महाद्वीप के सभी राज्य पीड़ित थे। इसलिए यूरोपीय राज्य के नेताओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के पूर्व शक्ति केन्द्र में अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने आरंभ किए गए। सोवियत संघ (USSR) और संयुक्त राज्य अमेरिका (USA) के प्रयासों के विरुद्ध एक प्रभावशाली उपाय के रूप में यूरोप के नेताओं के लिए राजनीतिक संघटन की बात सोचना अनिवार्य हो गया था। सोवियत संघ द्वारा पश्चिमी यूरोपीय राज्यों को समाजवादी व्यवस्था में बदलने की सफलता ने उन्हें सोवियत संघ की कठपुतली बना दिया था जिससे वे स्वेच्छा और समान साँझे राजनीतिक संघटन के माध्यम से अपनी पहचान सुरक्षित रखने की आवश्यकता के पूर्ति ओर अधिक सचेत हो गए थे।

यूरोप "संघबद्ध हो या नष्ट हो" का विचार पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों में काफी लोकप्रिय विचारधारा थी। आरंभ हुए अनेक आन्दोलन यूरोपीय एकता को बनाए रखने के लिए प्रतिबद्ध थे। इस विचार को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपनी गतिविधियों के सहयोग से यूरोपीय एकता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समिति का गठन किया। 1948 में हेंग में इस समिति का एक सम्मेलन हुआ तथा ब्रुसेल्स ताकतों - ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैण्ड और लक्जमबर्ग को यूरोपीय एकता और यूरोपीय सभा स्थापित करने का कार्य करने को कहा गया। अनुवर्ती कार्य के द्वारा यूरोपीय परिषद की स्थापना हुई।

iii) यूरोपीय परिषद (1949)

ब्रुसेल्स शक्तियों के राजनेताओं की लम्बी चर्चा के बाद सदस्य राज्यों की नीतियों में समन्वय स्थापित करने के लिए बनाए गए एक अंतः सरकारी संगठन के रूप में यूरोपीय परिषद स्थापित करने पर सहमति हुई। मार्च 1949 में यूरोपीय परिषद का संविधान बनाने

के लिए 10 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों (ब्रुसेल्स ताकतें तथा साथ में डेनमार्क, आयरलैण्ड, इटली, नार्वे तथा स्वीडन) का सम्मेलन हुआ। 5 मई 1949 को इन 10 राष्ट्रों ने इस संविधान पर हस्ताक्षर किए तथा यूरोपीय परिषद की स्थापना हुई। बाद में 1950 में तुर्की और यूनान; 1951 में आइसलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी, 1956 में ऑस्ट्रेलिया तथा 1961 में साइप्रस इस परिषद के सदस्य बन गए तथा इसे पश्चिमी यूरोपीय राज्यों की व्यापक प्रतिनिधि संस्था बना दिया।

परिषद के उद्देश्यों और लक्ष्यों में पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि रक्षा से संबंधित मामले परिषद के कार्यक्षेत्र में नहीं आते। इसका मुख्य उद्देश्य सामान्य विरासत - उनके आदर्शों और सिद्धान्तों की सुरक्षा और अनुभव के लिए इसके सदस्यों में गहन एकता स्थापित करना तथा उनकी आर्थिक और सामाजिक उन्नति करना था। यह उद्देश्य सामान्य विषयों पर चर्चा करने तथा आर्थिक, अन्तर्राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, वैधानिक और प्रशासनिक मामलों में समझौते और सांझी कार्रवाई के द्वारा तथा मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं को बनाए रखने तथा लागू करने के द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। यद्यपि यूरोपीय परिषद की कार्य प्रणाली अपने मुख्य उद्देश्य - पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक एकता की दिशा में वांछित परिणाम प्रस्तुत करने में असफल रही।

iv) पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा/सैन्य संघटन

अपनी रक्षा/सुरक्षा आवश्यकताओं के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए पश्चिम यूरोपीय राज्यों ने कई औपचारिक सुरक्षा प्रबंध या संगठनों की स्थापना का निर्णय लिया। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण इस प्रकार हैं डनकिर्क संधि, 1947, ब्रुसेल्स संधि 1948, उत्तर एटलांटिक संधि संगठन (नाटो) 1949, यूरोपीय सुरक्षा समुदाय (European Defence Community - EDC) 1952, पश्चिमी यूरोपीय संघ (Western European Union - WEU) 1955। ये सभी संस्थाएँ पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा संकल्पना को बढ़ावा देने में व्यस्त थे।

v) पश्चिमी यूरोप का आर्थिक संघटन

युद्ध के बाद सर्वाधिक आश्चर्यजनक सफल विकास था पश्चिमी यूरोप का आर्थिक संघटन। कई सुसंगठित आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से पश्चिमी यूरोपीय राज्य ने अत्यधिक सफलतापूर्वक अपनी आर्थिक विकास आवश्यकताएँ एवं कार्यक्रमों को पूरा किया। निम्नलिखित संस्थाओं ने शीघ्र आर्थिक क्षतिपूर्ति एवं विकास करने में पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों की व्यापक सहायता की।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन (Organisation for European Economic Cooperation - OEEC) मूलतः ऐसे देशों के बीच सलाह को बढ़ावा देने में लगा था जो यूरोपीय आर्थिक सहयोग विशेषतः व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान और श्रम संचालन के मामलों के लिए उपायों पर विचार करने तथा आवश्यक तंत्र प्रणाली स्थापित करना चाहते थे। **आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (Organisation for Economic Cooperation and Development - OECD)** को तीन मुख्य कार्य सौंपे गए (i) सदस्य देशों में उच्चतम आर्थिक प्रगति

और रोजगार तथा जीवन स्तर को बढ़ाना; (ii) सदस्य राष्ट्रों की तरह आर्थिक विकास प्रक्रिया में गैर सदस्य देशों के महत्वपूर्ण आर्थिक विकास में योगदान करना; और (iii) विश्व व्यापार विस्तार के लिए कार्य करना। बेनीलक्स देशों (बेल्जियम, नीदरलैण्ड और लक्समबर्ग) के आर्थिक संघटन के लिए उपयोगी साधन रहा हो, इसने इन तीन देशों में आर्थिक विकास और राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यूरोपीय समुदाय मुख्यतः तीन समुदायों से मिलकर बना है जो हैं (i) यूरोपीय कोयल और इस्पात समुदाय (The European Coal and Steel Community - ECSC) तथा (ii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय या यूरोपीय कॉमन मार्केट (The European Economic Community or the European Common Market - EEC or ECM) तथा (iii) यूरोपीय आण्विक ऊर्जा समुदाय (European Atomic Energy Community - EURATOM)। 1967 तक इन समुदायों की स्वतंत्र संगठनात्मक संरचना थी लेकिन इसके बाद में यूरोपीय आयोग यह यूरोपीय संघ में शामिल हो गए। जैसा कि पहले वर्णन किया गया है कि यूरोपीय संघ का कई वर्षों बाद एक संघटित आर्थिक आधार के साथ विकसित आर्थिक समुदाय के रूप में उदय हुआ। अब इसकी एक ही मुद्रा यूरो और एक ही बैंकिंग यूनियन है। यह यूरोपीय समुदाय के विद्यमान आर्थिक संघटन के साथ महत्वपूर्ण राजनीतिक संघटन संपूरक बनने का भी प्रयास कर रहा है। आज तक यूरोपीय संघ क्षेत्रीय संघटन का सर्वोत्तम उदाहरण है।

8.5.2 मध्य पूर्व और अरब देशों का संघटन : अरब लीग

अरब लीग को सर्वाधिक व्यापक गैर-पश्चिमी क्षेत्रीय संघटन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसकी स्थापना 1945 में हुई तब मिश्र, ईराक, जोर्डन, लेबनान, सऊदी अरब, सीरिया और यमन ने इसकी स्थापना के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किए। बाद में, अल्जीरिया, कुवैत, लीबिया, मोरक्को, सूडान तथा यूनियन भी इसमें शामिल हो गए।

जैसा कि अरब राज्यों की लीग के समझौते में कहा गया है, कि अरब लीग के प्राथमिक उद्देश्य "सदस्य राज्यों के बीच संबंधों को मजबूत करना, उनके बीच सहयोग स्थापित करने के लिए उनकी नीतियों में समन्वय करना तथा उनकी स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता को सुरक्षित रखना है।" समझौते में सदस्य राज्यों के बीच आर्थिक और वित्तीय मामलों, संचार, सांस्कृतिक मामलों, राष्ट्रीयता और संबंधित मामलों, सामाजिक मामलों तथा स्वास्थ्य समस्याओं में सहयोग को विशेष रूप से उद्धृत किया गया है।

अपनी स्थापना से ही अरब लीग ने सदस्यों के बीच तथा विश्व के अन्य देशों के बीच राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों को सुधारने और मार्ग दर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने सदस्य राज्यों के बीच कई महत्वपूर्ण आर्थिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक सहयोग के समझौते किए हैं तथा उन्हें पूरे किए हैं। यह अरबों की एकता बनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। इसने 1986 में लीबिया पर संयुक्त राज्य के आक्रमण के समय अपनी एकता प्रकट की। फिर भी, आज तक यह अरबों की एकता को घोषित लक्ष्य को प्राप्त करने में पूरी तरह सफल नहीं हुआ है। फिर भी यह क्षेत्रीय संघटन का एक स्वीकृत मामला है।

8.5.3 अफ्रीकी राज्यों का संघटन: अफ्रीकी एकता का संगठन (Organisation of African Unity – OAU)

अफ्रीकी एकता संगठन अफ्रीका में क्षेत्रीय संघटन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और व्यापक उदाहरण है। इसका घोषणा-पत्र मई 1963 में तीस अफ्रीकी राज्यों के राष्ट्राध्यक्षों एवं विदेश मंत्रियों की अदीस अबाबा में हुए सम्मेलन में स्वीकृत किया गया था। मूलतः इसके 32 सदस्य थे लेकिन आज इसकी संख्या लगभग दो गुनी हो गई है।

अफ्रीकी एकता संगठन के घोषणा-पत्र के अनुसार संगठन का उद्देश्य अफ्रीकी राज्यों की एकता और प्रभुसत्ता में वृद्धि करने के अलावा उनकी प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय संघटन और स्वतंत्रता की रक्षा करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए घोषणा-पत्र सदस्य राज्यों से अपनी नीतियों में समन्वय और सामंजस्य की माँग करता है। अफ्रीका से उपनिवेशवाद के सभी रूपों का उन्मूलन करना तथा संयुक्त राष्ट्र तथा मानव अधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा-पत्र के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना इस संगठन के अन्य उद्देश्य थे।

वास्तव में अफ्रीकी एकता संगठन एक अफ्रीकी संगठन है जो इसके सदस्यों के हितों में वृद्धि करने के लिए बनाया गया है। चूँकि इसके अधिकतर सदस्य अफ्रीकी राज्य हैं अतः इसे महाद्वीपीय क्षेत्रीय संघटन कहा जा सकता है। यद्यपि अफ्रीकी राज्यों का इसके उद्देश्यों को पूरा समर्थन प्राप्त है, तो भी यह संगठन मजबूत, संगठित और दक्ष क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में कार्य करने में असफल रहा है। वास्तव में यह प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की एक कमजोर संस्था बन कर रह गया। इसने सीमित कार्य किए हैं तथा सदस्यों के बीच निरंतर राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्वता के कारण यह कमजोर रहा है। लेकिन इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि अफ्रीकी एकता संगठन ने अफ्रीकी राज्यों को उपनिवेशवाद के विरुद्ध एवं पारस्परिक विकास के लिए अफ्रीकी एकता तथा संगठनात्मकता की आवश्यकता से अच्छी तरह अवगत करा दिया। इसने अफ्रीकी राज्यों को कई महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विषयों और समस्याओं के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र में एक इकाई की तरह व्यवहार करने के लिए सफलतापूर्वक तैयार कर दिया।

8.5.4 अमेरिकी राज्यों का संघटन : अमेरिकी राज्यों का संगठन (Organisation of American States – OAS)

तीन मौलिक कारणों से अमेरिकी राज्यों के संगठन की तरफ विशेष ध्यान जाता है। पहला यह है कि यह क्षेत्रीय संगठन का विद्यमान सबसे अधिक प्राचीन एवं बृहत्तम उदाहरण है। दूसरा इसकी संरचना अधिक राष्ट्रीय नहीं अपितु संघीय है। इसलिए यह व्यवस्था बदलते समय के अनुसार विकसित एवं परिवर्तित होती रही है। अमेरिकी राज्यों के संगठन की उत्पत्ति पीछे 1889 में ढूँढा जा सकता है जब प्रथम पैन-अमेरिकी सम्मेलन आयोजित किया गया था। तबसे और विशेषतः 1948 से अमेरिकी राज्यों के संगठन धीरे-धीरे विकसित होते होते क्षेत्रीय संघटन का व्यापक उदाहरण बन गया। इसके संचालन का क्षेत्र अमेरिकी महाद्वीप तक सीमित है।

अमेरिकी राज्यों के संगठन के सदस्य राज्यों के बीच सहयोग और सांझेवारी को बढ़ावा देने के साथ-साथ क्षेत्र में शान्ति और स्थिरता की सामूहिक सुरक्षा देने के लिए भी कार्य करता है। इसका दायित्व अंतः अमेरिकी विवादों को शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाने का है। यह संगठन इस सिद्धान्त के आधार पर क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था का संचालन भी करता है कि, "किसी भी अमेरिकी राज्य पर किया गया शस्त्र आक्रमण सभी अमेरिकी राज्यों के विरुद्ध आक्रमण समझा जाएगा और इस प्रकार अमेरिकी राज्यों के संगठन के सभी राज्य इसमें हिस्सा लेंगे।"

अमेरिकी राज्यों के संगठन अमेरिकी राज्यों में क्षेत्रीय संघटन लागू करने का प्रभावशाली साधन रहा है। इसने सदस्य राज्यों को अपने पारस्परिक विवाद शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाने में सहायता प्रदान की है। यह सदस्यों के लिए आर्थिक विकास और सुरक्षा का एक साधन रहा है। इसकी कार्य प्रणाली में संयुक्त राज्य अमेरिका की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

8.5.5 ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्यों का संघटन: ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्य समझौता (Australia-New Zealand – United States Pact (ANZUS) 1951

क्षेत्रीय संघटन का यह एक और मामला है जिसमें ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने सामूहिक सुरक्षा तथा प्रशान्त महासागर क्षेत्र में शान्ति रखने के लिए अपने सामूहिक प्रयत्नों के समन्वय हेतु 1951 में अमेरिका के साथ समझौता किया। संधि के अनुच्छेद 4 के अंतर्गत कहा गया है कि "प्रत्येक पक्ष यह मानता है कि प्रशान्त महासागर क्षेत्र में किसी भी सदस्य पर किया गया शस्त्र हमला इसकी शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा होगा। इसमें घोषणा है कि इसकी संवैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार इसे सांझा खतरा मानकर इससे निपटा जाएगा। किसी एक राज्य पर शस्त्र आक्रमण सभी राज्यों पर आक्रमण माना जाएगा और सामूहिक फौज द्वारा मुकाबला किया जाएगा।" मुख्यतः यह एक रक्षात्मक प्रबंध था जिसके माध्यम से संयुक्त राज्य अमेरिका प्रशान्त महासागर क्षेत्र में कम्युनिस्ट खतरे का सामना करना चाहता था जबकि ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड का मानना था कि यह पुनः उन्नत एवं शस्त्र युक्त जापान के हमले की संभावना को रोकेगा।

8.5.6 एशियाई महाद्वीप में संघटन: दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की एसोसिएशन (आसियान) (The Association of South Asian Nations – ASEAN) तथा क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई एसोसिएशन (सार्क) (South Asian Association for Regional Cooperation – SAARC)

दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की एसोसिएशन (आसियान)

वियतनाम में संकट, वियतनाम में संयुक्त राज्य की साम्राज्यवादी भूमिका, कंपूचिया, इंडोनेशिया, लाओस और बर्मा में राजनीतिक संकट तथा पारस्परिक प्रयासों के माध्यम से विकास की आवश्यकता के अनुभव ने एक क्षेत्रीय आर्थिक एसोसिएशन स्थापित करने दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों को प्रेरित किया। 1967 में इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपींस,

सिंगापुर और थाईलैण्ड ने आसियान की स्थापना की। 1984 में बुनई, 1995 में वियतनाम और जुलाई 1997 में लाओस तथा म्यांमार इसमें शामिल हुए। तथा 1999 में कम्पूचिया आसियान में शामिल हुआ। भारत, जापान और चीन आसियान के संवाद सदस्य थे। भारत इस क्षेत्रीय कार्यकारी संगठन का संपूर्ण सदस्य बनना चाहता है।

आसियान दक्षिण-पूर्वी एशियाई राज्यों की असैन्य और रक्षा विषयों से असम्बद्ध आर्थिक और सांस्कृतिक एसोसिएशन है। यह एक क्षेत्र में गहन एवं संघटित तरीके से आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने में लगा क्षेत्रीय संघटन का सही उदाहरण है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं: (i) इस क्षेत्र में आर्थिक वृद्धि, सांस्कृतिक विकास एवं सामाजिक प्रगति करना, (ii) क्षेत्रीय शान्ति और स्थिरता को बढ़ावा देना, (iii) विभिन्न क्षेत्रों में सांझे विषयों के बारे में सक्रिय सहयोग एवं पारस्परिक सहायता को बढ़ावा देना (iv) अपनी अपनी जनता को प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संबंधी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए परस्पर सहयोग एवं सहायता प्रदान करना (v) दक्षिण-पूर्व एशियाई अध्ययन को बढ़ावा देना (vi) कृषि, व्यापार एवं उद्योगों में विकास के लिए सहयोग करना और (vii) एक जैसे उद्देश्य एवं लक्ष्य के लिए विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संगठनों के बीच निकट एवं लाभदायक सहयोग बनाना।

अपने सदस्यों के विकास हेतु सामाजिक-आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एक क्षेत्रीय एसोसिएशन के रूप में आसियान ने 8 अगस्त 2002 को अपनी स्थापना के 35 वर्ष पूरे किए हैं। यह अपने सदस्यों के विकास के लिए सामाजिक-आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एक मजबूत एवं संघटित क्षेत्रीय एसोसिएशन के रूप में स्थापित होने का प्रयास कर रही है। इसने अपने सदस्यों को लगभग 7 से 8 प्रतिशत तक आर्थिक विकास दर प्राप्त करने में सक्षम बनाया है। अब यह दक्षिण-पूर्वी एशिया और इंडो-चीन क्षेत्रों में विकास के लिए एक गहन कार्यक्रम आयोजित करने के लिए आधारभूत संरचना को मजबूत करने का प्रयास कर रही है। यह बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा एवं भूमण्डलीकरण के जमाने में अग्रणी होने और बने रहने के लिए गंभीर प्रयास कर रही है। अब यह वर्ष 2003 तक आसियान मुक्त व्यापार क्षेत्र (ASEAN Free Trade Area AFTA) बनाने के लिए गहन परिश्रम कर रही है। वास्तव में आसियान क्षेत्रीय संघटन का महत्वपूर्ण उदाहरण सिद्ध हुआ है। वर्तमान में यह सदस्य देशों के बीच विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग की महत्वपूर्ण, सक्रिय एवं उपयोगी एजेंसी के रूप में विकसित हो रही है।

क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई एसोसिएशन (सार्क)

जब एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में आसियान फल-फूल रहा था तब लगभग आसियान के अनुरूप दक्षिण एशिया में एक अन्य क्षेत्रीय मंच का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण एशियाई देशों की इस क्षेत्रीय एसोसिएशन को सार्क के नाम से जाना जाता है। दक्षिण क्षेत्रीय के सात देशों अर्थात् भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल, भूटान और मालदीव देश सदस्यों में आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एक एजेंसी या संस्था के रूप में कार्य करने के लिए आसियान के अनुरूप एक क्षेत्रीय मंच बनाने के लिए संबद्ध हुए।

इसके उद्देश्य हैं: (i) सदस्य देशों में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनीकी सहयोग

का विकास करना, (ii) इसने घोषणा की कि कार्य प्रणाली के मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रभुसत्ता, समानता, स्वतंत्रता, अखंडता और एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त के अनुसार होंगे, (iii) यह भी कहा गया कि सभी स्तरों पर निर्णय सर्वसम्मति के आधार पर लिए जाएँगे तथा द्विपक्षीय और निरंतर जारी विषयों को इस प्रकार के विचारों से अलग रखा जाएगा, (iii) फिर यह भी स्वीकार किया गया कि क्षेत्रीय सहयोग सदस्य राज्यों में द्विपक्षीय और बहु-पक्षीय सहयोग को पूरक तथा अनुपूरक होगा।

संस्थागत संरचना के बारे में समझौते में कहा गया है कि सभी राज्य प्रमुख या सरकार प्रमुख प्रति वर्ष बैठक करेंगे तथा नीति बनाने, सहयोग की प्रगति की समीक्षा करने, अतिरिक्त तंत्र प्रणाली स्थापित करने तथा सामान्य हितों के मामले निर्धारित करने के लिए सभी सदस्य राज्यों के विदेश मंत्रियों की परिषद की रचना की जाएगी। मंत्रियों की परिषद की सहायता के लिए सदस्य राज्यों के विदेश सचिवों की एक समिति बनाई जाएगी। यह भी निर्णय किया गया कि कार्यक्रमों के कार्यान्वयन, समन्वय उनकी निगरानी करने के लिए सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की एक तकनीकी समिति तथा दो से अधिक राज्यों के शामिल होने पर किसी परियोजना के कार्यान्वयन के लिए एक कार्य समिति का भी गठन किया जाएगा। यह भी पुष्टि की गई कि एसोसिएशन के लिए उचित समय पर एक सचिवालय की स्थापना की जाएगी जो इस समय काठमांडू, नेपाल में कार्य कर रहा है।

8.5.7 एशिया में प्रशान्त महासागर देशों में संघटन: एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग (एपेक)

क्षेत्रीय संघटन का एक अन्य प्रसिद्ध उदाहरण एशिया और प्रशान्त महासागरीय क्षेत्रों के 21 देशों वाले एपेक (Asia Pacific Economic Corporation – APEC) मंच को देखा जा सकता है। जिसे प्रशान्त महासागरीय रिंग के देशों के रूप में जाना जाता है। कुछ सर्वाधिक शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाएँ जो इस संधि को करने के लिए एक जुट हुई सन्हीं एपेक के नाम से जाना जाता है। इसका गठन ऑस्ट्रेलियाई प्रधानमंत्री श्री बॉब हॉक की प्रेरणा से 1989 में हुआ। इसके मूल 12 सदस्य देश थे, संयुक्त राज्य, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, जापान, दक्षिण कोरिया, न्यूजीलैण्ड, मलेशिया, थाइलैण्ड, सिंगापुर, फिलीपींस, इंडोनेशिया और ब्रुनै। चीन, ताइवान और हॉंगकाँग इसमें 1991 में शामिल हुए। मेक्सिको एवं पपुआ गुआना इसमें 1993 में तथा चीली 1994 में शामिल हुए। बाद में 1998 में रूस, पेरू एवं वियतनाम भी इस मंच के सदस्य बन गए।

आरंभ में एपेक मुक्त व्यापार एवं निवेश को बढ़ावा देने में लगा रहा। इसने सूचना तकनीक के लिए बाज़ार को उदार बनाने में सहायता की तथा आर्थिक बाधाओं को दूर करने के लिए एक कार्य योजना बनाने का बीड़ा उठाया। एपेक सदस्यों ने एपेक में आर्थिक सहयोग और विकास के लिए नियमों का एक ढाँचा बनाने की घोषणा को स्वीकार किया। इसने निजी क्षेत्र के प्रतिनिधियों के साथ तथा राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साथ कार्य करने का भी निर्णय लिया तथा आधारभूत कार्यों में निजी क्षेत्र को शामिल करने का एक ढाँचा भी बनाया। इसके बाद, इसने यह भी निर्णय लिया कि व्यापारियों की आवाजाही, व्यापक निवेश प्रवाह तथा निवेश सुरक्षा की मजबूती एवं आधारभूत योजना

निर्माण में निजी क्षेत्र को शामिल करने के लिए व्यापार क्षेत्र के साथ मिलकर कार्य किया जाए।

इस प्रकार एपेक क्षेत्रीय संघटन की ही अभिव्यक्ति नहीं है अपितु यह विश्व संघटन को बढ़ावा देने और उस पर बल देने के लिए एक प्रभावी समूह भी हैं।

8.6 क्षेत्रीयवाद और राज्यों को सुदृढ़ बनाना

ऊपर कुछ क्षेत्रीय समूहों के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्रीय संगठन न तो अपने उद्देश्यों में और न ही संरचना में एक समान हैं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि क्षेत्रीय संघटन का आधार वे स्थापित राज्य हैं जो अन्य देशों के साथ समझौते करने एवं लागू करने में सक्षम हैं। हर्सेल के शब्दों में, "यह कोई संयोग नहीं है कि क्षेत्रीयता के सर्वाधिक बड़े उदाहरण ऐसे क्षेत्रों में हैं जहाँ विभाजन एवं शासन के बारे में कोई संदेह नहीं था"। यूरोपीय संघ एक अच्छा उदाहरण है: एक विशिष्ट अधिकारों के साथ एक क्षेत्रीय संस्था की स्थापना के लिए शक्तिशाली देश कुछ प्रभुसत्ता को एकीकृत करते हुए एकत्रित हुए। इसके विपरीत दक्षिण एशिया के देश न तो अपनी शक्ति के बारे में और न ही दूसरे देशों की शक्ति के बारे में निश्चित हैं। और अपनी ही समस्याओं से भी ग्रस्त हैं, सार्क प्रयोग में सफल नहीं हुए अपनी प्रभुसत्ता को दूसरे पर लादने को इतना अधिक तूल देने की आवश्यकता नहीं है कि दूसरे की प्रभुसत्ता की क्षति हो।

रॉड ह्यूज और मार्टिन हारूप के अनुसार एक विशेष समस्या यह है कि कौन से क्षेत्रीय विकास राष्ट्रीय सरकारों के लिए घरेलू राजनीति में नए आयाम लाने वाली उलझनों को व्यवस्थित करने की कठिनाई है। राजनीतिक व्यवस्था की संरचना की कीमत बहुत बढ़ी हो सकती है। किसी सदस्य देश में मुक्त व्यापार क्षेत्र स्थापित करने से समग्र रूप से आर्थिक लाभ हो सकता है लेकिन प्रत्येक राज्य में हानि उठाने वाले तो शिकायत करेंगे और व्यापार में होने वाली सामान्य बढ़ोतरी विशिष्ट प्रकार के रोज़गार, व्यापार संघ और उद्योगों को होने वाली क्षति की तुलना में बहुत कम हो सकते हैं। निःसंदेह इस समस्या का एक समाधान एक बड़े क्षेत्र से संबंध होने की भावना उत्पन्न कर दिया जा सकता है। जैसे यूरोपीय संघ ने एक यूरोपीय पहचान बनाने के लिए गंभीर प्रयत्न किए जो नए राज्यों में निष्ठाएँ पैदा करने के पूर्व राष्ट्रीय निर्माताओं के प्रयत्नों के समान है। तो भी अभी तक क्षेत्र में स्थापित राष्ट्रों में आगे बढ़ने की भावना का अभाव है।

इस प्रकार राज्यों को अपने-अपने क्षेत्रों में समूहों या वर्गों की कठिनाइयों को सुलझाने की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के बावजूद, क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति में वृद्धि हो रही है। राज्य इससे अपनी प्रभुसत्ता की क्षति देखने की अपेक्षा परस्पर सहयोग और समर्थन के माध्यम से राज्य के शक्तिशाली होने के रूप में देखते हैं।

8.7 सारांश

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि क्षेत्रीय संघटन के अनेक लाभ हैं।

क्षेत्रीय संघटन संस्थाओं में शामिल हो कर राष्ट्र-राज्य अधिक आर्थिक वृद्धि दर सुनिश्चित कर सकते हैं। पश्चिमी यूरोपीय राज्यों द्वारा की गई तीव्र आर्थिक प्रगति इसका अद्वितीय उदाहरण है। क्षेत्रीय संघटन राष्ट्र-राज्यों की परस्पर अपने संघर्ष सुलझाने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में भी उनकी भूमिका को शक्ति प्रदान करता है। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संघटन धीरे-धीरे हमेशा राजनीतिक संघटन कर सकते हैं, जिससे भविष्य में विश्व संघ का प्रादुर्भाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त परस्पर निर्भरता के बढ़ते इस काल में अपनी पहचान समाप्त किए बना या अपने सम्मान के साथ समझौता किए बिना क्षेत्रीय संघटन इच्छित उद्देश्य और लक्ष्य प्राप्त करने में राज्यों की सहायता कर सकता है। क्षेत्रीय संघटन विश्व के कई भागों में बहुत सफल रहा है क्योंकि यह निश्चित रूप से शांति, समृद्धि, विकास और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में स्थिरता स्थापित कर विभिन्न राज्यों में युद्ध के अवसर कम कर देता है।

पश्चिमी यूरोप का संघटन इस बात का द्योतक है कि क्षेत्रीय संघटन बहुमुखी विकास और समृद्धि ला सकता है। एक स्वस्थ परंपरा के रूप में इसे स्वीकार करना होगा। यह राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों के समर्थकों को एक होने का आधार प्रदान करता है। यह परस्पर सहयोग, साझेदारी और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में शामिल होने के द्वारा प्रगति के लाभ प्राप्त करता है। फिर भी, कई नकारात्मक एवं बाधक प्रवृत्तियाँ जैसे शीत युद्ध, सुरक्षा गठबंधन, सैन्यवाद एवं नियो (NIEO) जैसे मामले जैसी कई गंभीर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ धनी और निर्धन राष्ट्रों के बीच बढ़ती असमानता निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण करने की असफलता, राष्ट्रीयता के संकीर्ण विचार लक्ष्यों के प्रति निरंतर लगाव आदि क्षेत्रीय संघटन की विचारधारा को मजबूत करने बाधक है। फिर भी, क्षेत्रीय आर्थिक संघटन की प्रक्रिया यदि संकीर्ण भावनायुक्त नहीं है तो राज्यों की प्रभुसत्ता की क्षति किए बिना स्वस्थ क्षेत्रीय संबंधों को बनाने और उनमें सुधार लाने में सहायता करती है।

8.8 बोध प्रश्न

1. विश्व में क्षेत्रीय संघटन का विकास करने वाले विभिन्न स्वरूपों की समीक्षा कीजिए।
2. राष्ट्र-राज्य की प्रभुसत्ता पर क्षेत्रीय संघटन के प्रभाव की चर्चा कीजिए।
3. क्षेत्रीय संघटन से राज्यों को अलग-अलग एवं सामूहिक रूप से होने वाले लाभों का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 9 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राज्य

संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

9.3 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण

9.3.1 कार्य-आधारित वर्गीकरण

9.3.2 प्रचालन क्षेत्र आधारित वर्गीकरण

9.3.3 सरकार और राज्य संधियों पर आधारित वर्गीकरण

9.3.4 सदस्यता और कार्यकलाप आधारित वर्गीकरण

9.4 राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में उसकी अंतर्क्रिया

9.4.1 संप्रभुता के मुद्दे

9.4.2 संप्रभुता समानता का मुद्दा

9.5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन: राज्यों पर उनके प्रभाव

9.5.1 विभिन्न दृष्टिकोण

9.6 सारांश

9.7 बोध प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आयोजन की एक प्रक्रिया है जो संबंधों का तानाबाना जोड़ने में सहयोग प्रदान करती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसी संस्थाएँ हैं जो इस प्रक्रिया के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति व्यक्त करती हैं और सहयोग देती हैं वहीं पर ये समकालीन विश्व कार्यों में महत्वपूर्ण कारक हैं। आज विश्व में असंख्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मौजूद हैं।

तथापि, राज्य अभी भी लगातार एक उच्चतम राजनीतिक इकाई के रूप में बने हुए हैं जो किसी विशिष्ट क्षेत्र के लोगों की अपनी आकांक्षाओं को दर्शाते हैं। परन्तु अन्य देशों और सहयोग के लिए लोगों की इच्छाओं, में आपसी समझ में वृद्धि हो रही है। इसके साथ ही प्रौद्योगिकी विकास भी एक महत्वपूर्ण कारक है जो लोगों को परस्पर एक जुट करने में सहयोग दे रहा है। इसके परिणामस्वरूप कोई राज्य कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, वह अकेला नहीं रह सकता है और न ही वह अन्य के सहयोग के बिना कुछ कर सकता है। सम्पूर्ण विश्व के लोग तथा सरकारें चाहें वे कितनी ही कमज़ोर या छोटी हों अथवा उनके कार्य कितने ही छोटे हों, वे आपसी संबंधों को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। इसलिए राजनेताओं ने संख्या निर्माण की सोच पैदा करके इनके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रभावी बनाने के लिए सुनिश्चितता का उपाय किया है। यह संस्थाएँ एक लम्बे समय और सतत प्रक्रिया के माध्यम से विकसित हो रही हैं तथा यह

प्रक्रिया अभी भी लगातार अपनी गति पर चल रही हैं।

अतः, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया से राज्य स्थापित और विकसित होते हैं तथा उनकी सतत संस्थागत संरचना उनके आपसी संबंधों को उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए कार्य करती हैं। यह संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की परम्परागत व्यवस्था के अत्यधिक विकेन्द्रीकरण के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं तथा राज्यों की एक दूसरे पर निर्भरता को लगातार बनाए रखने में अपना सहयोग देती हैं। इसके अतिरिक्त असंगठित विश्व को संगठित करना है जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन प्रक्रिया के प्रकटीकरण के संबंध में हो सकता है। इसके अलावा, दूसरों पर आत्म-निर्भर रहने की आवश्यकताओं की रचना तंत्र को अपनाकर स्वयं संस्थागत रूप में स्थापित करती हैं। यह "विकासशील संस्थागत संरचना" के प्रकटीकरण के रूप में हो सकता है जो विश्व कार्यकलापों में महत्वपूर्ण कारक है। राज्यों के साथ इन संगठनों के संबंध तथा राज्य की शक्तियों और उसके स्वरूप के निर्धारण में अनेक कारक प्रभावित करते हैं।

9.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ठोस समझ हमें अहसास कराती हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व राजनीति की एक अनुपम परिघटना है, जिसका हाल के दिनों में विकास हुआ है, परन्तु अब यह स्थापित परम्परा बन गई हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास के लिए निम्नलिखित चार पूर्व शर्तें हैं:

1. विश्व स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में अनेक राज्यों में विभाजित होना अनिवार्य है;
2. इन राज्यों के बीच सम्पर्क के सारभूत साधन और उपाय मौजूद होना आवश्यक हैं;
3. राज्य समस्याओं के संबंध में जागरूकता पैदा करे जो उनके सहअस्तित्व के संबंध में पैदा हुई हों; तथा
4. इसके आधार पर उन्हें परस्पर संबंध बनाए रखने और उनके परिचालन के लिए संस्थागत उपायों की रचना करने के लिए साधनों की पहचान करना अत्यंत आवश्यक होता है।

यह उन्नीसवीं शताब्दी का दौर था, जब ये चार पूर्व शर्तें आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन निर्माण के लिए समुचित व उपयुक्त उपाय थे, वहीं पर यह एक बेहतरीन संयोजन में मान्यता प्राप्त थीं। अब यह सभी ने मान लिया है कि युद्ध मानव के कल्याण और उसकी खुशियों के विपरीत व घातक है, साथ में ही यह चिन्ताओं और असंतुष्टि प्रदर्शित करता है और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकलापों की असमानताओं, स्थापित नियमों और प्रणालियों की जानकारी भी उपलब्ध कराता है।

उन्नीसवीं शताब्दी तक बहुराज्य व्यवस्था या प्रणाली को संप्रभुसत्ता के सैद्धान्तिक नियमों से विशिष्टता प्रस्तुत की जाती थी, जो बिना किसी उत्तरदायित्व के प्राधिकृत प्रदान करती

थी। राज्य केवल अपने हितों के लिए निर्णय लेते थे। अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिए वे मनमाने कानूनी अधिकारों का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र थे। यह बहु राज्य व्यवस्था का एक प्रकार था जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित इस व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की शर्तों के अनुसार समुचित या मान्यता प्रदान नहीं की गई। इसलिए संप्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की मुक्त-चक्रीय जिम्मेदारी को आवश्यक और संभावित संशोधन करने का निर्णय लिया गया। इसमें कोई संशय नहीं है कि उन्नीसवीं शताब्दी का विश्व अलग और स्वतंत्र संप्रभुता एवं अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विकेन्द्रीकरण व्यवस्था की विशेषताओं के सिद्धान्तों का ही लगातार गुणगान करता रहा था परन्तु इसी समय में संप्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के द्वारा प्रोत्साहित स्वीकृति और सहयोग के माध्यम से कार्य करने पर नियंत्रण तथा कार्यात्मक नवीनता की उपलब्धियों को प्राप्त करने और नई आवश्यकताओं की जानकारी के लिए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती रही है। अन्ततः उस समय के राजनेताओं के कन्धों पर यह जिम्मेदारी आई की संचार और उद्योगवाद के युग की बदली हुई परिस्थितियों में संप्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की पुरानी व्यवस्था को अपने हितों के अनुसार किस प्रकार से व्यवस्था की जाए ताकि उनके कार्यकलापों को बदली हुई स्थिति के अनुकूल सामान्यजस पैदा हो और व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे।

विकास की तीन प्रमुख धाराएँ बहुपक्षीय, उच्च स्तर, राजनीतिक परामर्श या सम्मेलन के रूप में पैदा हुई जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी में खोजा जा सकता है। 1815 में वियना कांग्रेस ने सम्मेलनों की एक श्रृंखला आरम्भ की। इसमें कोई शक नहीं है कि 1815 और 1822 के बीच हुए सम्मेलनों से यह सत्य सामने आया कि संस्थागत प्रबंधन के लिए यूरोप तैयार नहीं है। इसके बावजूद, कूटनीति की तकनीक द्विपक्षीय से बहुपक्षीय में परिवर्तित हो गई थी। बड़े राज्यों के नेता स्व यूरोप के लिए संगठित हो गए और राजनीतिक मुद्दों के दबावों के कारण शताब्दी में लगभग तीस बार एक साथ सम्मिलित हुए। अतः यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में सम्मेलन जीवन का एक सत्य के रूप में स्थापित हुआ यही इस शताब्दी की प्रमुख कूटनीति रही थी।

बहरहाल, सम्मेलन प्रणाली का सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में इतना अधिक नहीं था कि इसकी भरपूर प्रशंसा की जाए। यह प्रणाली उच्च राजनीतिक और सुरक्षा की समस्याओं से निपटने के लिए स्थायी कार्यात्मक संख्याओं को पैदा नहीं कर सकी। सम्मेलन सामयिक होने के बजाय कभी कभार होते थे। सहयोग में सुधार हुआ, किन्तु यह नियमित नहीं था, यह प्राधिकारियों पर निर्भर था कि जो अपने शक्तिशाली होने का दम भरत थे और उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से कानूनी स्मारक के रूप में स्थापित कर लिया था। सम्मेलन प्रणाली कानूनी नियमों से संचालित नहीं होती थी अथवा राष्ट्रीय राज्यों की सर्वोत्तम राजनीतिक एजेंसी भी इसे निष्पक्ष रूप से लागू नहीं करती थीं और न ही यह व्यापक समुदाय के नैतिक स्तर को बनाए रखने में सक्षम थी। सम्मेलन गेज़ के आसपास बैठे लोग यानि कि सम्मेलन के कर्त्ता-धर्त्ता राजनेता स्वार्थी राष्ट्रवादियों और शक्तिशाली दम्भी राजनेताओं को मानवता के लिए विश्व स्तर पर सोचने वाले, न्याय-मूलक राजनेताओं के रूप में बदलने में असमर्थ रहे थे।

कभी कभार राजनीति सम्मेलन प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को ओर अधिक उजागर करने में सहयोग देती थी न कि उन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती। बहुराष्ट्रीय कूटनीतिक संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने की बात करती थी किन्तु उनकी वास्तविकताओं को समझने का कभी प्रयास नहीं किया जाता था। यह महाशक्तियों का आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन - कार्यकारी परिषद को प्रमुख संगठन के आदि प्ररूप के अनुरूप निर्मित किया जाता था।

यद्यपि ये एजेंसियाँ दो या कुछ राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा परम्परागत संधि जो समझौते के अन्तर्गत अनुबंध होता जिसमें बहुपक्षीय सम्मेलन के साथ प्रक्रिया के लिए अर्ध-संसदीय प्रणाली की व्यवस्था रखी जाती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास का यह चरण जिसमें विभिन्न मामले जैसे के सम्पूर्ण नए समूह - व्यावसायिक विशेषज्ञ, तकनीक विशेषज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीय सिविल अधिकारी, निजी समूह लाभार्थी, मानविकीय संगठन, सरकारी कर्मचारी और विदेश कार्यालय से बाहर मंत्री/सचिव आद का उदगम शामिल हैं। यह लोग अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में भागीदार थे जिसमें राजनयिकों, विदेश मंत्रियों तथा अन्य राजनेताओं का ही एकाधिकार का वास्तव में संप्रभुता का एक आवरण सहित रूप में था।

9.3 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण

आधुनिक विश्व/समाज की जटिलताओं के कारण असंख्य राष्ट्रीय एजेंसियों और संस्थाओं का उदगम हुआ है। यह बहुत कठिन कार्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण के लिए किसी विशिष्ट मानदण्ड को अपनाया जाए। इसके लिए विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों की रचना की है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण के लिए निम्नलिखित सिद्धान्त हैं:

9.3.1 कार्य-आधारित वर्गीकरण

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का पहला वर्गीकरण कार्यों पर आधारित है। इसके आधार पर संगठनों को राजनीतिक, प्रशासनिक तथा न्यायिक रूप में वर्गीकृत किया गया है। राजनीतिक संगठनों की पहली चिन्ता या कार्य है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति और सुरक्षा को बनाए रखें। इसका उदाहरण संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nation Organisation - UNO) और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation - ILO) के रूप में दिया जा सकता है। राजनीतिक संगठनों में व्यापक सक्षमता होती है वे अत्यधिक साम्यर्थता रखते हैं। प्रशासनिक संगठनों के उद्देश्य और लक्ष्य बहुत सीमित होते हैं। न्यायिता परिषद (Trusteeship Council) सबसे पहले प्रशासनिक संगठन होता है। तीसरी श्रेणी में न्यायिक संगठन आते हैं जैसे कि स्थायी न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का यह वर्गीकरण अवैधानिक माना जाता है तथा यह प्रस्तुतीकरण और वर्णन के उद्देश्यों के लिए मुख्य रूप से परम्परा पर आधारित है। वास्तव में सच यह है कि विभिन्न संगठनों के बीच उनके कार्यों के आधार पर स्पष्ट रूप से विभेद नहीं किया

जा सकता है, इसलिए इनका सही-सही वर्गीकरण करना भी बहुत कठिन कार्य है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली का भी अत्यंत महत्व है।

9.3.2 प्रचालन क्षेत्र आधारित वर्गीकरण

संगठनों के वर्गीकरण के संबंध में दूसरा उदाहरण उनके परिचालन के क्षेत्र के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे कि सार्वभौम विश्वव्यापी और क्षेत्रीय। विश्वव्यापी संगठन के सदस्य वैश्विक होते हैं तथा क्षेत्रीय संगठनों से अधिक शक्तिशाली और समर्थ होते हैं। विश्वव्यापी संगठन जैसा कि संयुक्त राष्ट्र संघ, इसके अन्तर्गत अनेक क्षेत्रीय निकाय हो सकते हैं, जैसा कि 'आर्थिक और सामाजिक परिषद' के क्षेत्रीय आयोग एशिया, सुदूर-पूर्व, यूरोप, लेटिन अमेरिका, अफ्रीका इत्यादि के लिए आर्थिक आयोग। क्षेत्रीय संगठन प्रायः सीमित क्षेत्रों में कार्य करते हैं तथा उनके पास सीमित शक्तियाँ होती हैं। क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण में भौगोलिक स्थितियों का ध्यान रखने में उनका मार्गदर्शन लेना आवश्यक होता है। आमतौर पर क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण राज्यों द्वारा किया जाता है जिसमें सामान्य राजनीतिक उद्देश्यों को महत्व दिया जाता है न की सामान्य भौगोलिक क्षेत्रों के साथ राज्यों का। क्षेत्रीय संगठनों के उदाहरण नाटो, वारसा संधि संगठन इत्यादि के रूप में दिया जा सकता है।

9.3.3 सरकार और राज्य संधियों पर आधारित वर्गीकरण

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण में तीसरा मानदण्ड यह स्वीकार किया गया है कि क्या यह राज्यों के बीच हुई संधियों पर आधारित है अथवा सरकारों की संधियों पर आधारित है। जबकि राज्यों के बीच संधियों के आधार पर निर्मित संगठनों को सम्पूर्ण रूप से राज्य की संस्थाओं के साथ समाविष्ट कर लिया जाता है जैसे कि विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायिक अंगों के साथ सम्मिलित कर लिया जाता है जबकि अन्तर्सरकारी संधियों का संबंध केवल प्रशासनिक संबंध से होता है। अन्तर्राष्ट्रिय संगठनों का उदाहरण खाद्य और कृषि संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि के रूप में दिया जा सकता है। अन्तर्सरकारी संधियों द्वारा निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के उदाहरण में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि आदि को शामिल किया जा सकता है। आमतौर पर अन्तर्सरकारी संधियों से निर्मित संस्थाएँ जो अपने चरित्र में अस्थायी होती हैं जैसे कि संयुक्त राष्ट्र पुनर्वास प्रशासन है। कई बार अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण संवैधानिक कठिनाइयों के समाधान के लिए अन्तर्सरकारी संधियों द्वारा किया जाता है।

9.3.4 सदस्यता और कार्यकलाप आधारित वर्गीकरण

प्रोफेसर नारमन हिल ने सदस्यता और कार्यकलाप के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण का एक अन्य सुझाव दिया है। उन्होंने सदस्यता के बिन्दु अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को (क) द्विपक्षीय (ख) क्षेत्रीय और (ग) विश्वव्यापी के रूप में वर्गीकृत किया है। द्विपक्षीय संगठनों का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त आयोग और सूडान के लिए एंग्लो-मिश्र आयोग (Anglo-Egyptian condominium) है। क्षेत्रीय संगठनों के लिए ओ. ए. एस. तथा लीग (League) और संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO)

को विश्वव्यापी संगठन का नाम दिया है। कार्यकलाप के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सामान्य या कार्यात्मक हो सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र संधि और ओ. ए. एस. सामान्य संगठन का उदाहरण है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कॉटन सलाहकार समिति, रबर अध्ययन समूह, केन्द्रीय कमीशन फॉर नेवीगेशन ऑफ रहीने 1804, सामान्य श्रेणी में आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय टेलीग्राफिक यूनियन, जनरल पोस्टल यूनियन इत्यादि कार्यात्मक संगठन के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कार्यात्मक संगठन जैसे कि आई. एल. ओ., एफ. ए. ओ., यूनेस्को, डब्ल्यू. एच. ओ., आई. बी. आर. डी., आई. एफ. सी., आई. ली. ए. ओ., यू. पी. ओ., डब्ल्यू. एम. ओ., इत्यादि हैं।

अतः यह पता चलता है कि ऐसा कोई एक सिद्धान्त नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण के लिए स्वीकृत हो सकते हैं। ये विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं जो उनके कार्यों की प्रकृति, परिचालन के क्षेत्र और उनके निर्माण के प्रकारों और उद्देश्यों पर निर्भर करता है।

9.4 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे कि इसकी पृष्ठभूमि बताती है कि न तो यह स्वतः समाविष्ट है और न यह आत्मनिर्भर है। यह राष्ट्रीय-राज्य व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के साथ सतत चलने वाली अन्तःक्रिया है और क्योंकि यह दो व्यवस्थाओं के मध्य है, तथा इसका उद्देश्य विकास करना है जो दोनों स्तरों पर होता है।

आमतौर पर, राष्ट्र-राज्य सरकार का एकाधिकार उसके समुदाय के बल पर होता है तथा इसके समाज के समूह में संघर्ष के दौरान होने वाली हिंसा को कठोरता से दबाती है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय समाज इस प्रकार की व्यवस्था में स्पष्ट रूप से शिथिल होती है या अनदेखी करती है, वास्तव में, यह लम्बे समय तक चलने वाली हिंसा को भी मान्यता प्रदान करती है अथवा यह मानती है कि युद्ध कल्याण एवं सुरक्षा के लिए राज्य का कानूनी अंतिम हथियार है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का इन सीमाओं के अन्दर ही काम करने के लिए मजबूर किया गया, शान्तिपूर्ण सहयोग की परिधि के अन्दर बने रहना तथा शक्तिशाली राष्ट्रों की परम्परागत युद्धों के विपरीत सीधी चुनौतियों से बचने का सुझाव दिया गया था। हेग शान्ति सम्मेलन में 'अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का व्यवहार', लीग ऑफ नेशन ने "अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध को नियन्त्रित करने के लिए आह्वान किया और संयुक्त राष्ट्र संघ ने "सभी आक्रामक युद्धों को उन्मूलन" करने के लिए विशेष अभिकल्प एवं विधियों का निर्माण किया ताकि अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों पर लगाम कसी जा सके। यद्यपि इन तीनों अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रयासों को एक दूसरे राष्ट्र के साथ मनमानी हिंसा और युद्धों के व्यवहार ने अत्यधिक आघात पहुँचाया जिसके लिए गंभीर प्रश्न उठाए जा सकते हैं। इन सबके बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने उद्देश्यों पर सफलतापूर्वक डटे रहे और अपने कार्यों को निष्पादित करते रहे हैं।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के समक्ष यह कठिनाई है जिसे मैंगोर ने राष्ट्र-राज्य के साथ तुलना करके कहा है कि ये आम आदमी तक नहीं पहुँच पाए हैं। अर्थात् इनका व्यक्ति से सीधा सम्पर्क नहीं बन पाया है। एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्र-राज्य

के नागरिकों से सीधे ही किसी व्यक्ति से कर उगाई नहीं कर सकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तोड़ने पर उसे बन्द, रोक तथा उसे दंडित नहीं कर सकते हैं। दूसरी ओर, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि राज्य सरकारें भी इन शर्तों को प्रभावी रूप से लागू नहीं करती हैं और न ही उन पर इन नियमों को लागू करने के लिए कोई दबाव या जिम्मेदारी हो। उदाहरण के लिए सभी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा निर्धारित चन्दा या सहयोग राशि को बढ़ाने के लिए विरोध करते रहते हैं किन्तु ये यह भी राज्य अपने नागरिकों से इन संगठनों के नाम से अधिक खर्च उठाने के बदले में उन पर करों का अधिभार लागू कर देते हैं।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की शक्ति, विशेषकर राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के संदर्भ में पहला, राज्यों पर निर्भर करती है। सबसे पहले मनमाने फंदे में फंसाता है, संप्रभुसम्पन्न राज्य की युद्ध करने की शक्ति उत्पन्न करता है। दूसरा, अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के साथ राष्ट्रीय सरकारों को प्रभावित करने की शक्ति अर्जित करता है जो उनके अधिकार के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप पर नियंत्रण करने में सहायक होगा।

बहरहाल, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पूर्व के संगठनों से प्रमुख रूप से तीन प्रकार से अलग हैं। इनकी स्थापना संधियों पर या अन्तर-राज्य संविदा पर आधारित है, परन्तु अब इनमें परिवर्तन के लिए दबाव बने हैं। पहला, "बहुपक्षीय अनुबंध" पर बल दिया गया है। बल्कि बहुपक्षीय के अनुरूप है दूसरे, शर्तों को 'संशोधन' के साथ मूल दस्तावेजों में मैत्रीभाव 'सत्तता' और 'स्व-निर्माण' को आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने अपनी संधियों में सम्मिलित करने का प्रयास किया है। यह पूर्व की ओर आधुनिक संगठनों में मुख्य अन्तर है। तीसरी, महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अब आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सामयिक परिषदें और स्थायी सचिवालयों के माध्यम से "संस्थागत" के रूप में परिवर्तित हो गई हैं।

सामान्यतया, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उदगम उन घटनाओं के कारण हुआ है जो राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के स्तर पर पैदा हुए। और इस प्रकार के आवश्यक विशेषताओं की निम्न प्रकार से पहचान की गई है: इनका निर्माण राज्यों ने किया है तथा राष्ट्रीय सरकार प्रतिनिधित्व करती है। सभी सदस्य समान संप्रभु सम्पन्न हैं। वे संवैधानिक या कार्यपालिका के अधिकारों का प्रयोग नहीं करते हैं तथा सदस्य राज्य के नियमों के अंतर्गत आबद्ध है, उसके लिए प्रतिबद्ध हैं। इनके कार्य हैं, पहला अन्तर-सरकारी सहयोग का निर्माण करना। इन विशेषताओं को निम्नलिखित चार शीर्षकों में विभाजित किया गया है। भागीदारी का सरकारी आधार जिसमें संप्रभुता और सदस्यता, समानता, संप्रभुता। संप्रभुता का उपसाध्य की समस्याओं का स्वभाविक समावेश होना आवश्यक है। यह सब राष्ट्रीय शक्ति की समस्या, क्षेत्रवाद, मत देने से संबंधित गुटों की समस्या पैदा करती है और मतैक्य (सर्वसम्मति) बनाना बहुसंख्यक राज (वीटो की शक्ति के साथ) तथा अधिदेश प्राप्त सत्ता एवं सहयोगात्मक कार्य, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अवशिष्ट अधिकार इत्यादि शामिल हैं।

9.4.1 संप्रभुता के मुद्दे

यह आश्चर्यजनक दुविधा का विषय है कि राज्यों की संप्रभुता को शक्ति या बल का

प्रतीक माना गया है, जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के स्तर को आगे बढ़ाने में बाधाएँ उत्पन्न करता है, परन्तु इसी समय में यह भी लगता है कि यह प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना में पूरा सहयोग देती है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के उदगम में मान्यता देने का कार्य महत्वपूर्ण होता है, चाहे संप्रभुता का मार्ग अनिश्चित ही क्यों न हो।

पॉल टेलर ने सुझाव दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन संप्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के सीमांत में होने चाहिए। ये वर्तमान में संतुलन प्रस्तुत करते हैं या फिर राष्ट्रीय लचीलेपन की आवश्यकता तक स्वतंत्रता एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकार के बीच तनाव पैदा करती है। परन्तु आश्चर्यजनक सत्य है कि उनके आरंभ होने के लिए स्वीकृति के दृष्टिकोण की प्रतीक्षा की जाती है जबकि राज्य वास्तव में अलग, स्वायत्त अस्तित्व है, और सरकार को चाहिए कि वह संप्रभुता से संबंधित हो। जब सरकारों की संप्रभुता निर्मित हो जाती है, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एकमत से उसे नष्ट करने में जुट जाते हैं। यह सब उन्हीं आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिरोध करते हैं जिनके आधार पर उनके अपना निर्माण हुआ है।

प्रारंभिक अवस्था में राजनीति अस्तित्व के मौजूदगी के बावजूद उसे राज्य कहे जा सकते हैं परन्तु अलग संप्रभुता के अस्तित्व के रूप में राज्य की विचारधारा की मान्यता देना, एक कमज़ोर मान्यता होगी। शांति योजना राष्ट्रीय सरकारों की संरचना की अखंडता पर अधिक बल नहीं देती है। तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून लोगों का कानून और कानून की व्यवस्था बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं कर पाता है। वह ऐसा करने में असफल है जो कि वास्तव में सरकारों की विशेष महत्व का विषय था।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक के वर्षों में अनेक विद्वानों तथा शारीरिक विकास ने अपना अस्तित्व जमा लिया था। एक तरफ़ा राज्य व्यवस्था का उदगम हो चुका था जिसमें नए स्थायित्व और स्तर के लिए आवश्यकता महसूस की जा रही थी, वहीं पर दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए यूरोप की मूल इकाई के दृष्टिकोण को कमज़ोर करने का प्रयास किया जा रहा था।

अब तक, अलग राज्यों की व्यवस्था का आधार तथा सरकारों की संप्रभुता की मान्यता स्थापित हो चुकी थी, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रीय स्वायत्तता की खोज के लिए अपना रुख बदलने के लिए कटिबद्ध हो गए थे जो संप्रभुता का परिणाम था। एकता के लिए एक नई तलाश अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए की जाने वाली खोज में समाविष्ट है। और राज्यों की संप्रभुता की संकल्पना राजाओं की शक्ति और स्वतंत्रता पुनर्बलन का ही एक मार्ग था तथा जो उन खोजों को स्थापित करना चाहते थे वे ही अब कठिन परीक्षा में उलझ कर रह गए थे।

राज्य में कौन से तत्व हैं जो संप्रभुता को प्रदान या न्यायोचित ठहराते हैं? इस प्रश्न का जो उत्तर दिया जाना है, वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्रभावों और सरकारों के स्तर के संबंध में हमारी समझ में बहुत अन्तर है। तथा जिस तरह से राजनेता संप्रभुता को न्यायोचित और उसकी समझ का तरीका उनकी भूमिका को प्रभावित करता है जिसके अन्तर्गत उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण और उनको स्वीकृति प्रदान की है अर्थात् हमारा उत्तर उनकी सोच के बिल्कुल विपरीत है।

9.4.2 संप्रभुता समानता का मुद्दा

समानता, संप्रभुता का एक परिणाम है या यह कह सकते हैं कि यह एक उपनियम है जो सिद्धान्त यह माँग करता है कि संप्रभुसत्ता राज्य के रूप में प्रत्येक सदस्य संगठन के कार्य में भागीदारी का समान अधिकार रखता है तथा किसी भी राज्य के आकार, जनसंख्या, सम्पत्ति या शक्ति को ध्यान में रखे बिना इससे प्राप्त होने वाले लाभों को प्राप्त करने का अधिकार है। वही पर समानता का यह सिद्धान्त यह भी माँग करता है कि सबकी समान जिम्मेदारी और कर्तव्य हो।

इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रत्येक सदस्य राज्य को एक मत देने का अधिकार है तथा प्रत्येक राज्य किसी भी अंग के निर्वाचन के लिए पात्रता रखता है। प्रत्येक राज्य को सुनने का अधिकार दिया गया है। इसी प्रकार उसे बोलने का अधिकार भी दिया गया है, वास्तव में, इसका अर्थ असीमित बोलने का अधिकार भी है। प्रतिनिधि की टिप्पणी को काट छांट करना, उसके सरकार के विरुद्ध भेदभाव के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। समिति के अध्यक्ष और सचिवों की नियुक्ति या चयन सामूहिक बहुमत से किया जाता है और सभी सदस्य राज्यों को इसका अवसर उपलब्ध कराया जाता है ताकि प्रत्येक राज्य समुचित आदर और जिम्मेदार पदों का भार संभाल सके, उसकी गरिमा का लाभ उठा सके। पदों की जिम्मेदारी बारी-बारी से दी जाती है जो वास्तव में प्रथागत या परम्परागत होती है जो सत्रवार होती है तथा इसमें यह ध्यान रखा जाता है कि व्यापक रूप से पदों का वितरण हो जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव न हो। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में प्रत्येक महीने में वर्णक्रम के अनुसार बारी-बारी से अध्यक्षता करने का अवसर दिया जाता है ताकि प्रत्येक राज्य कम से कम वर्ष में एक बार इस पद का सम्मान प्राप्त कर सके। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि राष्ट्रीय समानता के लिए सम्मान देना इसका मुख्य आधार है वहीं पर यह अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श प्रक्रिया की प्रमुख कठिनाई है।

समानता का सिद्धान्त सार्वभौमिकता से लागू नहीं किया जाता है, तथापि, सुरक्षा परिषद में पाँच महाशक्तियों को स्थायी सदस्यता दी गई है जबकि अन्य राज्यों के साथ ऐसा नहीं किया गया तथा इन महाशक्तियों के पास वीटो पावर है जिसका प्रयोग सुरक्षा परिषद में अपने हितों को कायम रखने के लिए करते रहते हैं। इसके अलावा सदस्य राज्य भी संयुक्त राष्ट्र संघ को बराबर अंश दान सहयोग नहीं देते हैं तथा बजट वितरण भी एक निश्चित मानक के आधार और उसकी वापसी देय या भुगतान क्षमता को ध्यान में रखकर दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक प्रत्येक देश द्वारा स्टाक शेयर धारण के अनुसार ही उसे वोट देने व महत्व देते हैं। राष्ट्रों के बीच शक्ति और सम्पत्ति के आधार पर विभेद किया जाता है और संगठन के कार्य व्यवहार पर राज्यों द्वारा अनौपचारिक रूप से प्रभाव डालने का प्रयास किया जाता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि समानता के लिए कुछ किए गए सम्मान के बावजूद सिद्धान्त और वास्तविक समानता की क्षमता के बीच भेदभाव बना हुआ है जिसके कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे कि राष्ट्रीय शक्ति, क्षेत्रवाद, तथा वोट देने की शक्ति, सर्वसम्मति बनाम नियम निर्णय लेने में प्रभावी होता है, जैसे कि

वीटो करने की शक्ति इत्यादि। ये समस्याएँ संकट पैदा करती हैं विशेषकर वहाँ पर जहाँ राजनीति और सुरक्षा संबंधी मुद्दे दाँव पर लगे हैं।

9.5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन : राज्यों पर उनके प्रभाव

एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की मौलिक विशिष्टता यह है कि बहु-राज्य-व्यवस्था में संवैधानिक और कार्यपालिका शक्तियों की कमी होती है। संयुक्त राष्ट्र संघ की मुख्य जिम्मेदारी शांति और सुरक्षा को बनाए रखना, लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार करना या मानव अधिकारों की रक्षा करना और किसी भी स्थिति में इनका संरक्षण करना था। परन्तु इस दृष्टिकोण या सिद्धान्त का पालन मुश्किल से किया जाता है जब वे लोग जो इसकी वकालत करते हैं, के समक्ष स्व-हित लाभ आड़े आता है और इन सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जाता है और न इनको बनाए रखा जाता है। वे इसका तब प्रयोग करते हैं जब उन्हें इसमें उनका स्वार्थ या लाभ हो, यदि उनको लाभ हो रहा है तो समर्थन करेंगे और यदि हानि दिखाई दे रही है तो इसका घोर विरोध करेंगे। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों को प्रायः राज्यों के "घरेलू क्षेत्राधिकार" के मामलों में दखल देने का अधिकार नहीं है। परन्तु इन "अहस्तक्षेप प्रावधानों" (Hands off Provisions) में कभी कभी छूट दी जाती है और प्रभावित राज्यों की क्षमता का प्रतिरोध करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को उनके क्षेत्राधिकार में नियमों की अपने पक्ष में व्याख्या करके उन्हें प्रभावित राज्यों के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप करने की अनुमति दे दी जाती है।

यहाँ तक कि उनके अधिकृत प्राधिकार में अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों का अधिकार न्यूनतम रहता है अथवा राज्यों को किसी विषय के मनवाने या स्वीकार करने के लिए कोई अधिकार नहीं होता है। वे सरकारों को अपना सुझाव दे सकते हैं किन्तु उन्हें आदेश नहीं दे सकते हैं। वे किसी भी समस्या का अध्ययन, परिचर्या, योजना तथा कार्रवाई प्रस्तावित कर सकते हैं किन्तु उसे कानूनी रूप नहीं दे सकते हैं और न कानून बनाने के लिए कह सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा सर्वसम्मति से अर्ध विकसित देशों को विकसित करने के लिए तकनीक सहायता प्रदान करने के लिए कार्यक्रम बनाती है अथवा वहाँ के बच्चों को चिकित्सक सहायता देने के लिए प्रस्ताव करती हैं, यह सब तब ही संभव हो सकता है जब प्रत्येक सरकार व्यक्तिगत रूप से उनको सहयोग और स्वीकृति प्रदान करने को सहमत हो जाए। अन्यथा ये सब प्रयास व्यर्थ ही रहेंगे। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (ILO) यह प्रस्ताव करता है कि खतरनाक उद्योगों में महिलाओं से काम न कराया जाए अथवा उसमें कमी की जाए, यह सब तब तक प्रभावी या लागू नहीं हो सकता है जब तक राष्ट्रीय सरकार इसे लागू न करें। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को किसी राज्य पर कर लगाने का अधिकार भी नहीं है। व्यक्तिगत या सरकारों को उनको बजट उपलब्ध कराने के लिए यहाँ तक की संयुक्त राष्ट्र संघ तथा कुछ अन्य एजेंसियाँ, भी राज्यों के आकलन के अनुसार धन उपलब्ध कराने में सफल नहीं होते हैं। यहाँ पर संगठन में मत देने की शक्ति और उसकी स्थिति को ध्यान रखकर निर्णय लिए जाते हैं। सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी राज्य के साथ उसके हित लाभ या फिर अपनी प्रस्तावित अनुशंसा के निष्पादन पर जनमत पर कितना प्रभाव है, इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही ये संगठन अपना निर्णय लेते हैं।

विशिष्ट एजेंसियों में, जैसे कि यू.पी.यू. राष्ट्रीय सरकारों को अपने नियम बनाकर अपने निर्णय से अनुबंधित करना चाहती हैं, इसके लिए कोई भी सरकार यह नहीं चाहेगी कि निर्धारित नियमों के अनुसार कार्यों को पूरा न करने पर या असफल होने पर संघ से अलग होने का जोखिम उठाए, ऐसा कोई भी राज्य नहीं चाहेगा और वे इन शर्तों के लागू करने के लिए सहमत नहीं होंगे। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के पास भी इसी प्रकार की शक्तियाँ मौजूद हैं यदि उनके द्वारा लागू की गई मांगों को राज्य पूरा नहीं करते हैं या नहीं कर सकेंगे ऐसी स्थिति में वे संगठन के लाभों को न देने की धमकी दे सकते हैं।

इसका परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति विशेष रूप से सहयोगात्मक सिद्ध होती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र में ठीक ही कहा है कि सामान्य लोगों के हितों को ध्यान में रखते हुए राज्यों को सदभावनापूर्ण कार्य करने चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों को अपने कार्यों के प्रभावी बनाए रखने के लिए लगातार परामर्श और सम्मेलनों का आयोजन करते रहना चाहिए। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियाँ विश्व की "नगर बैठकों" (Town Meeting) के परिणामों और की रिपोर्टों को लगातार तैयार करने की प्रक्रिया में जुटी रहती हैं। यह सब अच्छे परिणामों की प्राप्ति के लिए स्वैच्छिक सहयोग पर निर्भर करता है, इस लिए राष्ट्रीय मतभेदों के दृष्टिकोणों पर लगातार परिचर्या और बहस होती रहनी चाहिए ताकि उनके समुचित समाधान निकाले जा सकें तथा राज्यों के साथ अन्तिम समझौतों के लिए व्यापक संभावित क्षेत्रों की पहचान की जानी चाहिए ताकि उनके विकास को संभव बनाया जा सके।

9.5.1 विभिन्न दृष्टिकोण

उपर्युक्त दृष्टिकोण को देखा जाए तो राष्ट्रीय राज्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का प्रभाव विवादपूर्ण सिद्ध होता है। एक परिप्रेक्ष्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन महत्वपूर्ण राजनीतिक कारक बन गए हैं जो उनके सदस्य राज्यों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। इसके बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने कर्मचारियों का एक निकाय बनाता है, उसका अपना एजेंडा होता है। इस सब कारणों से उनके अपने हितों और परिप्रेक्ष्यों का विकास होता है। रॉड हेग (Rod Hague) तथा मार्टिन हरूप (Martin Harrop) ने सुझाव दिया है कि यद्यपि अधिकतर संगठनों के पास कार्य तंत्र की प्रणाली प्रभावी नहीं होती है उसमें कमियों के कारण अधिकतर राज्य उनके निर्णयों को लागू नहीं करते हैं। प्रायः ये पथभ्रष्ट हो जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शासन-सम्मेलन, परिचर्या, संधियाँ और घोषणाओं का रचनातंत्र आधुनिक राजनीति की विशेषताओं के अनुरूप होती है इनके विश्व का उपर्युक्त समर्थन नहीं मिलता है जिसका मुख्य कारण विश्व की सरकारों को सार्वभौमिक समस्याओं को प्रस्तुत करने की कमी के कारण असफल रही हैं।

सबसे अधिक आलोचनात्मक विचार यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन केवल राष्ट्रीय स्व हितों को लगातार निष्पादन करने के लिए उन्हें अलंकृत करने के अभिकल्प बन कर रह गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने अनुबंधों पर राज्यों पर शासन या प्राधिकार नहीं रखते हैं बल्कि इन संगठनों के माध्यम से शक्तिशाली अन्य राज्यों पर अपना प्रभुत्व जमाते हैं उन पर शासन करते हैं। 1991 में खाड़ी युद्ध का मामला तथा 2003 में ईराक युद्ध

दोनों ही यह सिद्ध करते हैं कि अमेरिका ने अपनी तेल आपूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए ईराक युद्ध किया और उसे पराजित करके अपने कुत्सित हितों को पूरा करने में शर्मनाक युद्ध को अंजाम दिया। वास्तव में, संयुक्त राष्ट्र संघ पर यह धब्बा तो लग ही गया है कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका को बचाने के लिए राष्ट्रीय स्व हितों को पूरा करने का प्रयास करता रहा है। इससे भी भयानक यह है कि उसने युद्ध के बाद मनमाने ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बदल दिया और उसे व्यापारिक क्षेत्र में अपने आर्थिक हितों को कायम रखने के लिए तबदील कर दिया है। अतः हेग और हरूप का कहना है कि केवल शक्तिशाली राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के नियमों का पालन करते हैं क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते हैं कि वे पहले से ही क्या कुछ कर चुके हैं।

यद्यपि यथार्थवादियों का यह बिल्कुल सही सुझाव है कि अधिकतर शक्तिशाली राज्यों ने अपनी परम्परागत स्वायत्तता बनाई हुई है, यही मामला अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के संबंध में सिद्ध होता है इन सबके लिए ये संगठन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। वे इनको सूचना और सलाह देते हैं। ये अलोकप्रिय नीतियों को सही ठहराने के लिए लाभदायक हैं तथा अलोकप्रिय निर्णयों को सही ठहराने के लिए राष्ट्रीय सरकारों को उपलब्ध कराते हैं जो अपने अंतःकरण से समर्पित और बलि का बकरा बनने के लिए तैयार रहते हैं। इसके अतिरिक्त विश्व व्यापी संगठनों की सदस्यता के लिए विशेषकर राष्ट्र संघ सभी की नाना प्रकार से पुष्टि (घरेलू प्रतिपक्ष सहित) करता है कि ये राष्ट्रीय शासक हैं और राज्य शासन तथा प्रभुसत्ता प्राप्त कर चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संवेदनशील बाहरी धमकियाँ देने वालों के साथ संबद्ध हो गया है तथा संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा पत्र में व्यक्त सिद्धान्तों को कमजोर करता रहा है जिसमें कहा गया है कि घरेलू मामलों में बाहरी हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के सामान्य हितों के विस्तृत करके प्रोत्साहित कर सकता है तथा सबके हितों को सुरक्षित रखकर और अपने सटीक परिणामों के माध्यम से अपने और उनके बीच की शंकाओं को कम कर सकता है। ये सब कार्यकलाप सबके हितों के लिए होने चाहिए। विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जटिल मुद्दों को हल करने के लिए आवश्यक कदम उठा सकता है जिन्हें केवल राज्य अपने परम्परागत सैनिक बलों के माध्यम या प्रयोग से सुलझाने में असमर्थ रहते हैं।

राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच संबंधों में कौन से मतभेद हैं जो भी हो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के किसी न किसी स्तर पर प्रभावित करते हैं। हेग और हरूप ने कहा है कि अधिकतर संगठनों का शासन करने पर कार्य जटिल और कठिन है। राज्यों को चाहिए कि वे अपनी अंशदान की राशि का भुगतान करें, बैठकों में शामिल हो, अपने राष्ट्रीय हितों की पहचान करते हुए उन्हें प्रस्तुत करें, वापसी में अपने यहाँ संबंधित समूहों से परामर्श करें, कुछ प्रस्ताव रखें, दूसरों के समक्ष प्रतिक्रिया व्यक्त करें और अनुबंधों या समझौतों को अपने पर लागू करें। यह सब कार्यकलाप घरेलू और विदेश नीति के बीच की दूरी को कम करने में सहायक होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय अखंडता से सबसे बड़ी घरेलू हानि संभवतः संवैधानिक प्रावधानों के कारण होती हैं जो केवल अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंधों में सरकार के हस्ताक्षर होने के पश्चात देखने में आता है।

वास्तव में इसके कारण राज्यों को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। जब अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपनी शक्ति से या पूरे दबाव से राज्यों के घरेलू मामलों, राष्ट्रीय

संप्रभुता को स्पष्ट रूप से उल्लंघन करते हैं। शीत युद्ध के विघटन के ठीक बाद अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का उदय हुआ जिसमें उसे, आमतौर पर, मानवीय आधारों पर हस्तक्षेप करने का प्राधिकार दिया गया था। इसके लिए इराक, रुवाण्डा, सोमालिया और कोसावो का उदाहरण दिया जा सकता है। चाहे यह सफल रहे हों अथवा इनका आपरेशनों का भविष्य जो भी रहा हो, इसके द्वारा राष्ट्रीय संप्रभुता की जीवन शक्ति के लगातार हानि पहुँचाई हैं और इस संबंध में बार-बार सवाल उठे हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हो गया है। क्या अब राज्य की स्वायत्तता उसके अच्छे व्यवहार की शर्त पर निर्भर करेगी जिसका निर्णय उदयशील अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय लेगा? राज्य व्यवस्था के सम्पूर्ण इतिहास में उसका आधार गैर-हस्तक्षेप के रूप में परम्परागत रही है। जिसके बाव में शीत युद्ध के ढह जाने और अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के उदगम विशेषकर 11 सितम्बर, 2001 की घटना को मध्य नजर रखते हुए नई संभावनाओं के द्वार खुल गए हैं। विश्व के संदर्भ में राज्य की संप्रभुता, स्वायत्तता और भूमिका के बारे में नए सवाल उठ गए हैं जिनके उत्तर अभी तक स्पष्ट नहीं हुए हैं।

9.6 सारांश

आज राज्य विश्व संदर्भ के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा संप्रभुता स्वायत्तता की परिभाषा के नए वातावरण में अपना कार्य कर रहे हैं। राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था के संदर्भ में पहले यह स्थिति थी कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को अपने अधिकार क्षेत्र में ही कार्य करने के लिए बाध्यता थी, उन्हें राज्य के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप करने की सख्त मनाई थी। उन्हें केवल अपने क्षेत्राधिकार में कार्य करने की अनुमति होती थी जिसे भली भाँति परिभाषित किया गया था और जब वे और अधिक प्रभावी बनने का प्रयास करते या अपनी सीमाओं को लांघने की कोशिश करते राज्य उन्हें उनकी पुरानी स्थिति में ले जाकर खड़ा कर देते थे अथवा यह कहें कि राज्य उन्हें प्रतिबंधित करके वे स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक प्रयास आरंभ करने लगते थे। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को चाहिए कि वे अपने निर्णयों को लागू करवाने के लिए निश्चित रूप से राष्ट्रीय सरकारों पर निर्भर रहना चाहिए। वे कभी-कभी कार्यक्रमों का अपने स्वयं के प्रशासन से निष्पादित कर सकते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं लिया जाए कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पूर्ण रूप से राष्ट्रीय-राज्य-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय पर निर्भर थे और वे राज्यों को प्रभावित नहीं करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समझौते, आर्थिक और सामाजिक सहयोग, मानव अधिकारों का संरक्षण और अन्य कार्य जिनके लिए उनका उत्तरदायित्व है, को पूरा करने वाली उपलब्धियों के रिकार्ड यह सिद्ध करते हैं कि उनके प्रभावकारिता की यह अंतिम परीक्षा है।

कुछ ऐसे साक्ष्य देखने में आ रहे हैं कि प्राधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कार्यक्रमों के प्रति सरकारों और लोगों दोनों की आदर भावना पनप रही है। इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र महासभा की भूमिका का विस्तृत होना महत्वपूर्ण है। युद्ध के पश्चात् राजनीतिक और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की गंभीर समस्याएँ इसके समक्ष रखी गई हैं और शीर्ष राजनीतिक एवं राजनयिक नेता इसमें भागीदारी करके आपस में विचार-विमर्श किए गए हैं। यद्यपि अनेक मुद्दों पर कार्रवाई करने के लिए अनिर्णयात्मक रहे हैं। वास्तव में, तथ्य

यह है कि सरकारें अपनी नीतियों को महासभा के समक्ष रखकर उनपर निर्णय करवाने के पक्ष में हैं क्योंकि ये लोग इसे बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं तथा उन्हें उम्मीद है कि अंतिम निर्णय हो जाए और हो सकता है, वह उन्हीं के पक्ष में चला जाए। अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक कार्यकलापों के वास्तविक परिणामों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रतिष्ठा का जुड़ा होना भी अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है। आज लोग भी इसा योग्य हैं कि यह सब ठोस लाभों के रूप में देखना चाहते हैं, जैसे कि खाद्य, औषधियाँ, आर्थिक पुनर्वास, नई फसल के लिए बीजों की उपलब्धिता, नागरिक विमानन में सुरक्षा के उपाय और यह सब एक विश्वास को जन्म दे रहे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जो कहते हैं, वे कर भी-सकते हैं। इस प्रकार का आदर भाव और विश्वास दोनों ही प्रभावकारिता के संकेत और स्थिति को स्पष्ट दर्शाती हैं। इसके साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा राज्यों के घरेलू मामलों में सीधे ही हस्तक्षेप करने की प्रक्रिया का भी उद्गम हो चुका है। कुछ मामलों में वैयक्तिक रूप से राज्य बिना कहे या लागू किए बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को सहयोग और सहायता देने के लिए उद्धत रहते हैं। यह सब संप्रभु स्वायत्तता के मुद्दे और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में राज्य का स्थान या महत्व से जुड़े हुए नए सवालों को जन्म देता है।

9.7 बोध प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का संक्षेप में विश्लेषणात्मक वर्गीकरण कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राष्ट्रीय-राज्य-व्यवस्था के बीच संबंधों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों की शक्तियों और उनकी प्रकृति पर किस प्रकार से प्रभावित करते हैं, स्पष्ट कीजिए?

इकाई 10 संक्रमणकालीन बहुराष्ट्रीय निगम और राज्य

संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 बहुराष्ट्रीय/संक्रमणकालीन निगमों की परिभाषा के विषय में

10.3 भूमण्डलीकरण और बहुराष्ट्रीय निगमों की बदलता स्वरूप

10.4 राज्य और बहुराष्ट्रीय निगम

10.4.1 राज्य की मुख्य विशेषताएँ

10.5 बहुराष्ट्रीय निगमों का बढ़ता प्रभाव और सम्प्रभुता को हानि

10.5.1 वित्तीय प्रवाह और सम्प्रभुता को हानि

10.5.2 व्यापार का त्रिकोणीय पक्ष और सम्प्रभुता को हानि

10.5.3 विनियामकी विवाचन (निर्णयन) और सम्प्रभुता को हानि

10.5.4 अतिदेशीयता और सम्प्रभुता

10.6 बहुराष्ट्रीय निगमों का अवबोधन-उत्साह

10.7 अधिकार निगमों का अवबोधन-संदेहवादी

10.8 सारांश

10.9 बोध प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

हाल के वर्ष, इस बात के साक्षी रहे हैं कि नेताओं और आलोचकों में भीषण बहस छिड़ी है कि तीव्र भूमण्डलीकरण विश्व में बहुराष्ट्रीय निगमों (Multinational Corporations - MNCs) का प्रचुरता से उदय हुआ है जिसके समक्ष राज्य की भूमिका में परिवर्तन हुआ है। एक ओर नेता लोग यह घोषणा कर रहे हैं कि 'राज्य का अन्त' शीघ्र ही हो जाएगा जबकि आलोचक इस प्रकार की संभावनाओं से इंकार करते हैं। इसके स्थान पर वे विश्वास करते हैं, कि यह अप्रयुक्त का मामला है, इसे स्वयं नष्ट होने दीजिए, इस संबंध में राष्ट्र-राज्य अपने बयान बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत कर चुके हैं। तथापि बहुराष्ट्रीय या संक्रमणशील निगमों (Transnational Corporations - TNCs) के स्तर के संबंध में दोनों की एक जैसी समझ के साझीदार हैं। वे तुलनात्मक राजनीति के किसी भी अर्थपूर्ण अध्ययन करने में अपनी उपेक्षा दिखाने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण बहुराष्ट्रीय राजनीतिक अभिनेता बन गए हैं। आज विश्व में इसके परिणामों को महत्वपूर्ण आकार दिया जा रहा है, बहुराष्ट्रीय निगमों के अनेक नगरों के सुझाव के साथ विश्व में व्यापक रूप से अभूतपूर्व अबाध दर और गति से इनका विस्तार हुआ है। बहुराष्ट्रीय निगमों का जितना बड़ा आकार और उनकी सम्पत्ति है, उसकी तुलनात्मक राजनीति के विद्यार्थियों के लिए इसकी उपेक्षा करना

भी उतना ही बड़ा काम है। यद्यपि अधिकतर विश्लेषक इस विषय पर सहमत हैं कि इन निगमों का विस्तृत कार्यक्षेत्र और अत्यधिक संख्या में होने के बावजूद विशेषकर राष्ट्र-राज्य के खास प्रकारों के सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में इनकी उपयोगिता व बिल्वुल नहीं है इस पर भी सही सहमत हैं। इस इकाई के उद्देश्य को पूरा करने के लिए हम बहुराष्ट्रीय निगमों के समर्थकों के लिए 'बहुराष्ट्रीय निगम उत्साह का उद्बोधन' और इसके निन्दकों के लिए 'बहुराष्ट्रीय निगम: संदेहवादी का अवबोधन' प्रस्तुत करेंगे। बहरहाल बहुराष्ट्रीय निगमों की शक्तियों और उनकी कमजोरियों तथा राष्ट्र-राज्य पर उनके पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करने से पहले हम बहुराष्ट्रीय निगम और राज्य के महत्व इन दो शब्दों की संक्षेप में परिभाषा देने का प्रयास करेंगे।

10.2 बहुराष्ट्रीय/संक्रमणकालीन निगमों की परिभाषा के विषय में

बहुराष्ट्रीय निगमों की सुस्पष्ट परिभाषा के संबंध में विवादास्पद स्थिति अब लगभग समाप्त हो गई है। यहाँ तक कि बहुराष्ट्रीय और संक्रमणकालीन इन दो शब्दों के लिए तुलनात्मक राजनीतिक साहित्य में समान अर्थों में प्रायः प्रयोग किए जाते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि एक ही अर्थ में दोनों शब्दों को इस्तेमाल किया जाता है। फिर भी विभिन्न विद्वान इनको अलग-अलग नामों से इनकी विशेषताओं को प्रस्तुत करते हैं। अनेक भूमण्डलीयवादी इसे 'पादमुक्त-मुक्त' (आधारहीन) तथा 'राज्यविहीन' के रूप में व्यापकता से स्वीकार करते हैं, बहुराष्ट्रीय निगम को सुविधा के लिए एकल गृह देश में स्थापित मूलतः फर्म या कम्पनी के रूप में परिभाषित की जा सकती है जो कि किसी एक या इससे अधिक राज्यों में जिनमें मेज़बान देश के रूप में जाना जाता है उनमें निगम व्यापार के लिए निवेश करते हैं। फिर भी, यह परिभाषा सरल और कम विवादास्पद होते हुए भी विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लागू करने के संबंध में एक प्रमुख मुद्दा पैदा कर देते हैं। उदाहरण के लिए, जेकिन्स बार-बार सवाल उठाते हैं कि "बहुराष्ट्रीय निगम के प्रस्तुत करने के लिए किस की हित साधना है: निगम का मूल देश, मेज़बान देश, या फिर स्वयं फर्म की हित साधना है।" इस विवाद के परिणामस्वरूप बहुराष्ट्रीय निगम पर विवाद का लेबल लगा हुआ है। क्या यह सच नहीं है कि बहुराष्ट्रीय अस्तित्व दाव की रकम के साथ अनेक देशों की हित साधना सम्पन्न होती है, या फिर यह और भी अधिक सत्य है कि बहुराष्ट्रीय निगम अपने मूल देश के हितों को पूरा करते हैं और थोड़ा बहुत जिस देश के साथ संबद्ध होते हैं यानि के मेज़बान देश को भी कुछ आर्थिक लाभ उपलब्ध करा देते हैं।" इसके अलावा अन्य पक्ष यह तर्क देते हैं कि वास्तव में, इसका नाम 'निगम' शब्द ही मन मिथ्या है जो वास्तव में विशाल अस्तित्व का केवल एक हिस्सा है। यदि सच पूछा जाए तो इसका नाम 'निगम' के स्थान पर बहुराष्ट्रीय 'उद्यम' होना अधिक तथ्यपूर्ण है।

यह विवाद का विषय कोई मायने नहीं रखता है कि कौन क्या कहता है और क्या होना चाहिए। वास्तव में, विवादास्पद स्थिति स्वयं ही अर्थहीन हो जाती है जब हम देखते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगम दोनों तरह से लगातार अपने आकार और लाभ में विस्तृत हो रहे हैं। यदि हम 1960 के दशक से बहुराष्ट्रीय निगमों के विकास के आँकड़ों को आकलन करते हैं तो देखते हैं कि उस प्रकार के निगम घातांकी रूप से अत्यधिक संख्या में उभर कर सामने आए हैं। इन निगमों के विभिन्न स्वरूप हैं जैसे कि 'अन्तर्राष्ट्रीय',

‘बहुराष्ट्रीय’, ‘राष्ट्र-पारीय’ या ‘भूमण्डलीकरण’ निगम, इस तरह की कम्पनियों की संख्या 1960 में 3500 थीं तब से लेकर 1999 तक इनकी संख्या बढ़कर 60,000 हो गई हैं। इनमें से कुछ मूल कम्पनियाँ जैसे कि सेल, बार्कलेस बैंक, कोका कोला, फोर्ड माइक्रोसॉफ्ट या नेशले का 5,00,000 से अधिक विदेशी सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार से इनका विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Foreign Direct Investment – FDI) को कुल मिलाकर स्टॉक में विश्वव्यापी विस्तार हुआ है, यह व्यापक विस्तार की राशि 1960 में 66 बिलियन डालर थी जो 1999 में 4,000 बिलियन डालर से अधिक की राशि हो गई। इसकी तुलना में यह राशि 1914 में केवल 14 बिलियन डालर मात्र थी। भौगोलिक रूप से भी इनका व्यापक विस्तार हुआ है जिसके परिणामस्वरूप यहाँ तक है कि जो औद्योगिकीकृत देश थे उनका भी इन पर कभी भी प्रभुत्व नहीं रहा है जैसे कि स्वीडन तथा कनाडा तथा कुछ और बड़े विकासशील देश भी कुछ ही कम्पनियों के बहुराष्ट्रीय विस्तार दे सके थे। यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ केवल 100 के लगभग अपने देशों से अन्य देशों में उच्च स्तर पर परिसम्पत्तियों को ही स्थापित कर पाई हैं। इन कम्पनियों में 50 पश्चिमी यूरोप, 27 संयुक्त राज्य अमेरिका, 17 जापान, 3 कनाडा और एक-एक ऑस्ट्रेलिया, वेनेजुयला तथा दक्षिणी कोरिया की कम्पनियाँ हैं।

10.3 भूमण्डलीकरण और बहुराष्ट्रीय निगमों की बदलता स्वरूप

सम्पूर्ण विश्व में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के बाहर होने के साथ ही बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रकृति में प्रचण्ड और सशक्त परिवर्तन आया हैं। यह हमारे समक्ष परिवर्तन के साक्ष्य हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों के अन्दर उत्पादन कार्यकलापों के स्तर पर तीव्र वृद्धि देखी जा सकती है। पुराने समय में एक स्पष्ट सीमांकन होता था जिसमें उत्पादन गतिविधियाँ केवल मुख्यालय में ही होती थीं तथा सहायक गतिविधियाँ उपांग शाखाओं में चलाई जाती थीं। अब, वास्तव में, कम्पनियाँ पूरी तरह से भूमण्डलीय हो गई हैं, जहाँ पर मुख्यालय केवल कार्यनीतियों के लिए निर्णय लेने के लिए सुविधाजनक स्थान के रूप में प्रयोग किया जाता है। वे दिन अब समाप्त हो गए हैं जब बहुराष्ट्रीय निगम को अनेक विदेश सम्बद्धता के लिए एक अमरीकी कम्पनी के आई.बी.एम. के समान आदर और सम्मान दिया जाता था। भूमण्डलीय संचार के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विकास के कारण ब्रिकी का व्यापक प्रसार किया जाता था। आज बहुराष्ट्रीय निगमों की उत्पादन गतिविधियाँ सही में भूमण्डलीय बन कर रह गई हैं तथा इन्हें मुख्यालय में खोजने की आवश्यकता नहीं रही हैं। अनेक नई घटनाएँ समरूप या समान छाप वाली छवि पर विशेष जोर देने की रचना पर विपणन संबंधी कार्यनीतियों का भूमण्डलीकरण तथा सार्वभौमिक रूप से उच्चतम श्रेणी के प्रबंधन अधिकारियों की भर्ती करके सामान्य लोगों की शंका को निराधार बल दिया गया है। जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बारे में भूमण्डलीय रूप प्रदान कर दिया है। इसके विपरीत, जिस प्रकार से बहुराष्ट्रीय निगमों के महत्व में अभूतपूर्व वृद्धि की पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि राज्य पर बहुराष्ट्रीय निगमों का राजनीतिक निहितार्थ होता है जिसका समय-समय पर विश्लेषण किया जाता रहा है। बहरहाल, बहुराष्ट्रीय निगम उत्साहपूर्ण अवबोधन पर चर्चा करने या इस पर बहस करने से पहले हमें यह देखना चाहिए कि अधिकतर राज्यों की सम्प्रभुता को कम करने के लिए कौन शक्तिशाली मामला बना रहा है? इन

सबके बारे में विचार करने से अच्छा यह रहेगा कि हमें राज्य के विभिन्न अर्थों को अच्छी तरह से तुरन्त समझ लेना चाहिए।

10.4 राज्य और बहुराष्ट्रीय निगम

इस संदर्भ में बहुराष्ट्रीय निगम और सरकारों के बीच संतुलन बनाने का प्रयास किया गया है जिसमें रोड हेग और मार्टीन हरूप ने आधुनिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इन्होंने आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के बीच संबंधों के बहुत पुराने सवाल को हल करने का प्रयास किया है। इसके वर्तमान स्वरूप में शासन से संबद्ध होने का तर्क बहुत साधारण है; पूँजी संचल या गतिशील होती है और श्रम कम है, इसमें राज्य की भूमिका नगण्य है अथवा यह कह सकते हैं कि राज्य इसमें शामिल नहीं है। कम्पनियाँ अन्य देशों के बीच अपनी फैक्ट्रियाँ स्थापित कर सकती हैं जबकि राज्य ऐसा करने में असमर्थ होते हैं, राज्य की परिभाषा के अनुसार वे सीमित स्थान या निर्धारित स्थान में स्थित होते हैं। इसके परिणामस्वरूप अन्य देश अपने यहाँ विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लिए किसी भी कम्पनी को आकर्षित करने के लिए प्रतियोगिता कर सकते हैं। अच्छा वातावरण उपलब्ध कराने के लिए जो कम से कम मैत्रीपूर्ण व्यापारिक संबंधों के रूप में प्रतियोगिता वाले राज्यों के लिए स्पष्ट रूप से उनकी सरकारों के समक्ष संभावित प्रतियोगी गैर-विनियम और कर प्रतियोगिता में छूट देना एक प्रमुख चुनौती का सामना करना पड़ता है। इसलिए स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय निगम कम लागत और करों की छूट, देश से बाहर भेजने के लिए अधिक लाभ, कमजोर या नमनीय मज़दूर संघों, तथा विधेय विनियम, प्रासंगिक कौशल के साथ कार्यबल, स्थायी राजनीतिक स्थिति, व्यापारिक वातावरण और प्रभावी परिवहन और संचार सुविधाओं का ध्यान रखते हुए अपने हितों को सुरक्षित रखते हुए कार्य स्थापित करेगी। सरकारें बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ विभिन्न मुद्दों और उनकी माँगों को पूरी करते हुए उन्हें समाहित करने तथा सम्प्रभुता के साथ समझौता करने के लिए बाध्य होती हैं।

‘राज्य’ की संकल्पना की एक व्यापक रूप से प्रयोग की जाने वाली परिभाषा ‘राजनीतिक शासन की एकमात्र विधि सम्मत इकाई’ है, जिसकी अपनी जनसंख्या, क्षेत्र और स्वायत्तता अथवा सम्प्रभुता सम्पन्न सरकार की प्रसिद्ध है। यह सब विशेषताएँ सम्प्रभुता के सिद्धान्त को दृढ़ बनाती हैं जो राज्य की प्राधिकृतता को एकीकृत करती हैं जिसके साधन या माध्यम होते हैं अपने देश में और अपने देश के बाहर स्वतंत्रतापूर्वक और स्वायत्तता के अस्तित्व के साथ कार्रवाई और निर्णय लेने के लिए आबाध रूप से अपने अधिकृत क्षेत्र के प्राधिकार के तहत स्वतंत्र और सक्षम होते हैं। यह राज्य की प्रभुसत्ता की महत्वपूर्ण विशेषता भी है जिसमें बहुराष्ट्रीय निगमों के समर्थकों द्वारा भयानक आक्रमण किया जाता है, उनका केवल यही एक तर्क नहीं है कि राज्य की प्रभुसत्ता तेज़ी से समाप्त हो रही है बल्कि बहुराष्ट्रीय राजनीतिक अभिनेता के रूप में बहुराष्ट्रीय निगमों का महत्व बढ़ रहा है। इसी प्रकार राष्ट्र-राज्य का भविष्य राजनीतिक इकाई के रूप में भी उसपर बाहरी शक्तों से अनेक आक्रमण अभी तक होते रहे हैं। अधिराष्ट्र निकायों के विकास में वृद्धि हो रही है जैसेकि संयुक्त राष्ट्रीय और यूरोपीयन संघ जिसमें आर्थिक और सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण की वृद्धि हुई है। पर्यावरण के संकट से निपटने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय

समाधान खोजने की आवश्यकता है परन्तु राष्ट्र-राज्य की संस्थाएँ इस दशा में काम करने के लिए अर्थहीन हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक जीवन का भूमण्डलीकरण का विकास हुआ है और इसीलिए बाज़ार की विशेषताओं में तीव्रता से परिवर्तन हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन के संदर्भ में बाज़ार और विश्व बाज़ार के रूप में बदल गया है। अधिकतर व्यापार को बहुराष्ट्रीय निगमों अपने नियंत्रण में लिए हुए हैं। यह पलक झपटे ही निगमों के नियंत्रण में हो गई। इन सबके परिणामस्वरूप हमारी सारी दलीलें राष्ट्र-राज्यों की शक्तियों के क्षरण होने या कम होने और उनकी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण की खामियों की ओर केन्द्रित हो जाता है। राज्यों की सम्प्रभुता के क्षरण के मुद्दे की समीक्षा करने से पहले, आइए, हम राज्य की कुछ प्रमुख विशेषताओं के संबंध में चर्चा करते हैं।

10.4.1 राज्य की मुख्य विशेषताएँ

एंड्रयू हेवुड ने राज्य को पाँच मुख्य विशेषताओं में वर्गीकृत किया है, यह हमारे उद्देश्य को पूरा करने के लिए महत्वपूर्ण हैं तथा इन्हें निम्नलिखित में पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है:

- राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न होता है। वह असीमित और अबाध शक्तियों का प्रयोग करता है तथा समाज में सभी अन्य संस्थाओं और समूहों में श्रेष्ठतम होता है। थॉमस हॉब्स ने इस राज्य के विचार को 'तिमिगलन' लेवीयशन अति भयंकर भीमकाय राक्षस या अप्राकृतिक पिशाच के रूप में प्रस्तुत किया है। यह प्रायः समुद्री दैत्य के नाम से भी जाना जाता है।
- राज्य संस्थाओं में 'सार्वजनिक' और इसके विपरीत नागरिक समाज की संस्थाओं को 'निजी' के रूप में मान्यता दी जाती है। सार्वजनिक निकाय सामूहिक निर्णय लेने के लिए बाध्य होती हैं जबकि निजी निकाय, जैसे कि परिवार, निजी व्यापार और व्यापारिक संघ अपने व्यक्तिगत हितों को पूरा करने के लिए कार्य करती हैं।
- राज्य के कार्य विधि सम्मत या वैधानिक तरीके से पूरे किए जाते हैं। राज्य के निर्णय (यद्यपि आवश्यक नहीं) समाज के सदस्यों द्वारा स्वीकृत हों और उनके पालन के लिए बाध्य हों। क्योंकि यह दावा किया जाता है कि ये जन हित में बनाए जाते हैं या सामान्य जन की भलाई के लिए बनाए जाते हैं। राज्य को चाहिए कि वह हमेशा अच्छे कार्य कर जो लोगों की स्थायी भलाई के लिए ही हों।
- राज्य एक शासन या प्राधिकार का साधन है। राज्य प्राधिकारी की पृष्ठभूमि बल धारणा के आधार पर शासन पर काबिज होते हैं। राज्य सरकार को अपने कानून बनाने में सुनिश्चित होना चाहिए वहीं पर उसे अपने कानूनों का उल्लंघन करने पर दण्ड देने की क्षमता होनी चाहिए। राज्य को 'वैधानिक हिंसा' (मेक्स वेबर) करने की छूट होनी चाहिए। इसलिए कहा जा सकता है कि यह प्रभुसत्ता का व्यवहारिक प्रदर्शन होता है।
- राज्य एक क्षेत्रीय या प्रादेशिक संस्था होती है। राज्य का क्षेत्राधिकार भौगोलिक रूप से परिभाषित किया गया है और वे लोग जो राज्य की सीमाओं में रहते हैं, चाहे वे नागरिक हों या फिर गैर-नागरिक वे राज्य क्षेत्र में सम्मिलित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय

स्तर पर, राज्य को (कम से कम सिद्धान्त में) एक स्वायत्त अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया जाता है।

राज्य की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को देखने के पश्चात् अब हम शायद राज्य की सम्प्रभुता को अच्छी तरह विश्लेषित करने में समर्थ हैं अथवा राज्य की स्वायत्तता और जो विद्वानों के दो व्यापक श्रेणियों के तर्कों की उपर्युक्त शब्दों में पहचान की है वे हैं *बहुराष्ट्रीय निगम - उत्साह का अवबोधन (MNC – enthusiasts)* और *बहुराष्ट्रीय निगम - संदेहवादी का अवबोधन (MNC – skeptics)*।

10.5 बहुराष्ट्रीय निगमों का बढ़ता प्रभाव और सम्प्रभुता को हानि

पीटर विल्लेट्स ने बहुराष्ट्रीय निगमों सहित राष्ट्र-पारीय अधिकर्ताओं के व्यापक क्षेत्र में हाल में ही अध्ययन किया है। इसमें उन्होंने उन आधारों को बताया है जिसके कारण राज्य अपनी सम्प्रभुता को बनाए रखने में असमर्थ दिखाई दे रहे हैं। इन आधारों को संक्षेप में नीचे इसलिए दिया जा रहा है ताकि आप बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रकृति और उसके विस्तार को समझ सकें। ये निगम अपने बहुराष्ट्रीय भविष्य को विस्तार देने के लिए और राज्य की सभी शक्तियों को उपमार्गी प्रक्रिया द्वारा नष्ट करने के प्रयासों में लगे हुए हैं।

10.5.1 वित्तीय प्रवाह और सम्प्रभुता को हानि

राज्यों पर प्रमुख कम्पनियों के अत्याधिक बहुराष्ट्रीयकरण के राजनीतिक प्रभाव का विश्लेषण करते हुए विल्लेट्स तर्क देते हैं कि यह अधिक समय तक नहीं चलेगा कि प्रत्येक देश को उसकी अर्थव्यवस्था से जोड़कर उसकी पहचान करेगा। इसके कारण सम्प्रभुता के दो सबसे अत्याधिक महत्व वाले मूल विशेषताओं पर प्रभावी नियंत्रण रखने में राज्य की सक्षमता पर गंभीर प्रभाव पड़ा है, अर्थात् मुद्रा पर नियंत्रण और विदेश व्यापार। एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं कि अन्तरा फर्म व्यापार अत्याधिक वृद्धि का मामला और लगातार स्थानान्तरण मूल्यों को निर्धारित करने का सहारा लेना पड़ता है जिसका पूरा लाभ बहुराष्ट्रीय निगमों को मिलता है, इस संबंध में विल्लेट्स दिखाना चाहते हैं कि किस प्रकार से राज्य वित्तीय प्रवाह के नियंत्रण के संबंध में सम्प्रभुता को कितना तेज़ी से नुकसान उठाना पड़ रहा है या यह कह सकते हैं कि सम्प्रभुता को गहरी चोट पहुँच रही है। अन्तरा फर्म व्यापार मूल रूप से यह प्रक्रिया है जिसमें बहुराष्ट्रीय निगम की एक शाखा होती है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप धारण करती है वह दूसरे देश में उसी कम्पनी से संबद्ध होती है। बॉक्साइट के केस में सारा व्यापार अन्तराफर्म होता है तथा इसलिए बॉक्साइट के लिए विश्व बाज़ार के रूप में ऐसी कोई वस्तु नहीं है। स्थानांतरण मूल्य वह मूल्य होता है जिसे वस्तुओं या सेवाओं के अन्तरा फर्म व्यापार के लिए बहुराष्ट्रीय निगम निर्धारित करती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत क्या होता है कि निर्यात के लिए मूल्य निर्धारित किया जाता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसका संबंध किसी बाज़ार दर से संबद्ध हो। अतः स्थानान्तरण मूल्य में परिवर्तन से यह आवश्यक नहीं है कि इसका बिक्री पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ता हो अथवा कम्पनी को पूर्व

कर लाभ की प्राप्ति होती हो। विल्लेट्स के अनुसार "अन्तरा-फर्म व्यापार का जो तर्क है वह अन्तःदेशीय व्यापार से बिलकुल भिन्न है, सरकार बहुराष्ट्रीय निगमों पर अपने वित्तीय और राजकोषीय प्रभावों की स्पष्ट अपेक्षा नहीं कर सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सरकार अपनी नीतियों से निगमों को प्रभावित करने में असमर्थ होती हैं।" इन सभी कारणों के परिणामस्वरूप राज्य वित्तीय प्रभावों पर नियंत्रण करने में असमर्थ होती हैं इसलिए राज्यों की प्रभुसत्ता का क्षरण होता है अथवा यह कह सकते हैं कि उसकी सम्प्रभुता को नुकसान उठाना पड़ता है।

10.5.2 व्यापार का त्रिकोणीय पक्ष और सम्प्रभुता को हानि

"त्रिकोणीय पक्षों" के साधनों पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है जिसके कारण व्यापार पर राज्यों के नियंत्रण से बचने या उपेक्षा करने के लिए कम्पनियों ने एक स्तर की तकनीकी प्रणाली का निर्माण कर लिया है। त्रिकोणीय पक्ष की प्रक्रिया यह स्थिति स्पष्ट करती है कि जिसमें व्यापार दो देशों में होता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह व्यापार तीसरे देश के माध्यम से संचालित होता है। इस संबंध में उपर्युक्त उदाहरण ब्रिटेन और अर्जेंटीनिया के बीच हुए फाकलैण्ड युद्ध हैं, विल्लेट्स यह बताना चाहते हैं कि यूरोपीय समुदाय ने अर्जेंटीनिया की कम्पनियों पर आर्थिक संस्वीकृतियाँ लागू की जो वित्तीय संबंधी थी फिर भी वह इस त्रिकोणीय पक्ष को संतुष्ट कर रहा था और अपना आयात ब्राजील या पश्चिमी यूरोप के माध्यम से लगातार कर रहा था। यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए भी संभव था कि वे अपनी वैकल्पिक रूप से अपनी शाखाओं को तीसरे देश में फिर से स्थापित कर लेती थी और उसके माध्यम से अपने आदेश या व्यापार को संचालित करती रहती थी। यह सब उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि राज्य अपनी वस्तुओं का प्रत्यक्ष आयात या निर्यात पर नियंत्रण तो करने में सफल हो सकते थे किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से एक देश से दूसरे देश में व्यापार पर पाबन्दी लगाने यह उसे रोकने में राज्य सक्षम नहीं थे वे उनके लिए यह कार्य सम्भव नहीं था। विल्लेट्स तर्क प्रस्तुत करते हैं कि त्रिकोणीय पक्षों की शक्ति बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में निहित है इसलिए शायद इनकी कार्रवाइयों का सामना करने के लिए केवल सुरक्षा परिषद के संकल्प ही कर सकते हैं या उनके द्वारा ही इस पर नियंत्रण किया जा सकता है। परन्तु इस स्थिति में संबद्ध व्यापार पर सम्प्रभुता का मुद्दा सुरक्षा परिषद के पास चला जाएगा। और व्यापार पर नियंत्रण व्यक्तिगत राज्यों के पास नहीं रहेगा।

10.5.3 विनियामकी विवाचन (निर्णयन) और सम्प्रभुता को हानि

बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा एक अन्य आधार पर विनियामकी विवाचन नामक दस्तावेज़ तैयार किया जो वास्तव में सम्प्रभुता से एक समझौता था। इसमें अपने देश में कम्पनियों की व्यापारिक गतिविधियों को नियंत्रित करने से संबंधित था, इससे सरकारों का कम्पनियों पर नियंत्रण कमजोर हुआ। 'विवाचन' और 'विनियामकी विवाचन' यह दो शब्द विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं ये विभिन्न सरकारों पर बहुराष्ट्रीय निगमों के नियंत्रण को लागू करने के संबंध में प्रयोग किया जाता है। विवाचन की साधारण प्रक्रिया होती है इसमें एक उत्पाद को किसी एक बाज़ार से खरीदा जाता है और दूसरे बाज़ार में बेच दिया जाता है। इन दो बाज़ारों के बीच क्रय विक्रय में जो मूल्य के अन्तर से लाभ प्राप्त

होता है उसे विवाचन शब्द से जाना जाता है या उसक लिए इसका प्रयोग किया जाता है। विनियामक विवाचन का प्रयोग विश्व की बैंकिंग व्यवस्था के संबंध में किया जाता है। विनियामकी विवाचन का प्रयोग निधियों या व्यापारिक गतिविधियों को एक देश से दूसरे देश के संचालन की प्रक्रिया के लिए प्रयोग किया जाता है ताकि सरकार द्वारा लागू की जाने वाले कानूनी बाधाओं से बचते हुए लाभ कमाया जा सके। इसी तरह से विल्लेट्स कहते हैं कि "यह शर्त सरकारी नीति के प्रतिउत्तर में किसी भी कम्पनी द्वारा आर्थिक कार्यकलाप के स्थानान्तरण पर लागू की जा सकती है।" यद्यपि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और बैंकों की व्यापारिक गतिविधियों को भी नियंत्रित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संस्थानिक रचनातंत्र विकसित किया हुआ है। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय शासनादेश की अनिवार्यता नहीं होती जैसे कि बारले समिति और यूरोपीय समुदाय इसे सभी देशों पर लागू नहीं करते हैं। विल्लेट्स फिर कहते हैं कि "चाहे कम्पनियों पर सम्प्रभुता को सफलतापूर्वक लागू भी कर दिया जाए या उसे स्वीकृति उपलब्ध कर भी ली जाए फिर भी यह अन्तःसरकारी निकाय के समक्ष सम्प्रभुता का आंशिक समर्पण तो माना ही जाएगा।"

10.5.4 अतिदेशीयता और सम्प्रभुता

एक काल्पनिक स्थिति का उदाहरण देते हुए विल्लेट्स प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार से सभी बहुराष्ट्रीय निगमों की संरचना में इनर क्षेत्रीयता (Extraterritoriality) की समस्या समाई हुई होती है जिसके कारण विभिन्न सरकारों के बीच एक दूसरे से टकराने की स्थिति बन जाती है। इस उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एक काल्पनिक कम्पनी जिसका मुख्यालय अमेरिका में स्थित है और एक सहायक कम्पनी है जो उसके अपने ब्रिटेन में है। विल्लेट्स यह बताना चाहते हैं कि एक समय में प्राधिकार की तीन धाराएँ किस प्रकार कार्य करती हैं। एक लम्बे समय तक अमेरिका मुख्य कम्पनी पर नियंत्रण रखता है और ब्रिटेन उसकी सहायक कम्पनी को नियंत्रित करता है। इन दोनों देशों के बीच किसी प्रकार का विरोध या संघर्ष नहीं होगा। यह दोनों अपने-अपने क्षेत्राधिकार में सम्प्रभुता सम्पन्न प्राधिकारी होंगे और अपने आन्तरिक मामलों को स्वयं निर्धारित करेंगे। वे सामान्य स्थितियों के अन्तर्गत क्रय, उत्पादन और विक्रय पर अपनी नीतियों के नियंत्रण के संबंध में बहुराष्ट्रीय निगमों को अच्छे अधिकार भी सहर्ष देना चाहेंगे। तथापि जब अमरीकी सरकार बहुराष्ट्रीय निगमों को भूमण्डलीय प्रचालन अपने अधिकार क्षेत्र में लेकर निर्णय लेने की स्थिति में है यहाँ पर सम्प्रभुता के लिए संघर्ष होना अनिवार्य हो जाएगा। यहाँ पर सहायक कम्पनी अनिवार्य रूप से उलझन में फँस जाएगी वह नहीं जानती कि वह ब्रिटेन सरकार के आदेश का पालन करे अथवा उसके मुख्यालय द्वारा प्रेषित आदेश अमेरिका के आदेश का पालन करे। इस प्रकार की काल्पनिक स्थिति वास्तव में बीते समय में वास्तविक रूप धारण कर लिया था जब साईबेरियाई गैस पाइप लाइन पर संघर्ष का मामला सामने आया। अमेरिका ने कनाडा पर क्रोधित होकर कहा कि वह कनाडा में स्थित अमेरिकी कम्पनियों की सहायक कम्पनियों को आदेश दे कि ट्रेडिंग विद दी इनेमी एकट के अन्तर्गत 'दुश्मन' देशों, जैसे कि क्यूबा तथा चीन, को अपना माल न बेचे।

10.6 बहुराष्ट्रीय निगमों का अवबोधन - उत्साह

बहुराष्ट्रीय निगम - उत्साह (MNC – enthusiasts) का दृष्टिकोण एक आर्थिक व्यापार संघ है जो कि आवश्यक क्षमता जाने - कैसे और उनकी बुद्धिमानी जो विश्व के एकल आर्थिक इकाई के रूप में देखते हैं और अधिकतम क्षमता तथा उत्पादन के लिए उत्पादन के घटकों का संयोजन करते हैं जैसे कि श्रम, भूमि, पूँजी और प्रबंधन। वे बहुराष्ट्रीय निगम की क्षमता में आश्चर्यजनक विश्वास प्रदर्शित करते हैं, कम दाम पर अधिक और अच्छा उत्पाद प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए इन उत्पादों के लिए तीव्रता से सार्वभौमिक माँग पैदा हुई है। बहुराष्ट्रीय निगम - उत्साह में अटल विश्वास के लिए प्रमुख कारण बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्यक्षमता है, अपने संसाधनों को पैदा करना, अनेक देशों से अपने प्रबंधन स्टाफ का चयन करना जोकि लागत-प्रभावी शर्तों पर उत्पादन के प्रत्येक कारक को प्रस्तुत करते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगम - उत्साह कम विकसित देशों में आधुनिक विश्व का शक्तिशाली एजेंट के रूप में बहुराष्ट्रीय निगमों की ओर देखता है। उनके अनुसार बहुराष्ट्रीय निगम रोजगार के नए अवसर पैदा करना, विकसित प्रौद्योगिकी प्रस्तुत करना, तथा विश्व के कम विकसित देशों में स्थानीय नागरिकों को आधुनिक प्रबंधन की कला और विज्ञान में निपुण बनाने का कार्य करता है। उप-उत्पादन में सबसे महत्वपूर्ण में से एक हैं, इसलिए बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियाँ उत्पादन और वितरण प्रक्रिया का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया है। उनकी विवेकपूर्ण आर्थिक - विकास संरचना में व्यावसायिक निष्ठा का आभास होता है। इन्होंने राष्ट्र-राज्य के अपने प्रबंधकों और कर्मचारियों की 'अन्ध देशभक्ति' या 'अन्ध राष्ट्रभक्ति' से दूर रखा है इसलिए बहुराष्ट्रीय निगम विश्व के अच्छे नागरिक साबित हुए हैं। 'पुराणपंथी राष्ट्रवाद' (anachronistic nationalism) तथा युद्ध के विरोधी हैं वहीं पर वे विश्व कानून और सरकारों के माध्यम से विश्व शान्ति और विकास का मार्ग तैयार करते हैं।

वास्तव में, बहुराष्ट्रीय निगम-उत्साह यानि कि बहुराष्ट्रीय निगमों का अत्यन्त शक्तिशाली तर्क यह है कि उन्होंने अपने उत्पादों को विश्व स्तर पर पहुँचा दिया और उन्हें सुविधाओं के साथ सम्मिलित कर दिया है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का व्यवहार अपने आप में अप्रचलित हो गए हैं। अटलांटिक समुदाय दो भयंकर और भीभत्स युद्धों का साक्षी है, परन्तु अब बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों के लाभदायक विकास के परिणामस्वरूप पूर्णरूपेण से परिवर्तन हो गया है तथा क्योंकि इस क्षेत्र में क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रिया भी सफल हो गई है। बहुराष्ट्रीय निगम-उत्साह का तर्क है कि अन्तर्निर्भरता में विकास होने तथा आपसी प्रतियोगिता का आज अटलांटिक देशों में विकास हुआ है इसलिए यह कहा जा सकता है कि अमेरिका और कनाडा या फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध जैसी घटना होना असंभव है।

बहुराष्ट्रीय निगम - उत्साह के दृष्टिकोण का निष्कर्ष निकालते हुए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे सब भूमण्डलीय निगमों की कार्यविधियों के संबंध में बहुत आशावादी हैं तथा उनका मानना है कि इनके कारण "शान्ति और समृद्धि के नए युग" में प्रवेश किया

है। उनके विचारों में केवल एक विचार शामिल करने की आवश्यकता है फिर भी बहुराष्ट्रीय निगम गतिविधियों के अन्तर्राष्ट्रीय विनियमों के अच्छे हुए बिना, तथा विभिन्न राष्ट्रीय कानून व्यवस्था के स्तरीकरण के बिना यह सब संभव नहीं हो सकता है। इस तरह के रचना तंत्र को अपनाए बिना बहुराष्ट्रीय निगम उत्साह में पूँजी, प्रबंधन, प्रौद्योगिकी और उच्च सुविधाजनक आर्थिक उत्पाद व भी प्रभावी नहीं बनाएगी बल्कि स्थानान्तरण के साथ-साथ सदभावना पूर्ण विधिसम्मत समुदाय को विश्व वास्तविक एक 'विश्व गाँव' या भूमण्डलीय व्यापार केन्द्र के रूप में परिवर्तित करने में भी समर्थ हो जाएगी।"

10.7 अधिकार निगमों का अवबोधन - संदेहवादी

बहुराष्ट्रीय निगम - उत्साह में बहुत अधिक विषमताएँ हैं, बहुराष्ट्रीय निगम-संदेहवादी (MNC - Skeptics) के संबंध में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमण्डलीय निगमित गतिविधियों के साथ समस्याओं की व्यापक क्षेत्रों की पहचान की गई है। केवल तीसरी दुनिया के अत्यधिक गरीब देशों ने ही बहुराष्ट्रीय निगम के संबंध में आशंका व्यक्त की है बल्कि विश्व के विकसित भागों में बहुराष्ट्रीय निगमों के कार्यों के गंभीर निहितार्थ के संबंध में लगातार चिन्ता व्यक्त की जाती रही है। पश्चिमी देशों के अनेक सुसंगठित मज़दूर संघों का मानना है कि बहुराष्ट्रीय निगम अपने संयंत्रों को वहीं स्थापित करते हैं, जहाँ पर "सस्ते श्रमिक" मिलते हैं, इनके इस तीव्र परिचालन के कारण अमेरिका, ब्रिटेन और विश्व के अन्य विकसित देशों में बेरोज़गार की गंभीर समस्या पैदा हो गई है।

बार्नेट और मूलर ने बहुराष्ट्रीय निगम - संदेहवादी के संबंध में बहुत ही सारगर्भित तर्क प्रस्तुत किए हैं। इन दोनों विद्वानों का मानना है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ "बहुत ही शक्तिशाली मानव संगठन हैं और ये भविष्य के उपनिवेश निर्माण के साधन हैं।" बहुराष्ट्रीय निगमों पर वे सीधे प्रहार करते हैं कि कौन विश्वास करता है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमण्डलीय निगमित गतिविधियाँ "शान्ति और समृद्धि के नव स्वर्ण युग" में प्रवेश कर रही हैं, बार्नेट और मूलर तर्क देते हैं कि व्यापक भुखमरी, अत्याधिक बेरोज़गारी और व्यापक असमानता जैसी भयंकर समस्याओं के संबंध में इस तरह की निगमों के पास कोई कार्यक्रम अथवा कोई एजेण्डा नहीं है। यहाँ पर मुख्य विवाद यह है कि बहुराष्ट्रीय निगम "छिपे हुए जमींदार" की तरह से हैं जो सबसे पहले अपने लाभ की चिन्ता करते हैं, वे बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं के बारे में गंभीर या संवेदनशील नहीं हैं। इसके अति विशाल और सम्मोहक विज्ञापन अभियानों के कारण, ये कम्पनियाँ केवल तीसरी दुनिया के लोगों की पसंद या जायका और उनके जीवन शैली को ही नष्ट नहीं कर रहे हैं बल्कि उनको ऐश्वर्य वस्तुओं का आदी बनाकर उन्हें आवश्यकता के रूप में परिवर्तित कर रहे हैं। सामाजिकता के व्यापक और गंभीर मुद्दों जैसे कि पोषण, स्वच्छ वायु और सार्वजनिक स्वास्थ्य को इन निगमों ने कभी नहीं उठाया और न ही इन पर कुछ काम किया, इसलिए बहुराष्ट्रीय निगम - संदेहवादी तर्क अपने आप में तथ्यपूर्ण है। यहाँ पर हमें एक हाल में हुए विवाद को अवश्य याद रख लेना चाहिए कि कोका-कोला में कीटनाशक दवाओं का अत्यधिक मिश्रण पाया गया जिसके फलस्वरूप भारतीय संसद और मीडिया हिल गया था। कई दिनों तक यह मिलावट का मुद्दा संसद और मीडिया पर छाया रहा।

वास्तव में बहुराष्ट्रीय निगम-संदेहवादी का मुद्दा तीसरी दुनिया के अत्यधिक गरीब देशों में बहुराष्ट्रीय निगम की गतिविधियों को विस्तार देने से संबंधित राजनीतिक विवाद है। किसी विनियामक की रचना तंत्र के बिना इन देशों का भविष्य न केवल उजड़ेगा बल्कि आने वाले समय में घोर असमानता, व्यापक बेरोज़गारी तथा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। बहरहाल बार्नेट और मूलर के अनुसार इस तरह का भाग्य केवल अत्यधिक गरीब देशों के लिए ही आरक्षित नहीं हैं, बल्कि यहाँ तक की आगे चलकर अमीर देश भी इससे प्रभावित होंगे। अमेरिका और अन्य विकसित देशों से फैक्टरी और यहाँ तक कम्पनी मुख्यालय अलग-अलग देशों में प्रवास होने में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप बेरोज़गारी और आय का सहवर्ती कुवितरण से पश्चिम के उद्योगों पर और अधिक भार बढ़ेगा। अन्त में बहुराष्ट्रीय निगमों में अत्यधिक गरीब देशों में अपने 'उपनिवेश' स्थापित कर रही हैं, और अमीर देशों को 'लगातार कमज़ोर और अस्थिर' बनाने में लगी हुई हैं जबकि जो लोग इस प्रकार के निकायों का निर्माण कर रहे हैं वे स्वयं अत्यधिक लाभ कमाकर अमीर बनते जा रहे हैं। वे अन्ततः निराशावादी मानते हैं कि न तो तीसरी दुनिया की सरकारें और न ही पश्चिम का औद्योगिकृत सरकारें कुछ बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथों में सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया को रोकने में असमर्थ होंगे जबकि उस समय तक प्रत्येक व्यक्ति दरिद्र हो जाएगा।

10.8 सारांश

उपर्युक्त चर्चा से जो निष्कर्ष निकला है वह बिल्कुल स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय निगमों ने केवल बहुत ही महत्वपूर्ण बहुराष्ट्रीय राजनीतिक अभिकर्ता बन गई है बल्कि वे बहुत ही धनी और शक्तिशाली सिद्ध हुई हैं जिसके कारण वे आज के विश्व में होने वाले परिणामों पर विशेष दबाव डालकर उसे प्रभावित भी कर सकती हैं तथापि, मेज़बान देशों, मूल देश या गृह देश और फर्म के बीच अन्तर्निर्भरता संशय मिश्रित करके बहुराष्ट्रीय निगमों ने भविष्य में विवादों को पैदा करके एक भूमण्डलीय नेटवर्क तैयार किया है ताकि वह अन्य लोगों को भ्रमित करती रहें और अनुकूल लाभ कमाती रहें। इसके साथ यह, भी एक सत्य है कि कुछ ही ऐसे देश हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का प्रतिरोध अथवा मना करने की स्थिति में हैं, वे लगातार पूछते रहते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों का राष्ट्रीय हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यह कोई मामला नहीं है कि आज बहुराष्ट्रीय निगम किस प्रकार शक्तिशाली बन गई हैं, राष्ट्र-राज्य यह नहीं लिख सकते थे कि यदि विशुद्ध रूप से क्षेत्रीयता का कारक सामने न होता। राष्ट्र-राज्य लगातार अपने क्षेत्राधिकारों और उनके निवासियों पर स्पष्ट तौर पर सीमांकन करने के लिए सेना और राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते रहते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम कभी भी राज्य के प्राधिकारों को चुनौती नहीं दे सकते हैं और न ही वे राजनीतिक शक्ति बनने का दावा करती हैं, इसलिए उन्हें 'राजनीति नियम की एकमात्र विधिसम्मत इकाई' विश्व स्तर पर सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही जीवनक्षम राजनीतिक संगठन के रूप में राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त को आने वाले समय में और अधिक शक्ति मिलने की संभावनाएँ हैं। उदाहरण के लिए, बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 18 नए राज्यों का उदय हुआ है। कुछ भी हो इस प्रवृत्ति के उन्नयन का यह स्पष्ट सूचक है। राज्य लगातार शक्तिशाली होता जा रहा है जिसमें सांस्कृतिक संबद्धता और राजनीति इकाई दोनों के संरक्षण की शक्ति समाई

हुई है अथवा उसमें अन्तर्निष्ठ है। इसलिए वे उनको जो सामान्य सांस्कृतिक या मानव जातीय अधिकार के प्रयोग के लिए अनुमति प्रदान करते हैं। राज्य के सभी नायक इस विचार से सहमत हैं कि कोई भी अन्य सामाजिक समूह वैकल्पिक राजनीतिक समूह निर्माण करने का दावा प्रस्तुत नहीं कर सकता है। इस तरह के विवाद में यह तर्क निहित है कि बड़ी राष्ट्रीय निकाय जैसे कि यूरोपीय संघ अथवा बहुराष्ट्रीय निगम कभी भी राज्य का दर्जा और कमान जैसे कि राज्य के रूप में सभी की मान्य राजभक्ति समाहित हो अन्य कोई इसका स्थान प्राप्त नहीं कर सकता है।

10.9 बोध प्रश्न

1. बहुराष्ट्रीय निगमों से आप क्या समझते हैं? भूमण्डलीकरण के युग में बहुराष्ट्रीय निगमों की बदलती हुई प्रकृति की चर्चा कीजिए।
2. राज्य की मुख्य विशेषताओं की संक्षेप में लिखिए तथा बहुराष्ट्रीय निगमों के बढ़ते हुए महत्व के उदय होने की स्थिति में राज्य की बदलती हुई प्रकृति को स्पष्ट कीजिए।
3. बहुराष्ट्रीय निगम किस प्रकार से सरकारों की सम्प्रभुता को प्रभावित करती हैं?
4. बहुराष्ट्रीय निगम - उत्साह और बहुराष्ट्रीय निगम - संदेहवादी के प्रमुख तर्कों को संक्षेप में लिखिए।
5. विश्व के विकासशील राष्ट्रों पर बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रभावों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
3. कुछ लोग महसूस करते हैं कि आर्थिक विकास का यह एक नया विशाल मार्ग है, जबकि अन्य लोग यह समझते हैं कि वे अल्प-विकासशीलता को बनाए रखते हैं। आप क्या अनुभव करते हैं?

इकाई 11 राष्ट्रवाद : विभिन्न दृष्टिकोण

संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 राष्ट्रवाद क्या है?

11.3 राष्ट्रवाद और संबंधित शब्दों में अंतर

11.4 राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्रीय अस्मिता की विशेषताएँ

11.5 राष्ट्रवाद के अध्ययन के दृष्टिकोण

11.5.1 राष्ट्रवाद का उदार मानवतावादी दृष्टिकोण

11.5.2 विस्तारवादी दृष्टिकोण

11.5.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

11.5.4 अविभाज्य-फासीवादी दृष्टिकोण

11.5.5 उपनिवेश-विरोधी दृष्टिकोण

11.6 'राज्य रहित राष्ट्र' और 'राष्ट्र रहित राज्य'

11.7 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रवाद का भविष्य

11.8 सारांश

11.9 बोध प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद को उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी का धर्म कहा गया है। इसे विश्व के बारे में सोचने का तरीका माना जाए तो यह ऐतिहासिक घटनाक्रमों की व्याख्या करने और वर्तमान राजनीति का विश्लेषण करने में राष्ट्र की भूमिका के महत्व पर जोर देता है और यह दावा भी करता है कि "राष्ट्रीय चरित्र" मनुष्यों के बीच भेद करने वाला एक व्यापक तत्व है। राष्ट्रवाद यह मान्यता लेकर चलता है कि सभी मनुष्यों की एक और केवल एक राष्ट्रीयता होनी चाहिए और उसे ही उनकी अस्मिता और निष्ठा का प्रमुख कारक होना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि लोगों को अपने आपको एक राष्ट्रीयता के सदस्य के रूप में देखना चाहिए और राष्ट्र के हितों की रक्षा और प्रोन्नति के लिए आवश्यक कोई भी बलिदान करने को तैयार रहना चाहिए। सार्वभौमिक प्रयोज्यता के सिद्धान्त के रूप में, राष्ट्रवाद अपने भाग्य का स्वयं फैसला करने के योग्य होने की जनता की इच्छा का, और अपनी संस्कृति और व्यक्तित्व को विकसित करने वाली जनता के रूप में सम्मान प्राप्त करने की उनकी इच्छा का भी प्रतिनिधित्व करता है। पिछले दो सौ वर्षों के दौरान, राष्ट्रवाद ने उदारवाद, समाजवाद और साम्यवाद का दामन पकड़ा है और विजय प्राप्त की है। विश्व में हर कहीं, राष्ट्रवाद सबसे पहले आता है और अन्य विचारधाराएँ दूसरे स्थान पर आती हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पूर्व-औपनिवेशिक देशों में चले राष्ट्रीय आन्दोलनों और उसी शताब्दी के अंत में सोवियत संघ के विघटन ने

राष्ट्रवाद के शक्तिशाली स्वरूप को उजागर किया। आज, हम उस युग में जी रहे हैं जहाँ शान्तिपूर्ण बहुसंस्कृतिकवाद के बजाय राष्ट्रों के सामने सर्वनाश का खतरा लगातार बना रहता है। राष्ट्रवाद उन्हें उनकी संस्कृतिक के संरक्षण का एक उपयोगी साधन प्रदान करता है। यह तथ्य तब और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब भूमण्डलीकरण के संदर्भ में सभी समुदायों अथवा संप्रदायों को एकरूपता देने का प्रयास किया जाता है।

11.2 राष्ट्रवाद क्या है?

राष्ट्रवाद अनेक तत्वों का मिश्रण है जिनमें से कुछ की जड़ें मानवीय प्रकृति में हैं और जिनमें से अनेक का एक लंबा इतिहास है। फिर भी यह एक आधुनिक परिघटना है। इसका पता करना तो कठिन है ही स्पष्ट शब्दों में इसकी व्याख्या करना और भी कठिन है। एक अर्थ में है यह उस समूह का विस्तार होता है जिसका सदस्य कोई व्यक्ति है। इस अर्थ में यह एक प्रकार का सामूहिक अहंवाद होता है। नकारात्मक अर्थ में लें तो यह 'अजनबी' के प्रति उस भय का प्रकटीकरण है जिसकी जड़ें मानव स्वभाव में गहरे पैठी होती हैं। आधुनिक अर्थ में इसका जन्म परिचित भूमि और लोगों के प्रति उस प्रेम से होता है जिसे अक्सर राष्ट्रभक्ति का मूल तत्व माना जाता है। हेज़ के अनुसार, राष्ट्रवाद का इस्तेमाल विभिन्न प्रकार से किया गया है और इसका उपयोग आमतौर पर एक राष्ट्रीयता के सदस्यों की मानसिक स्थिति को इंगित करने के लिए होता है, जो शायद पहले ही एक राष्ट्रीय राज्य के अंग हैं; यह वह मानसिक स्थिति होती है जिसमें आदर्श अथवा अपने राष्ट्रीय राज्य के यथार्थ के प्रति निष्ठा और तमाम निष्ठाओं से गुरुतर होती हैं, और अपनी राष्ट्रीयता में गर्व और इसकी आंतरिक उत्कृष्टता और 'मकसद' में विश्वास इसके 'अभिन्न अंग' होते हैं। इसी प्रकार, हाब्स कोहन राष्ट्रीयता को एक ऐसी मानसिक स्थिति मानते हैं जिसमें एक राजनीतिक यथार्थ से अनुरूपता बनाने का प्रयास होता है। दूसरी ओर, गेलमर लिखता है - 'राष्ट्रवाद प्रमुख रूप से एक राजनीतिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार राजनीतिक इकाई और राष्ट्रीय इकाई में अनुरूपता होनी चाहिए राष्ट्रवादी भावना तो सिद्धान्त के उल्लंघन से पैदा होने वाला क्रोध का भाव, अथवा इसकी पूर्णता से पैदा होने वाला संतोष का भाव है।' गिडेन्स राष्ट्रवाद के मनोवैज्ञानिक स्वरूप की ओर इशारा करते हुए उसे 'प्रतीकों और विश्वासों के एक समूह के साथ व्यक्ति का जुड़ाव' बताता है जिसमें 'एक समुदाय विशेष के सदस्यों के बीच सामान्यता पर जोर होता है।'

संक्षेप में, राष्ट्रवाद के दो पहलू होते हैं: (i) राष्ट्रवाद तो राजनीतिक प्रकृति की विचारधारा है जिसमें इस धारणा का बचाव किया जाता है कि राज्य और राष्ट्र को एक-दूसरे के अनुरूप होना चाहिए; और ii) इसमें एक समान अतीत और संस्कृति पर आधारित समूह का गठन करने के प्रति जागरूक व्यक्तियों को अस्मिता प्रदान करने वाला बनने की क्षमता होती है और एक ठोस प्रदेश के साथ जुड़ाव होता है। राष्ट्रवाद की ताकत एक समुदाय विशेष का सदस्य होने के भाव पैदा करने की उसकी सामर्थ्य से आती है। लोगों में एकजुटता का भाव पैदा करने में प्रतीकों और कर्मकाण्डों की प्रमुख भूमिका होती है।

इस प्रकार, राष्ट्रवाद की अवधारणा को समझने के लिए, हमें यह ध्यान में रखना होगा कि:

- राष्ट्रवाद एक भावना है जिसका संबंध एक स्वदेश, एक समान भाषा, आदर्शों, मूल्यों और परम्पराओं के साथ जुड़ा होता है; जिसमें एक समूह विशेष की पहचान झंडे और ऐसे गानों जैसे प्रतीकों से होती है जिनमें इसे दूसरों से 'भिन्न' बताया जाता है। इस जुड़ाव से अस्मिता बनती है और उस अस्मिता के प्रति आकर्षता का एक अतीत होता है और उसमें लोगों को लामबंद करने की शक्ति होती है।
- स्वदेश और समान संस्कृति के प्रति जुड़ाव की भावना को एक राज्य के निर्माण हेतु राजनीतिक माँग में कैसे बदला जा सकता है; इस संक्रमण को कैसे संभव बनाया जा सकता है? राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को इस प्रकार के सवालों से निपटना होता है: एक राज्य के निर्माण के प्रयास में राष्ट्रवाद हिंसा का कैसे प्रयोग करता है और इस प्रयोग को कैसे वैध ठहराता है?
- विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर के लोगों को एकजुट करने की क्षमता राष्ट्रवाद की एक प्रमुख विशेषता है। राष्ट्रवाद केवल जन साधारण की बिना शर्त निष्ठा बनाए रखने के लिए की गई शासक वर्ग की ईजाद नहीं है, बल्कि इसके जरिए उन्हें यह भी विश्वास दिलाया जाता है कि उनमें बहुत कुछ समान है जो उन्हें अलग करने वाले तत्वों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। राष्ट्रवाद की स्थिरता को समझने का प्रयास करने की दिशा में यह एक बुनियादी तत्व है।

11.3 राष्ट्रवाद और संबंधित शब्दों में अंतर

राष्ट्रवाद की राजनीतिक प्रकृति को समझने के लिए राष्ट्र, राज्य, राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद में एक बुनियादी अवधारणा के स्तर पर एक बुनियादी अंतर करना आवश्यक हो जाता है। 'राज्य' शब्द एक कानूनी संस्था के लिए है और आम तौर पर इसका प्रयोग 'एक मानव समुदाय' के लिए होता है 'जो एक निश्चित प्रदेश (भूभाग) के भीतर शारीरिक बल के वैध प्रयोग पर एकाधिकार का दावा करता है।' दूसरी ओर, 'राष्ट्र' एक मानव समूह होता है जो जागरूक होकर एक समुदाय का गठन करता है, एक साँझा संस्कृति का पालन करता है और एक स्पष्ट रूप में सीमांकित प्रदेश से जुड़ा होता है। उसका एक समान अतीत और भविष्य के लिए एक समान योजना होती है, और वह स्व-शासन का दावा करता है। एक राष्ट्र में ये पाँच पहलू होते हैं: मनोवैज्ञानिक (एक समूह का गठन करने की चेतना), सांस्कृतिक, प्रादेशिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक। 'राष्ट्र-राज्य' शब्द से अभिप्राय 'एक प्रकार के राज्य के गठन' से हैं 'जिसके पास बल के वैध प्रयोग का एकाधिकार होता है और जो एकरूपीकरण के माध्यम से अपने लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास करता है जिसका ध्येय एक समान संस्कृति, प्रतीकों, मूल्यों, परम्पराओं और मूल संबंधी मिथक का निर्माण होता है।' राष्ट्रवाद एक समुदाय से जुड़े होने का भाव है जिसके सदस्य कुछ प्रतीकों, विश्वासों और जीवन-पद्धतियों के साथ अपनी अस्मिता जोड़ते हैं और उनमें अपने समान राजनीतिक भाग्य का निर्णय करने की इच्छा होती है।

11.4 राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्रीय अस्मिता की विशेषताएँ

राष्ट्रवाद के उदय से पहले 15वीं और 18वीं शताब्दी के बीच राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीयताओं के विभेदन का उदय हुआ। हेज़ राष्ट्रीय चेतना के उदय के लिए सात कारकों को उत्तरदायी मानता है: भाषायी और साहित्यिक, राजनीतिक, वाणिज्यिक, आर्थिक, चर्च-संबंधी, धार्मिक और सांस्कृतिक/राष्ट्र और राष्ट्रवाद आधुनिक परिघटनाएँ हैं और राष्ट्रों की व्याख्या केवल राष्ट्रवाद के युग के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। गेलनर के अनुसार, राष्ट्रवाद तो आधुनिकीकरण के कुछ विशिष्ट पहलुओं का परिणाम हैं। यह औद्योगिक समाज के उदय से जुड़ी परिघटना है। गिडेन्स राष्ट्रों और राष्ट्रवाद को आधुनिक राज्य के उदय के साथ जोड़कर देखता है, और 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसका उद्गम मानता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो नातेदारी में एक ठोस प्रदेश से जुड़े बृहत्तर 'समूहों' के गठन का पहला चिह्न देखने को मिला। बाज़ारों के अस्तित्व में आने, व्यापार तेज़ होने, लड़ाइयाँ लड़े जाने, और राज्य के अधिकार-क्षेत्र में धीरे-धीरे किन्तु निरंतर विस्तार होने से एक ऐसे सामुदायिक संगठन का उदय हुआ जो दूसरों से अलग अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक था। इसी दौर में हम राष्ट्रों के उदय की बात कर सकते हैं। इस प्रकार, राष्ट्रवाद के उदय के लिए निम्न कारकों को उत्तरदायी बताया जा सकता है:

- i) व्यक्तिगत मत जो पुनरुत्थानवादी और सुधारवादी युग का लक्षण था,
- ii) चर्च की सार्वभौमिक सत्ता का विघटन,
- iii) उभरते व्यापारी वर्गों में एकरूप व्यापारिक नियमों, व्यापार में सामंती बाधाओं के उन्मूलन और ऐसी स्थितियाँ पैदा करने की इच्छा जिनमें वे शान्तिपूर्वक व्यापार करके लाभ भी कमा सकें,
- iv) रक्तपात, हिंसा और असहिष्णुता के युग में शांति, व्यवस्था और सुरक्षा की इच्छा,
- v) उन सम्राटों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ जिन्होंने अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली सामंती सरदारों के विरुद्ध जाकर उभरते व्यापारी वर्ग से गठजोड़ किया, और
- vi) प्रादेशिक संप्रभुता की नीति, जिसमें राष्ट्रवादियों को अत्यधिक सुविधाजनक सैद्धान्तिक हथियार थमा दिया जिसकी मदद से प्रतिद्वंद्वी सामंती अथवा धार्मिक आकाओं के दावों का मुकाबला किया जा सकता था। एक निश्चित राष्ट्रीय क्षेत्र के भीतर सभी सामाजिक रिश्तों को नियंत्रित रखने की दिशा में व्यवस्था, स्थिरता और निश्चितता प्रदान करने वाली एक एकीकृत वैधानिक व्यवस्था का विचार खूब पसंद किया गया।

बीथेम के अनुसार, राष्ट्रवाद के उदय के लिए तीन कारक उत्तरदायी हैं: **आर्थिक, सैन्य और सांस्कृतिक**। पुनरुत्थानकारी और सुधारवादी युग के बाद, प्रशासन और कर से जुड़े एक से कानूनों को जब राज्य ने लागू किया तो उससे राष्ट्रीय बाज़ारों की स्थापना में मदद मिली, राष्ट्रीय उद्योग के विस्तार के लिए एकीकृत बाज़ार मिले, और विदेशी बाज़ारों को पछाड़ने में भी मदद मिली। राष्ट्रीय एकीकृत अर्थव्यवस्था बनने से 20वीं शताब्दी

में एक कल्याणकारी राज्य के विकास में भी मदद मिली। दूसरे, राज्यों में सैन्य प्रतिस्पर्धा के मामले में भी समान राष्ट्रीयता पर आधारित राज्य ही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संसाधनों के कारण बेहतर साबित हुए। फिर, वे एकीकृत राष्ट्रीय सेना के निष्ठापूर्ण सहयोग पर भी निर्भर कर सकते थे। तीसरे, राष्ट्र-राज्य लोगों की सांस्कृतिक-धार्मिक, जातीय, भाषायी - अपेक्षाओं को पूरा करने में सक्षम था। इस प्रकार, राष्ट्रीय चेतना ने राज्यों की स्थिति को मजबूत करने और आंतरिक तथा बाहरी चुनौतियों का सामना करने में सहायता की।

राष्ट्रीय अस्मिता की विशेषताएँ

राष्ट्र-राज्य के साथ उदित होने वाली एक आधुनिक परिघटना के रूप में राष्ट्रवाद के राजनीतिक पहलू से हटकर एक बड़ा सवाल यह है कि राष्ट्रीय अस्मिता का निर्माण कैसे होता है। दूसरे शब्दों में, कुछ तर्कसंगत घटनाक्रमों के साथ ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र होते हैं जो कम तर्कसंगत होकर भी कम महत्वपूर्ण नहीं होते और उनका संबंध एक भावना और संवेग पैदा करने से होता है। गीबरनो के अनुसार, व्यापक तौर पर तीन कारक हैं जो एक राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में सहायक रहे हैं: i) मुद्रण प्रणाली का विकास और बोलियों का उदय, ii) राष्ट्रीय अस्मिता और संस्कृति का परस्पर संबंध, और iii) समान प्रतीक और संस्कार। अब हम इन कारकों पर विस्तार से विचार करेंगे।

यूरोप में प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार के बाद हुए बोलियों के विकास ने एक समुदाय के प्रति जुड़ाव की भावना पैदा करने में एक निर्णायक भूमिका अदा की। राष्ट्रीय चेतना का विकास किसी संस्कृति विशेष के उन साझा मूल्यों, परंपराओं, और स्मृतियों से होता है जिसे एक विशेष भाषा में सोचा और बोला जाता है। यद्यपि बोली राष्ट्रीय चेतना के निर्माण के विकास का अनिवार्य आधार नहीं है, फिर भी वह इस समुदाय को सुगम बनाने में सहायक तो होती है। जहाँ राष्ट्र और राज्य का विस्तार साथ-साथ हुआ वहाँ शिक्षा, और साक्षरता के साधारणीकरण ने लोगों के बीच संवाद की संभावना को मजबूत ही नहीं किया बल्कि एक प्रगाढ़ सामुदायिक बोध के विकास में भी सहायता की। अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन भाषाओं के विकास और स्कूली व्यवस्था पर आधारित शिक्षा प्रणाली के परिणामस्वरूप एक प्रगाढ़ राष्ट्रीय चेतना का निर्माण हुआ। जब राज्य एक संस्कृति और भाषा का थोपने में सफल होता है तो यह 'राष्ट्रवाद' होता है जो राष्ट्रों को जन्म देता है। यदि राष्ट्र कामयाब होता है तो वह राजनीतिक संबंधों के अलावा आर्थिक, प्रादेशिक, धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक जैसे मिले-जुले संबंधों को विकसित करने में सफल होता है।

दूसरा, राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़ा प्रमुख प्रश्न है - मैं कौन हूँ? अस्मिता तो 'स्व' की व्याख्या है जिससे यह तय होता है कि सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर कोई व्यक्ति क्या है और कहाँ है। अस्मिता का अस्तित्व उन समाजों में होता है जो उन्हें परिभाषित और संगठित करते हैं। वर्तमान युग में, राष्ट्र इन्हीं में से एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्रीय अस्मिता इसी से पैदा होती है। अस्मिता को तय करने के मानदंड हैं: लम्बे समय तक निरंतरता और विभेदन। जहाँ निरंतरता का आधार ऐतिहासिक मूल में होता है वहीं विभेदन का उदय एक साँझा संस्कृति वाले समुदाय के गठन की चेतना से होता है जो सदस्यों और 'अजनबियों' के बीच भेद करने वाले ठोस प्रादेशिक क्षेत्र

से जुड़ा होता है। यह अस्मिता तीन कार्य करती है : i) यह व्यक्ति को उसकी समान राजनीतिक अस्मिता के बारे में निर्णय लेने के अधिकार जैसे विकल्प चुनने में सहायता करती है, ii) यह दूसरों के साथ संबंध को संभव बनाती है क्योंकि राष्ट्र एक साझा समूह होता है जिसमें एक समान संस्कृति वाले व्यक्ति साथ-साथ रहने और काम करते हैं, और iii) राष्ट्रीय अस्मिता व्यक्तियों को एक श्रेष्ठतर सत्ता के साथ जुड़ने की शक्ति और लोच प्रदान करती है। इस अस्मिता का निर्माण एक साझा संस्कृति के विकास से होता है, जिसमें वे मूल्य, विश्वास, प्रथाएँ, परम्पराएँ, आदतें और रीतियाँ आती हैं जो एक समुदाय विशेष की संस्कृति ग्रहण करने वाले नए सदस्यों को हस्तांतरित कर दी जाती हैं। एक विशिष्ट संस्कृति के तत्वों के साथ पहचान जोड़ने की प्रक्रिया में एक सशक्त भावनात्मक निवेश निहित होता है। राष्ट्रवाद के नज़रिये से देखे तो एक साझा संस्कृति एक विशेष समुदाय के सदस्यों के बीच एकजुटता का बंधन निर्मित करने की पक्षधर होती है और उन्हें यह कल्पना करने में मदद करती है कि वे जिस समुदाय के सदस्य हैं वह दूसरों से अलग और विशिष्ट है।

तीसरा, राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में प्रतीक और संस्कार (कर्मकांड) भी सशक्त भूमिका निभाते हैं। राष्ट्र एक समुदाय होता है जिसके अपने अंदर तो समानताएँ होती हैं और दूसरों से भिन्नताएँ। समुदाय के निर्माण की चेतना उन प्रतीकों के प्रयोग और कर्मकाण्डों के दुहराने से पैदा होती है जो समुदाय के एक-एक सदस्य को शक्ति प्रदान करते हैं। एक राष्ट्र दूसरों से अपने को अलग दिखाने के लिए ऐसे अवसरों को पसंद करता है जिनमें वे एकजुटता महसूस करते हैं और ऐसे प्रतीकों का प्रदर्शन करता है जो उसकी एकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए, एक फौजी अपने झंडे के पीछे इसलिए जान दे देता है क्योंकि वह झंडे को अपने देश के साथ जोड़कर देखता है। फिर झंडे जैसे प्रतीकों में विशेष प्रकार की स्मृतियाँ अथवा भावनाएँ जमाने की भी शक्ति होती है। इससे राष्ट्रवाद को विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों तथा सामाजिक पृष्ठभूमियों वाले लोगों को एक सूत्र में बाँधने में मदद मिलती है। प्रतीकों की यह विशेषता होती है कि वे भिन्नता को तो छिपा लेते हैं और समानता को उजागर करते हैं, जिससे व्यक्तियों में सामूहिकता की भावना पैदा होती है। और अंतिम बात यह है कि जो व्यक्ति एक ही-संस्कृति में जीते हैं और एक ठोस भूभाग के प्रति जुड़ाव रखते हैं और जिनके पास एक साझा अतीत का अनुभव होता है और भविष्य की योजना होती है, उन्हें ऐसे अवसर पैदा करने की ज़रूरत होती है जिनमें उन्हें एकजुट करने वाली हरेक बात पर जोर हो। इन क्षणों में, व्यक्ति अपने बारे में तो भूल जाता है और एक समूह से जुड़े होने की भावना वहाँ प्रबल हो जाती है। कर्मकाण्डों के माध्यम से, व्यक्ति असाधारण तीव्रता वाली एक अनुभूति को महसूस कर पाते हैं जो उस सत्ता अर्थात् राष्ट्र के साथ उनके जुड़ाव से पैदा होती है जो उनसे ऊपर होता है और जिसके वे अंग होते हैं।

इस प्रकार, राष्ट्रवाद की शक्ति अकेले तर्कसंगत विचार से ही पैदा नहीं होती बल्कि भावनाओं की उस अतर्कसंगत शक्ति से भी वह पैदा होती है जिसका जन्म एक विशेष समूह के प्रति जुड़ाव की भावना से होता है। राष्ट्रवाद का यह दोहरा चेहरा उस तरीके का परिणाम होता है जिसके जरिये ये भावनाएँ एक शान्तिपूर्ण और लोकतांत्रिक आन्दोलन का रूप ले लेती हैं जिसका उद्देश्य अपने राष्ट्र को दूसरों से उनपर मनवाना और बनाना

और भिन्नताओं को समाप्त करना होता है।

11.5 राष्ट्रवाद के अध्ययन के दृष्टिकोण

पिछले 300 वर्षों के दौरान राष्ट्रवाद ने विभिन्न दौर देखे हैं। एक सांस्कृतिक और मानवीय अवधारणा के रूप में सामने आने के बाद ये राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, मार्क्सवाद और फासीवाद आदि अनेक विचारधाराओं ने इसका उपयोग और दुरुपयोग किया है। पूर्व-औपनिवेशिक देशों के मुक्ति संग्राम में राष्ट्रवाद का इस्तेमाल एक सशक्त हथियार के रूप में हुआ। राष्ट्रवाद को उदारवादी - तर्कसंगत से लेकर फासीवादी - अतर्कसंगत तक अनेक दृष्टिकोणों से देखा गया है। इनमें से प्रमुख दृष्टिकोण हैं:

- राष्ट्रवाद का उदारवादी दृष्टिकोण
 1. मानवतावादी
 2. विस्तारवादी
- राष्ट्रवाद का मार्क्सवादी दृष्टिकोण
- राष्ट्रवाद का अविभाज्य-फासीवादी दृष्टिकोण
- राष्ट्रवाद का साम्राज्यवाद-विरोधी दृष्टिकोण

अब हम इन दृष्टिकोणों पर विस्तार से विचार करेंगे।

11.5.1 राष्ट्रवाद का उदार मानवतावादी दृष्टिकोण

यह औपचारिक राष्ट्रवाद का सबसे प्रारंभिक रूप है और इसका उल्लेख बोलिनब्रोक, रूसो, हर्डर, फ्रिख्टे और मात्तसीनी आदि की रचनाओं में मिलता है। हर्डर के अनुसार, मानव जाति प्रकृति और तर्क से अलग-अलग राष्ट्रीयताओं में बंटी होती हैं और राष्ट्रीयता की इस विशेष मेधा के विकास से ही व्यक्ति और मानवता दोनों मिलकर पूर्णता की दिशा में प्रगति करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है जो प्रकृति का उपहार होता है, और उस विशिष्ट मेधा के विकास का दायित्व उन व्यक्तियों पर होता है जो उस राष्ट्र के अंग होते हैं। विभिन्न राष्ट्रीयताओं में विभेद का आधार ऐतिहासिक परंपरा, अपनी विशिष्ट भाषा, साहित्य, शिक्षा प्रणाली और प्रथाएँ होती हैं, और एक सुविकसित राष्ट्रीयता में यह आधार 'राष्ट्रीय आत्मा' होती है। हर्डर ने राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पक्ष पर जोर दिया है। हर्डर के अनुसार विभिन्न राष्ट्रीयताओं में विभेद का आधार भूगोल, जलवायु, ऐतिहासिक परम्पराएँ, भाषा, साहित्य, शिक्षा और शिष्टाचार जैसे कारक होते हैं। इसी प्रकार, रूसों की 'लोक' संबंधी अवधारणा में लोक से आशय उन लोगों से होता है जिनके पास एक समान भाषा और ऐतिहासिक परम्परा होती है। उसमें लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धान्त को लागू करने और राजनीतिक लोकतंत्र के संचालन को सुनिश्चित करने की इच्छा होती है और उसके लिए आवश्यक साधन भी उसके पास

होते हैं। राष्ट्रीय संस्थाएँ ही एक 'लोक' (लोगों) की प्रतिभा, चरित्र, रुचि और प्रथाओं का निर्माण करती हैं और उनमें उनके देश के प्रति अगाध प्रेम जगाती हैं, और उनका आधार वे आदतें होती हैं जिनके उद्गम तक पहुँचना असंभव है।

किन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के राष्ट्रवाद में एक राष्ट्र के ऊपर दूसरे राष्ट्र की सर्वोच्चता का कोई आदेश नहीं था और यह राष्ट्रवाद अराजनीतिक था। हर्डर के शब्दों में - 'मानव जाति एक समूची इकाई है, हम काम करते हैं और कष्ट उठाते हैं, बोते हैं और काटते हैं - हममें से प्रत्येक सभी के लिए यह करता है।' एक राष्ट्र की खुशी को दूसरे राष्ट्र पर नहीं लादा जा सकता; प्रत्येक को अपने तरीके से अपनी खुशी ढूँढ़नी और पानी होगी। मानवता का आदर्श समस्त राष्ट्रों से ऊपर होता है। यह आदर्श एक लक्ष्य और मार्गदर्शक सिद्धान्त होता है; यह एक समर्थता होती है जिसका विकास करना होता है। हर्डर ने राष्ट्रीयता के उद्देश्य के लिए साम्राज्यवाद और जीत के युद्ध का विरोध किया है। केवल अतर्कसंगत स्वेच्छाचारी तंत्र में ही विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले लोकों को एक शासन तले लाने का प्रयास किया जाता है। एक उदारवादी और राष्ट्रवादी होने के नाते, हर्डर ने फ्रांसीसी क्रान्ति का स्वागत किया था और उसमें प्रबोधन के बीज देखे थे।

इसी प्रकार, फिख्टे का भी यही मानना था कि व्यक्ति जो राष्ट्र की सेवा करता है और राष्ट्र की विशिष्ट प्रतिभा का निर्माण करता है, वहीं मानवजाति के प्रति उसकी सर्वोत्तम सेवा होती है। हर्डर की तरह फिख्टे का भी यह विश्वास था कि जहाँ कहीं एक अलग भाषा मिलती है वहाँ एक अलग राष्ट्र का वजूद होता है। उसका मानना कि 'राज्यों की पहली, मौखिक और सचमुच प्राकृतिक सीमाएँ निस्संदेह उनकी आंतरिक सीमाएँ होती हैं। जो व्यक्ति समान भाषा बोलते हैं वे प्रकृति के हाथों ही अनेक अदृश्य बंधनों से एक-दूसरे से बंधे होते हैं, वे एक-दूसरे को समझते हैं और उनके पास यह अधिकार होता है कि वे अपने आपको अधिकाधिक स्पष्ट रूप में समझाने का प्रयास जारी रखें।' प्रसीया (Prussia) पर नेपोलियन की विजय के बाद, राष्ट्रवाद के प्रति उसके विचार अत्यधिक अहंवादी भाषा में व्यक्त होते थे; यह वह भाषा थी जिसका प्रयोग सभी देशों के राष्ट्रभक्तों ने विदेशी शासन के प्रति विरोध की स्थिति पैदा करने के लिए किया है। एकता के लिए की गई ऐसी ही अपील से अंततः जर्मन राष्ट्र का उदय हुआ। फिख्टे की विचारधारा में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने राजनीतिक स्तर पर जागरूक और सक्रिय रूप लिया। अपनी पुस्तक *दि क्लोज्ड कामर्शियल स्टेट (The Closed Commercial State)* में फिख्टे ने आर्थिक राष्ट्रवाद के पक्ष में तर्क दिए। जब तक कोई राष्ट्र आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर नहीं हो जाता, तब तक वह एक राजनीतिक सत्ता के रूप में जीवित नहीं रह सकता। फिख्टे का मानना था कि अंतर-राष्ट्रीय मुक्त व्यापार से राष्ट्रों के बीच एकता को बढ़ावा नहीं मिलता बल्कि उससे साम्राज्यवाद और युद्ध का ही खतरा पैदा होता है। इससे राष्ट्रों के बीच कटुता और शत्रुता पनपती है। प्रत्येक साम्राज्यवाद आर्थिक आत्म-निर्भर होने का प्रयास करें तो युद्ध का एक बुनियादी कारण खत्म हो जाएगा।

उदारवादी मानवतावादी राष्ट्रवाद का एक और प्रतिनिधि था जूज़ोपै मात्सीनी। उसने केवल इटली के लोगों की भावनाओं को ही राष्ट्रीय एकता और विदेशी शासन से मुक्ति के

पक्ष में नहीं उभारा बल्कि पूरे यूरोप में ऐसे ही राष्ट्रवादी आन्दोलनों को भी हवा दी। हर्डर और फिख्टे की तरह मात्सीनी ने भी यही कहा कि प्रत्येक आवाम का अपना विशेष मकसद होता है और उसी मकसद से उसकी राष्ट्रीयता का निर्माण भी यह विशेष मकसद (मिशन) तो मानवता के आम मकसद की एक विशेष पूर्ति भर होता है। उसी के शब्दों में - 'मानवता तो राष्ट्रीयताओं का संघ होता है, लोकों का गठबंधन होता है जिसे शान्ति और प्रेम (के वातावरण) में उनके मकसदों को निश्चित रूप देने के उद्देश्य से किया जाता है; यह उन स्वतंत्र और समान लोगों का संगठन है जो बिना किसी अवरोध और बाधा के ... ईश्वर के एक-सूत्रीय विचार के प्रगतिशील विकास की ओर बढ़ेंगे जिसे उसने पालने पर, पिछले जीवन पर, राष्ट्रीय मुहावरें, और प्रत्येक के रूप पर लिख दिया है। मानवता की संधि पर व्यक्ति नहीं बल्कि केवल वे स्वतंत्र और समान जन ही कर सकते हैं जिनका अपना कोई नाम, झंडा और एक अलग व्यक्तिगत अस्तित्व के प्रति जागरूकता होती है।' मात्सीनी का विश्वास था कि राष्ट्र-राज्य वह माध्यम और अभिकरण है जिसके माध्यम से इतिहास अपने आपको व्यापकतर मानवीय स्वतंत्रता की ओर अपने क्रमिक विकास में प्रकट करता है। राष्ट्रों के साथ जुड़कर व्यक्ति अपने भाग्य को उस तरह साकार कर पाते हैं जैसे अलग-थलग रहकर वे कभी नहीं कर पाते। व्यक्तियों से भी ऊपर होती है मानवता जिसमें व्यक्ति समाए होते हैं, और मानवता अपने आपको सबसे स्पष्ट रूप में राष्ट्रीयताओं में व्यक्त करती है। किन्तु, मात्सीनी ने अधिकारों के बजाय कर्तव्यों पर जोर दिया है। मनुष्य का अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति और अपने समुदाय के प्रति दायित्व होता है, और जो भी अधिकार उसे कथित तौर पर प्राप्त होते हैं वे इन्हीं दायित्वों का विस्तार और प्रतिबिम्ब होते हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा दायित्व होता है मानवता की सेवा करना, क्योंकि केवल सच्चे दिल से मानवता की सेवा करके ही वह स्वयं की और अपने देश की सेवा कर सकता है। केवल राष्ट्रीय राज्यों का गठन करके ही राष्ट्रीयताएँ मानवता की सेवा कर सकती हैं। किन्तु, मात्सीनी राष्ट्र के प्रति निष्ठा से भी ऊपर मानवता के प्रति निष्ठा को रखता था। यद्यपि मात्सीनी उन मुक्ति संग्रामों की हिमायत करता था जिनके परिणामस्वरूप राष्ट्रीयताओं को मुक्ति और एकता हासिल होती है, फिर भी वह यूरोप के नक्शे को वापस 'प्राकृतिक' राष्ट्रीय सीमाओं के स्वरूप में आने के बाद एक ऐसे विश्व की आशा करता था जो सार्वभौमिक और सतत शान्ति तथा एकता को समर्पित होगा।

संक्षेप में, इस दृष्टिकोण में राष्ट्रवाद के मानवीय और सांस्कृतिक पहलू पर और किसी राष्ट्रीयता का सदस्य होने के मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार पर जोर दिया गया और एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के प्रभुत्व का विरोध किया गया है।

11.5.2 विस्तारवादी दृष्टिकोण

मात्सीनी जैसे चिंतकों के इस दृष्टिकोण के विपरीत कि मुक्त संग्रामों से राष्ट्रीयताओं को एकता और स्वाधीनता हासिल होगी, उदारवादी युद्धों की विजय में वहीं बुराईयाँ उभरकर आईं जिनका उन्हें विनाश करना था। बल्कि वे तो पहले से भी कहीं अधिक विनाशकारी और व्यापक युद्धों की अग्रदूत बन गए। राष्ट्रीय एकीकरण और लोकतंत्र ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वैमनस्य को और भी तेज़ कर दिया और जन-जन को उसका

सक्रिय सहभागी बना दिया। 1850 के दशक के बाद, औद्योगिक क्रान्ति अनेक यूरोपीय देशों और अमेरिका तक फैल चुकी थी। एकताबद्ध राष्ट्रों के पास अब - औपनिवेशिक अथवा अन्य - विजय की नीतियों के लिए आवश्यक जुड़ाव और भावनात्मक बल था। औपनिवेशिक विवादों ने अब राष्ट्रों के मतभेद का रूप ले लिया जिसमें स्वयं अवामों के हित दाँव पर थे और जिसमें अवामों के पास एक निर्णायक भूमिका निभाने का अवसर था। राष्ट्रवाद और लोकतंत्र की विजय ने राज्य की संप्रभुता को मज़बूत कर दिया और राष्ट्रों को उनकी सीमाओं से भी आगे प्रसार करने का मार्ग प्रशस्त किया। इसके परिणामस्वरूप, राष्ट्रवाद की वैधता के सैद्धान्तिक आधार अब उदारवाद और मानवतावाद से हटकर 'वैज्ञानिक' और 'जीव वैज्ञानिक' हो गए। कुछ लेखकों ने यह प्रस्तावना की कि राष्ट्रवाद का आधार जीव वैज्ञानिक है और साम्राज्यवाद तो 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' और 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के विकासवादी सिद्धान्त की ही परिणति थी। इस परिवर्तन के आते ही, साम्राज्यवादी विस्तार को वैज्ञानिक आधार पर उचित ठहराया जा सका। इसमें राष्ट्रों के बीच कलह की स्थिति निहित होने के कारण, इसकी तुलना प्रजातियों के बीच अस्तित्व के लिए प्रतिस्पर्धा से की जा सकी। कुछ लेखकों ने इसे 'प्राकृतिक' माना तो कुछ ने यह कहा कि मानव प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि मज़बूत राष्ट्र विकास अथवा विस्तार के लिए संघर्ष करें, और तभी 'श्रेष्ठतर प्रजातियों' का वजूद बना रहेगा। स्वस्थ प्रजातियों में यह शारीरिक आग्रह होने और 'पिछड़ी प्रजातियों' की मौजूदगी के कारण राष्ट्रवाद का तर्क साम्राज्यवाद का रूप लेने से बच नहीं सका। साम्राज्यवाद के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह उस सिद्धान्त के अनुरूप है जिसके अंतर्गत राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य पद का दावा करने वाले साम्राज्यवाद कमजोर राष्ट्रीयताओं और पिछड़े अवामों को अपने अधीन कर लेते हैं और अपने में मिलता लेते हैं। राष्ट्रवाद का यह साम्राज्यवादी - प्रसारवादी दृष्टिकोण लुदविग गम्प लोविज़, जे. आर. सीले, जे. ए. क्रैम्ब, जे. डब्ल्यू. बर्गस और त्रीत्सके इत्यादि जैसे विचारकों के लेखन में व्यक्त हुआ। यहाँ हम उनके विचारों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

गम्प लोविज़ के अनुसार, 'राज्य की सर्वाधिक प्राकृतिक प्रवृत्ति तो सत्ता और प्रदेश (राज्य क्षेत्र) की निरंतर वृद्धि है।' राष्ट्रीय प्रसार तो राज्य के अस्तित्व की ही अभिव्यक्ति है; यह वह अनिवार्य प्रवृत्ति है जिसका प्रतिरोध करने की शक्ति शासकों और लोगों में नहीं होती। विदेशी विजय की यह प्रवृत्ति इतनी आवश्यक और इतनी मज़बूत होती है कि कोई भी राज्य इससे बच नहीं सकता, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। सभी राज्य अपनी प्रादेशिक सीमा और सत्ता बढ़ाने का प्रयास करते हैं और तभी रुकते हैं जब उनका अस्तित्व ही मिट जाता है। इसी प्रकार, अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के महान समर्थक जे. आर. सीले ने अपने देशवासियों से यह आग्रह किया था कि वे अपनी साम्राज्यवादी जिम्मेदारियों को ग्रहण करने की अपनी नियति के प्रति सचेत हों। उसने 'नियति' शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी 'निर्यात' की व्याख्या के लिए वैसे ही किया जैसे 19वीं शताब्दी में 'व्यक्त नियति' पद का प्रयोग अमेरिका ने पश्चिमोन्मुख विस्तार को उचित ठहराने के उद्देश्य से और कुछ अन्य ने और भी अधिक महत्वाकांक्षी प्रादेशिक आकांक्षाओं के लिए किया था। एक अन्य अंग्रेज़ी इतिहासकार जे. ए. क्रैम्ब ने अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का एक चरम रूप प्रस्तुत किया। क्रैम्ब की यह मानना था कि अंग्रेज़ प्रजाति में साम्राज्य (चलाने) की मेधा प्रकृतिदत्त थी और ऐसी प्रजाति को अपने नियत काम को पूरा करने के लिए दुस्साहस

करना ही होता है, कष्ट उठाने ही पड़ते हैं, और सब कुछ त्यागना ही पड़ता है। 'नागरिक' सामंतवादी अथवा - अल्पतांत्रिक राज्य तो राष्ट्रीय में, राष्ट्रीय तो साम्राज्यवादी में परिवर्तित हो जाता है; यह सब कुछ धीमे-धीमे अथवा तेज़ी से होता है, किन्तु होता बिना प्रतिरोध के; और यह सब जैसे प्रकृति के एक निर्धारित नियम से होता है। अमेरिका में, बर्गस ने 'विश्व की राजनीतिक सभ्यता को संचालित करने के ट्यूटनी राष्ट्रों के मकसद' की बात कही। दुनिया के पिछड़े अवांमों को जीत के माध्यम से ट्यूटनी राष्ट्रों के शासकत्व के माध्यम से यह सिखाना ही चाहिए कि वे कैसे रहें। यह कहा गया कि छोटे-छोटे राज्यों को बड़े राजनीतिक समूहों में तब तक जुड़ते रहना चाहिए जब तक विश्व के समस्त अर्ध-सभ्य और असभ्य समुदाय बड़े सभ्य राष्ट्रों के संरक्षण में न आ जाएँ।

त्रीत्सके के लेखन में यह बात जोरदार ढंग से सामने आई कि साम्राज्यवाद और युद्ध तो राष्ट्रवाद की ही अभिव्यक्ति थे। उसका मानना था कि राज्य किसी लक्ष्य का साधन नहीं, बल्कि अपने अन्य में एक आत्म-निर्भरतापूर्ण लक्ष्य था। राज्य को अपना लक्ष्य अपने अंदर ही खोजना चाहिए और किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह राज्य को अपना नौकर माने, बल्कि यह तो नैतिक कर्तव्य और शारीरिक आवश्यकता के चलते बाध्य है कि अपने आपको राज्य के अधीन करे। वह युद्ध को 'एक प्रकार का मुकदमा मानता था जिसके जरिये राज्यों को अपने दावों को वैध करना होता है' और यह 'रुग्ण राष्ट्र' के लिए एक कठिन किन्तु लाभकारी उपचार होता है। युद्ध, एक परीक्षा होती है जिसमें कमजोर और कायरों की पहचान हो जाती है और वे 'न्यायसंगत ढंग से नष्ट' हो जाते हैं। छोटे राज्यों का यह कर्तव्य होता है कि वे अधिक विस्तार करें, क्योंकि इस प्रकार का विस्तार एक अवाम के नैतिक दम-खम की निशानी होती है। यह राज्य के गौरव के लिए और उसके अपने भविष्य में विश्वास के लिए आवश्यक होता है कि वह आकार में विस्तार का प्रयास करें। त्रीत्सके ने जर्मनी को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह उस प्रकार के साम्राज्यवादी प्रयासों में लगे जिनके बल पर इंग्लैण्ड इतना महान राष्ट्र बन गया था। उसका कहना था कि यदि जर्मनी को पश्चिमी दुनिया के राष्ट्रों में सर्वोच्च शक्ति बनना है तो उसे समुद्र पार के भूभागों पर कब्जा करना ही होगा।

इस प्रकार, पहले जिस राष्ट्रवाद को एकरूपीय समूह को सांस्कृतिक बंधन में बांधने का साधन माना जाता था, वहीं अब अपने आपमें एक लक्ष्य और साम्राज्यवादी विस्तार का साधन बन गया। यह यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका के औद्योगिक देशों के हाथों में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अविकसित देशों को जीतने का एक शक्तिशाली हथियार बन गया।

11.5.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य के विचार को मार्क्सवाद ने दूसरे ही अर्थ में लिया। मार्क्स का कहना था कि समाज के विभाजन का आधार वर्ग होता है राष्ट्रीयता नहीं। राज्य का उद्देश्य तो प्रभुत्वशाली वर्ग के निहित स्वार्थों की रक्षा करना होता है और इस प्रकार राज्य राष्ट्रीयता का नहीं बल्कि वर्ग हित का प्रतिनिधित्व करता है। अपने युग के बारे में लिखते हुए मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया था कि यद्यपि पूँजीवादी-उदारवादी राज्य

राष्ट्रीय हित की बात करता है, फिर भी औद्योगिकीकरण ने एक ऐसे मज़दूर वर्ग को जन्म दिया है जिसका हित सार्वभौमिक है, चाहे उसकी राष्ट्रीयता कुछ भी हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक देशों में राष्ट्रीयता की अवधारणा मृतप्राय है। घरम राष्ट्रवाद एक ऐसा वैचारिक साधन है जो वर्ग प्रभुत्व में सहायक होता है। यह बूर्जुआ वर्ग के हाथों गढ़ी गई कहानी है और इसका इस्तेमाल भी वह उसी तरह कर रहा है जैसे धर्म, आचार, लोकतंत्र, स्वतंत्रता, विज्ञान, कला अथवा साहित्य का किया था। मार्क्स का कहना था कि मज़दूर वर्ग का कोई राष्ट्र नहीं है; इसके वर्गीय हित सार्वभौमिक हैं। मज़दूर वर्ग की मुक्ति तो विश्व स्तर पर उत्पादक शक्तियों के विकास में निहित थी जो राष्ट्र-राज्य के संकीर्ण क्षेत्र में संभव नहीं था। इस प्रकार, सिद्धान्त रूप में, मार्क्स और एंगेल्स ने राष्ट्रीयताओं के उन्मूलन का विचार दिया जो उनके अनुसार मध्यम वर्ग की विचारधारा का सृजन था।

मार्क्स की दृष्टि में राष्ट्रवाद तो बूर्जुआ हितों की अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार, 'बूर्जुआ (वर्ग) ने अपनी सुविधानुसार यह मान लिया कि राष्ट्र केवल पूँजीवादियों से बनता है। इसलिए देश उनका है।' उसका तर्क था कि एक वर्ग के रूप में बूर्जुआ वर्ग का हित साझा था और 'यह हित समुदाय देश के अंदर सर्वहारा के खिलाफ और देश के बाहर अन्य राष्ट्रों के बूर्जुआ के खिलाफ खड़ा होता है। इसी के बूर्जुआ अपनी राष्ट्रीयता कहता है।'

जर्मन विचारधारा (German Ideology) में मार्क्स ने सर्वहारा को एक ऐसा वर्ग कहा है जिसके समान अन्य कोई वर्ग नहीं है, जिसे समाज में अब एक वर्ग नहीं माना जाता, एक वर्ग के रूप में महत्व नहीं दिया जाता, और जो अपने आपमें सभी वर्तमान समाज के भीतर सभी वर्गों और राष्ट्रीयताओं के विलीन होने की अभिव्यक्ति है। आधुनिक पूँजीवादी समाज में, सर्वहारा जितना अधिक जीवन काम में बिताता है उतना ही वह गरीब होता जाता है। मार्क्स ने इस स्थिति की निंदा की और यह सोचा कि समूची दुनिया के सर्वहारा एकजुट होकर संघर्ष कर सकते हैं। *दि कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* (साम्यवाद का घोषणापत्र) में मार्क्स ने लिखा है, 'मज़दूरों का कोई देश नहीं है लोगों के बीच राष्ट्रीय मतभेद और शत्रुता का प्रतिदिन अधिकाधिक लोप हो रहा है मज़दूरों की राष्ट्रीयता न तो फ्रांसीसी है, न अंग्रेजी, और न ही जर्मन, यह तो कारखाने की हवा है। उसकी जो जमीन है वह न तो जर्मन है, न अंग्रेजी, और न ही फ्रांसीसी, यह तो जमीन के कई फुट नीचे हैं।' इसी प्रकार, एंगेल्स ने भी मार्क्स की बात दोहराते हुए कहा कि मज़दूर वर्ग को अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में सोचना चाहिए। 'राष्ट्रीय एकपक्षता और संकीर्ण मानसिकता अधिकाधिक असंभव होती जाती है।'

अपने संगठन 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' के बारे में यह लिखा कि 'इंटरनेशनल किसी देश को मान्यता नहीं देता; इसकी इच्छा एकजुट होने की है विलीन होने की नहीं।' यह राष्ट्रीयता की माँग के खिलाफ है क्योंकि यह एक अवाम को दूसरे अवाम से अलग करती है और अत्याचारी इसका इस्तेमाल पूर्वग्रह और शत्रुता पैदा करने में करते हैं।'

किन्तु 1848 में मार्क्स और एंगेल्स ने राष्ट्रवाद को लेकर एक बड़ा बवलवाव तब देखने में आया जब उन्होंने हंगरी और पोलैण्ड और जर्मनी जैसे उन ऐतिहासिक अथवा महान

राष्ट्रों के राष्ट्रीय उद्देश्य का समर्थन किया जो बड़े स्थिर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का प्रयास कर रहे थे। मार्क्स यह भी मानते थे कि दमित राष्ट्रों की मुक्ति से राष्ट्रीय विभाजन पर काबू पाने में मदद मिलेगी और दोनों राष्ट्रों के मजदूर वर्ग की एकजुटता में भी मदद मिलेगी। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से शासक वर्ग की राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और वैचारिक शक्ति को कमजोर करने में भी मदद मिलेगी और दमित राष्ट्र के मजदूर वर्ग में एक क्रान्तिकारी विचारधारा बनेगी। एंगेल्स ने 'गैर-ऐतिहासिक राष्ट्र' की अवधारणा सामने रखी। उसके अनुसार, यूरोप में इटली, पोलैण्ड, हंगरी और जर्मनी जैसे कुछ महान ऐतिहासिक राष्ट्र हों और एकता का विचार वहाँ उचित था, किन्तु वहीं रोमानिया, चेक और स्लोवाक जैसे कुछ छोटे देश भी थे जिनकी कोई ऐतिहासिक महत्ता और विरासत नहीं थी। यूरोप में लोकतांत्रिक क्रान्ति की विफलता का एक बड़ा कारण इन राष्ट्रों की प्रति-क्रान्तिकारी भूमिका थी। 1917 से पहले, यूरोप के क्रान्तिकारी वामपंथी व्यापक तौर पर मार्क्स और एंगेल्स के विचारों का समर्थन करते थे और सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के नाम पर राष्ट्रीय अलगाव का विरोध करते थे। किन्तु राष्ट्रवाद पर मार्क्स के विचारों से संबंधित कुछ प्रश्नों का समाधान इतिहास ने कर दिया है। 1890 में, जब जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण किया तो मार्क्स ने जर्मनी के मजदूर वर्ग से आग्रह किया कि वे बिस्मार्क का समर्थन नहीं करें बल्कि उसके खिलाफ विद्रोह कर दें। बहरहाल, मजदूर वर्ग ने बिस्मार्क का समर्थन किया। इसी तरह के आग्रह प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों में भी किए गए किन्तु मजदूर वर्ग युद्ध में शामिल न होने को सहमत नहीं हुआ, और न ही युद्ध रुका।

राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयताओं का सवाल रूसी क्रान्ति के बाद प्रमुखता से उभरा क्योंकि रूस में अनेक राष्ट्रीयताएँ थीं। लेनिन अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और राष्ट्रीयताओं के आत्म-निर्णय के अधिकार के द्वंद्वत्मक संबंध को भली प्रकार समझते थे। लेनिन का मानना था कि केवल अलग होने के अधिकार से राष्ट्रों के बीच दीर्घकालिक जुड़ाव और ऐच्छिक एकता और सहयोग संभव होता। इसी प्रकार, जब दमित राष्ट्रों के मजदूर आन्दोलन दमित राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को मान्यता देंगे तभी दमितों की शत्रुता और शंका समाप्त होगी और दोनों देशों के सर्वहारा बूजुआ के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में एकजुट होंगे। लेनिन ने राष्ट्रीय लोकतांत्रिक संघर्षों और समाजवादी क्रान्ति के आपसी संबंध को भी भली प्रकार समझा और यह दिखाया कि दमित राष्ट्रों के जन-समूह तो सचेत सर्वहारा के साथी थे। दूसरी ओर, राष्ट्रीयताओं की समस्या के प्रति स्टालिन का समाधान यथार्थवादी तो था किन्तु मार्क्सवादी परम्परा से हट कर था। उसने सोवियत राज्य के अंदर विभिन्न राष्ट्रीयताओं को स्वायत्तता दी। प्रत्येक राष्ट्रीयता राज्य स्तर का विधान बना सकती थी और अपनी भाषा और संस्कृति का विकास कर सकती थी। उन्हें केन्द्र के स्तर पर भी समान दर्जा दिया गया। किन्तु, धीरे-धीरे सभी राष्ट्रीयताओं को सी.पी.एस.यू. ने अपने में मिला लिया। जो भी हो, महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्ग के साथ राष्ट्रीयताओं को भी मान्यता मिली। स्टालिन की 'एक देश में समाजवाद' की नीति का उद्देश्य रूस को विश्व क्रान्ति का अगुआ बनाना था और यह अधिकाधिक रूसी राष्ट्रीय हित के विस्तार को उन्मुक्त कर दिया गया। ज़ार शासनाधीन रूस के नायक राष्ट्रीय हित में दूसरों के साम्यवादी आन्दोलन के नायक बन गए। युद्ध का एक स्वाभाविक परिणाम यह रहा समस्त साम्यवादी देशों की राष्ट्रीय चेतना का उदय। इस प्रकार, एक राष्ट्र की कम्युनिस्ट

पार्टी को दूसरे राष्ट्र की कम्युनिस्ट पार्टी का विरोध राष्ट्रीय हित में करना पड़ा और अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा क्रान्ति के विचार ने दम तोड़ दिया। यूनान, बुल्गारिया और युगोस्लाविया की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच झगड़ा, और पूर्व सोवियत संघ और चीन के बीच मतभेद इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। एशिया में, आधुनिक राष्ट्रवाद और मार्क्सवादी समाजवाद लगभग एक ही समय में आगे आए। अभी हाल में, सोवियत संघ और युगोस्लाविया के टूटने से यह सिद्ध हो गया है कि जातीय, धार्मिक और अन्य पहचानें 'वर्ग निष्ठाओं' की तुलना में अधिक प्रभुत्वशाली हैं। क्रोएशिया में हुआ खून-खराबा, और जॉर्जिया तथा मोल्दाविया में स्थानीय राष्ट्रवादियों और रूस के बीच हुई सशस्त्र झड़पें इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि राष्ट्रीय सवाल अत्यंत गंभीर हैं।

राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद के बीच कुछ ऐसी समानताओं का मिलना संभव है जिन्होंने विशेषकर मार्क्स के साथ विभिन्न देशों में इन दो प्रकार की विचारधाराओं को मिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्मिथ के अनुसार, राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद दोनों ही 'मुक्ति आन्दोलन' हैं। दोनों ही वर्तमान स्थिति को दमनकारी बताते हैं और उसे बदलना चाहते हैं। जहाँ मार्क्सवाद क्रान्ति के जरिये बदलाव चाहता है, वहीं राष्ट्रवाद व्यक्ति को खोई अस्मिता की बहाली चाहता है। जहाँ मार्क्सवाद बूर्जुआ वर्ग को दुश्मन मानता है, वहीं राष्ट्रवाद विदेशी आततायी या औपनिवेशिक शासक को शत्रु समझता है। दोनों को ही आधुनिक राष्ट्र-राज्य में अपने संघर्ष का उचित मैदान दिखाई देता है। दोनों ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जन-आन्दोलनों पर निर्भर करते हैं। उपनिवेश-विरोधी संघर्षों के दौरान, कई देशों में मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद एक हो गए। किन्तु, जहाँ राष्ट्रवाद संस्कृति को प्राथमिकता देता है, वहीं मार्क्सवाद में प्रत्येक परिघटना का कारण आर्थिक होता है। जहाँ मार्क्सवाद किसी भी राष्ट्रीयता की स्थिति में पूँजीवाद में ही अपना शत्रु देखता है, वहीं राष्ट्रवादियों के लिए दुश्मन वे होते हैं जो राष्ट्र की पवित्रता को भंग करते हैं। और अंत में, जहाँ मार्क्स ने अतीत के पार जाने के लिए उसे स्वीकार किया है, वहीं राष्ट्रवाद अतीत से प्रेरणा लेकर उसे वर्तमान से जोड़ता और राष्ट्रीय चरित्र की मौलिक विशेषताओं को बहाल करने का प्रयास करता है।

11.5.4 अविभाज्य-फासीवादी दृष्टिकोण

उन्नीसवीं शताब्दी में, राष्ट्रवाद ने स्वतंत्रता और मुक्ति आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। एक समय में यह एक प्रगतिशील सिद्धान्त था जो फ्रांसीसी क्रान्ति से विरासत में प्राप्त लोकतांत्रिक सार्वभौमिक मूल्यों से अभिन्न रूप में जुड़ा था। किन्तु, 20वीं शताब्दी में, इस राष्ट्रवादी राष्ट्रवाद की जगह अविभाज्य राष्ट्रवाद ने ले ली। इस प्रकार का राष्ट्रवाद मौरिस बारस, चार्ल्स मोरास, आर्थर डी. जॉनिन और एच. एस. चैम्बरलेन आदि के लेखनों में प्रकट हुआ। मुसोलिनी ने अविभाज्य राष्ट्रवाद को व्यावहारिक रूप दिया, जिसे हिटलर और नात्सी जर्मनी ने बड़ी निर्भरता से इस्तेमाल किया। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले मोरास ने किया और अविभाज्य राष्ट्रवाद को 'राष्ट्रीय नीतियों के विशेष पालन, राष्ट्रीय अविभाज्यता अथवा अखंडता के पूर्ण रख-रखाव और राष्ट्रीय शक्ति की निरंतर वृद्धि' की परिभाषा दी। एक सिद्धान्त के रूप में, इस प्रकार के राष्ट्रवाद में इस बात पर जोर था कि व्यक्ति राज्य के लिए जीता है, राज्य की सेवा करता है और

राज्य को महिमामंडित करता है। इसमें राज्य की व्यवस्थित अवधारणा रखी गई, राजनीतिक लोकतंत्र को अस्वीकार किया गया और आक्रामक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की एक अच्छाई के रूप में हिमायत की गई। इसमें राष्ट्र के प्रति पूर्ण निष्ठा का आग्रह था और राष्ट्रीय हित को व्यक्ति और मानवता के हित के भी ऊपर रखने का प्रशंसा भाव था।

‘अविभाज्य राष्ट्रवाद’ का एक प्रारंभिक हिमायती मौरिस बारस था जिसका मानना था कि फ्रांसीसी राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने के लिए क्षेत्रीयतावाद को प्रोत्साहित किया जा सकता है, फ्रांसीसी भाषा से विदेशी शब्द निकालकर उसे शुद्ध किया जा सकता है, और नेपोलियन जैसे फ्रांसीसी सेना नायकों के प्रति श्रद्धा को प्रेरित किया जा सकता है। उसके अनुसार, मनुष्य उन्हीं विचारों को सोचता है जिन्हें उसे एक विशेष प्रजाति अथवा राष्ट्रीयता के सदस्य के नाते सोचना ही चाहिए। रक्त और माटी तो राष्ट्रवाद के जुड़वां आधार हैं और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के निर्धारक तत्व हैं। इन विचारों को एक अन्य फ्रांसीसी चार्ल्स मोरास ने आगे बढ़ाया। उसने एक सच्चे राष्ट्रवादी की यह परिभाषा दी - ‘वह अपने देश को सभी चीजों के ऊपर रखता है; इसलिए वह सभी निलम्बित प्रश्नों को राष्ट्रीय हित के सापेक्ष रखकर उनकी कल्पना करता है, उनसे निपटता है और उनका समाधान करता है।’ बारस की तरह उसने भी यह तर्क दिया कि मृतकों का सम्मान ‘जीवितों में सर्वाधिक सक्रिय’ के रूप में करना चाहिए; उसका यह कहना था कि मृतकों से ही जीवितों को पहल की प्रेरणा मिलती है। उसने न केवल ‘रक्त’ पंथ का सृजन किया बल्कि ‘पवित्र माटी के पंथ’ को भी प्रोत्साहित किया। किन्तु, हेज़ के अनुसार, चार्ल्स मोरास के पूरे लेखन में उसका अविभाज्य राष्ट्रवाद घृणा पैदा करने वाला रहा है। उसने फ्रांसीसियों के भीतर यहूदी, प्रोटेस्टैंट, उदारवादी और साम्यवादी जैसे ‘बाहरी’ प्रभावों के प्रति घृणा का निरंतर उपदेश दिया; जर्मन, अंग्रेज़, अमेरिकी और रूसी आदि विदेशियों के खिलाफ निरंतर सीधे विष-वमन किया। वह सौ प्रतिशत फ्रांसीसी राष्ट्रवाद का पक्षधर था, जो संदेहजनक भी है और प्रभावी भी।

मुसोलिनी और इतालवी फासीवाद में अविभाज्य राष्ट्रवाद को ठोस अभिव्यक्ति मिली। ब्रेनेदेतो क्रोचे, जोवानी जेन्तीले, और विन्सेन्ज़ो ग्लोबेर्ती ने अपने लेखन में राष्ट्रवाद को धीरे-धीरे उदारवाद से अलग कर दिया और उसे एक ‘पवित्र अहंवाद’ के पंथ का रूप दे दिया।

फासीवाद एक ‘विरोधी’ आन्दोलन था - उदारवाद-विरोधी, संसद-विरोधी, यहूदीवाद-विरोधी, साम्यवाद-विरोधी, आंशिक रूप में पूँजीवाद-विरोधी, बूर्जुआ-विरोधी और पुरोहित विरोधी। इन स्थितियों में राष्ट्रवादी भावनाओं के साथ मिटकर सर्व-राष्ट्रवाद को जन्म दिया जिसके चलते विद्यमान राज्यों के लिए चुनौती खड़ी हुई और फासीवादी शासनों की अधिकांश उग्र प्रसारवादी विदेश नीति को आकार मिला। मुसोलिनी के अनुसार फासीवाद की बुनियाद तो राज्य की अवधारणा, इसका चरित्र; इसका दायित्व और लक्ष्य था। जनता का संरक्षक होने के अतिरिक्त राज्य को पूर्ण रूप से जनता की भावना का रक्षक और संप्रेषक भी माना गया। राज्य ही अपने नागरिकों को नागरिक शुचिता की शिक्षा देता है, उन्हें उनके मकसद के प्रति जागरूक करता है और उनमें एकता पैदा करता है। यह मनुष्य को आदिम जनजातीय जीवन से मानवीय सत्ता की उस उच्चतम अभिव्यक्ति

होती है, और इसकी विपरीत स्थिति पतन की निशानी होती है। युद्ध को यहाँ एक अच्छे लक्ष्य के रूप में सराहा गया और युद्ध का उद्देश्य पराजित राष्ट्र का पुनर्वास नहीं बल्कि उसका सर्वनाश माना गया। इस प्रकार, फासीवाद में राष्ट्रवाद पूरी तौर पर पतनशील और उच्छेदनवादी हो गया।

अविभाज्य राष्ट्रवाद से निकट से जुड़ा नस्ल की सर्वोच्चता का सिद्धान्त था। इसके अनुसार, इतिहास को समझने का गुरु मानव नस्लों में पाए जाने वाले स्तर और रुझान के अंतरों में निहित है, और मानव जाति में विभिन्न नस्लें पाई जाती हैं जिनकी पहचान उनकी अलग शारीरिक, भावनात्मक और आत्मिक विशेषताओं से होती हैं। उदाहरणस्वरूप, मानव जाति को तीन प्रमुख नस्लों - श्वेत, पीली और अश्वेत - में विभाजित करते हुए गोबिनो ने श्वेत अथवा आर्य प्रजाति को सर्वोच्च बताया जो स्वभाव से ही 'शासकों' की प्रजाति होती है। एक सिद्धान्त के रूप में, नस्लवाद तो 'भिन्न' के प्रति घृणा की बात करता था और उन्हें राजनीतिक, नागरिक और सामाजिक अधिकार नहीं देने की हिमायत करता था। वैसे तो, उदारवादी राष्ट्रवाद में 'हम' और 'वे' के बीच अंतर किया जाता था, किन्तु अपने फासीवादी रूप में राष्ट्रवाद अपने अतिवादी स्वरूप में आ गया जिसमें 'अन्य' के अस्तित्व को हीन और संभावी शत्रु समझा जाता था। इस विचार में, 'अन्य' अथवा दूसरे के अस्तित्व को भी अपनी जान के प्रति खतरा माना जाता था। इसलिए, 'अन्य' को नष्ट करना ही था ताकि अपने विशिष्ट अस्तित्व की रक्षा हो सके। मित्र और शत्रु समूहों के रूप में होते हैं। उनके बीच का टकराव अनिवार्य रूप में पूर्ण ही होना चाहिए जिसमें शत्रु का विनाश अवश्य होना चाहिए। यह सीमाएँ निर्धारित करने का नहीं बल्कि उन सभी को समाप्त कर देने का मामला था जो भिन्न हैं, चाहे उनके विचार और दृष्टिकोण कुछ भी हों। नस्लवाद के मामले में यही हुआ जब उसे राष्ट्रवाद में शामिल कर लिया गया। उदाहरणस्वरूप, नात्सीवाद ने बृहत्तर जर्मनी के निर्माण की हिमायत की। जर्मन समस्याओं का कारण बताए गए लोगों के संहार को उनकी नस्लीय हीनता के आधार पर उचित ठहराया गया। दूसरे के वजूद को आर्य श्रेष्ठता के प्रति खतरा समझा गया। प्रदूषण अथवा (नस्ल की) मिलावट से किसी भी कीमत पर बचना ही था।

संक्षेप में, फासीवाद और नात्सीवाद दोनों ने ही राष्ट्रवाद को एक मिथक के रूप में इस्तेमाल किया। महत्वपूर्ण बात यह नहीं थी कि कोई विचार सही है या नहीं, बल्कि महत्वपूर्ण बात यह थी कि उस विचार को आम जनता के आगे सही बनाकर पेश किया जा सकता है या नहीं। मुसोलिनी ने राष्ट्र के मिथक की रचना की - 'हमारा मिथक राष्ट्र है, हमारा मिथक राष्ट्र की महानता है, और हम हर वस्तु को इस मिथक इस गौरव के अधीन करते हैं, जिसे हम एक पूर्ण वास्तविकता में बदलना चाहते हैं।' जर्मन राष्ट्रीय समाजवाद ने नस्ल के मिथक का सहारा लिया। 'आज एक नई आस्था का उदय हो रहा है: रक्त का मिथक, और यह विश्वास है कि रक्त से ही मनुष्य के दैवीय मकसद की रक्षा होनी है; यह विश्वास, जो स्पष्टतम ज्ञान पर आधारित है, कि नॉर्डिक रक्त उस रहस्य का प्रतीक है जिसने प्राचीन धार्मिक संस्कारों को हटाकर उनकी जगह ले ली है। यह राष्ट्रवाद का वह रूप था जिसका पोषण प्रेम नहीं घृणा से हुआ था; यह लोगों के मन में विश्वास नहीं भय पैदा करने वाला था। इसने आगे चलकर राष्ट्रवाद के विरोध का ही रूप ले लिया जबकि राष्ट्रवाद के नारों को इसने छोड़ा नहीं। यह एक

राष्ट्रवाद था जो सिद्धान्त रूप में 'एक राष्ट्र' वाले राष्ट्रवाद के अलावा और किसी भी राष्ट्रवाद को सहन नहीं कर सकता था।

11.5.5 उपनिवेश-विरोधी दृष्टिकोण

बीसवीं शताब्दी में, दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में रूसी क्रान्ति फासीवाद का उदय ऐसी दो परिघटनाएँ थी जिनका राष्ट्रवाद के विचारों को यूरोप से एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका जैसी गैर-यूरोपीय जगहों पर फैलाने में महत्वपूर्ण योगदान रहा। सामूहिक रूप में, इन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों को गति दी, जिसके परिणामस्वरूप अनेक देश यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों से मुक्ति पा सके। इस प्रकार के क्रान्तिकारी बदलावों ने एक नए प्रकार के राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चीन, भारत, पाकिस्तान, मिश्र और वियतनाम जैसे नए राष्ट्रों को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ पश्चिमी देशों की परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न थीं। ये वे देश थे जिन्हें इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, और हॉलैण्ड जैसे साम्राज्यवादी देशों ने अपने अधीन किया हुआ था और उनकी अर्थव्यवस्थाओं का दोहन किया था। साम्राज्यवादी देश उन्हें अपनी निजी संपत्ति मानते थे और उन्हें अपनी इच्छा से बेच देते या चुरा लेते थे। उन्होंने इन देशों की स्वाधीनता को नष्ट कर दिया और वहाँ ऐसी कठपुतली सरकारें रख छोड़ीं जो साम्राज्यवाद को कोई भी नुकसान पहुँचाने की स्थिति में नहीं थीं।

भारत, चीन और अरब देशों में एक नए प्रकार के राष्ट्रवाद और अवधारणा के एक नए अर्थ का उदय हुआ था। यद्यपि नए राज्यों की बुनियाद-बनने वाली राष्ट्रवाद की नई अवधारणा की अधिकांश विचारधारा और राजनीतिक सिद्धान्त पश्चिमी देशों से ही निकले थे, फिर भी इसने इस सिद्धान्त को अपने ही ऐतिहासिक अनुभवों, अपनी विशिष्ट परिस्थितियों और साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने ही विद्रोह के परिप्रेक्ष्य में अपनाया। नए राष्ट्रवाद का आधार यह था कि इसकी शुरुआत साम्राज्यवाद के प्रति, उसके प्रतिनिधियों के प्रति, उसके नागरिकों और उससे जुड़े किसी भी व्यक्ति के प्रति घृणा से हुई। यह उन लोगों के प्रति स्वाभाविक घृणा थी जिन्होंने उनकी जमीनों पर जबरन कब्जा कर लिया था, उनकी संपदा का जबरन दोहन किया था, उनकी सरकारों को कुचल दिया था, उनकी जनता को गुलाम बना लिया था और जिन्हें लूट-खसोट और चोरी करने में कोई हिचक नहीं होती थी। इस घृणा की अभिव्यक्ति बॉक्सर विद्रोह में हिंसक रूप में हुई जिसमें हत्या, विनाश और संहार का सहारा लिया गया, और भारत में गांधीजी के नेतृत्व में यही अभिव्यक्ति शांतिपूर्ण और अहिंसक तरीके से हुई। ये राज्य साम्राज्यवाद के प्रति जागरूक हुए और उन्होंने इसके विनाश को अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने उनको भी नष्ट करने की ठान ली जो दूसरे राज्यों को जीतने, दमन करने, लोगों को गुलाम बनाने, स्वतंत्रता छीनने, संपदा का दोहन करने, और नस्ल, क्षेत्र, संप्रदाय तथा वर्ग के आधार पर लोगों को बाँटने जैसी बुराइयों में शामिल थे। इसके साथ ही, राष्ट्रवाद वह रचनात्मक शक्ति थी जो लोगों को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में अपना योगदान करने को प्रेरित कर सकती थी। इस एकता के दो मतलब थे: (i) भौगोलिक हिस्सों की एकता, और (ii) धर्म, वर्ग, जाति और संप्रदाय के तत्वों की अनेकता में एकता। इन राज्यों ने सभी वर्गों, जातियों और समूहों के कल्याण के लिए काम करने का संकल्प लिया क्योंकि

इन सभी ने स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया और योगदान किया था। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से, इन राष्ट्र-राज्यों ने सैनिक ठिकानों, दूसरे राज्यों के मामलों में अनुचित बाहरी हस्तक्षेप, और अलगाववाद का विरोध किया और निगुर्तता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में आस्था जताई।

उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवाद की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि अधिकांश मामलों में इस बात की कोई तुक ही नहीं थी कि राज्य के उदय से पहले राष्ट्र का निर्माण हो। यहाँ राष्ट्रवाद के प्रारंभिक स्वरूप और उसके बाद के स्वरूप में अंतर किया जा सकता है। प्रारंभिक राष्ट्रवाद जहाँ औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध एक आन्दोलन था और उसने स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया, वहीं बाद में उसने एक राजनीतिक प्रवचन का रूप ले लिया जिसका इस्तेमाल नए नेताओं ने उस राष्ट्र के निर्माण के प्रयास में किया जिसमें औपनिवेशिक युग से विरासत में मिले राज्य की वैधता को बनाए रखने की सामर्थ्य थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद, इन औपनिवेशिक राज्यों ने नए राज्यों की स्थापना की, अपनी सीमाएँ खींची, अपनी राजधानियाँ बनाई, और अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप एक केन्द्रीय प्रशासन और राजनीतिक संस्थाओं का गठन किया। इसके परिणामस्वरूप, प्रत्येक उपनिवेश अवामों का समूह हो गया। पुराने राज्य अथवा अपने अंश एक ही सीमा के अंदर आ गए। ये सभी राज्य विभिन्न जातीय समुदायों और जनजातियों की मिली-जुली पच्चीदाकारी थे। इस प्रकार, ऐसे क्षेत्रों में राज्यों की कृत्रिम और आरोपित प्रकृति स्वाधीनता के बाद वहाँ होने वाली अधिकांश परेशानियों का कारण बनी। इन राज्यों की सबसे बड़ी समस्या उनकी क्षण भंगुरता रही। नवनिर्मित राष्ट्र-राज्यों ने पूर्व-राष्ट्रीय संबंधों के स्थान पर राष्ट्रीय अस्मिता और निष्ठा की भावना को स्थापित करने के लिए संघर्ष की शुरुआत की। किन्तु, अनेक मामलों में, आजादी के उत्सव से बना खुशी का माहौल जल्दी ही बदरंग हो गया। इसका कारण नए राज्यों की यह कमजोरी रही कि वे आर्थिक पिछड़ेपन को समाप्त नहीं कर पाए और उस आबादी से एक सुव्यवस्थित नागरिक समाज की रचना नहीं कर पाए जो स्वयं में उतना ही बहुरूपीय होता जितना राज्य के संदर्भ में। उनमें से कई राज्य जनता के दावों को पूरा नहीं कर पाए तो अमेरिका या रूस की ओर चले गए। किन्तु इसका अर्थ था पराधीन होना।

फिर, स्वाधीनता ने उभरते राज्य राष्ट्रवादों के अंदर जातीय राष्ट्रवाद को मुक्त भी किया, और कुछ मामलों - जैसे भारत, पाकिस्तान, मलेशिया, इंडोनेशिया, नाईजीरिया आदि - में उपनिवेश-विरोधी और राष्ट्रवाद के लिए खतरा पैदा हो गया जिसका उद्देश्य राज्य का संरक्षण और औपनिवेशिक शासकों को हटाना था। जहाँ मुसलमानों ने एक अलग राष्ट्र राज्य की माँग करके भारतीय राज्य की अखंडता के लिए चुनौती खड़ी कर दी वहीं जाति, वर्ग, जातीय मूल, धर्म और भाषा के आधार पर अस्मिता की अलग सतहों का निर्माण हो गया जिससे विरासत में मिले मनमाने ढंग से बने राज्य में से एक अनन्य राष्ट्र के निर्माण की जटिलताएँ और भी बढ़ गईं। स्वाधीनता के बाद, राष्ट्रीयता को बचाने में भारी समस्याएँ आईं। सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन ने गांधी, नेहरू, सुकावर्ण और नासिर जैसे कुछ नेताओं को पैगम्बर मुक्तिदाताओं की श्रेणी में ला खड़ा किया। फिर भी, पश्चिमी शिक्षित कुलीनों और अधिकतर निरक्षर जनसमूह के बीच की खाई स्वाधीनता के बाद और भी चौड़ी हो गई। उनमें से अधिकांश ने राज्य के ढाँचे को नहीं बदला और उपनिवेशियों के विशेषाधिकारों को बनाए रखा। उनकी सरकारों की भंगुरता

के कारण शत्रुता की स्थिति बढ़ गई और स्थापित राज्यों के भीतर ही जातीय अल्पसंख्यकों की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन खड़े हो गए। स्वाधीनता के बाद सूडान, ज़ाइर, चाड, नाइजीरिया, केन्या, घाना और श्रीलंका में गृहयुद्ध हुए और पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में दरार पैदा हो गई।

राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों के सामने सबसे बड़ा काम था राज्य को वैधता देने के लिए एक राष्ट्र का निर्माण करना। किन्तु, उनका समाज क्योंकि बहुरूपीय है इसलिए टकराव से बचा नहीं जा सकता, और इसके दो स्रोत हैं: i) औपनिवेशिक शासकों से विरासत में प्राप्त और अत्यधिक मनमाने ढंग से बने राज्यों में शामिल जातीय समूहों के बीच उठते मतभेद, और ii) गरीबी की स्थितियों में रह रहे बेशुमार लोगों और मुट्ठी भर अमीर कुलीनों के बीच चौड़ी खाई। पहले मामले में, राष्ट्रवाद का इस्तेमाल पुरानी शत्रुता और विवादों को झड़काने के लिए हथियार के रूप में किया जाता है, और दूसरे मामले में इसका इस्तेमाल राष्ट्र की वैकल्पिक छवि को बढ़ावा देने अथवा तमाम परेशानियों के लिए पश्चिम को दोष देने के लिए किया जा सकता है।

11.6 राज्य रहित राष्ट्र और राष्ट्र रहित राज्य

एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में, राष्ट्रवाद यह कहता है कि राष्ट्र और राज्य में संगति होनी चाहिए। जब राष्ट्र और राज्य में सह-विस्तार होता है तो फिर इस शब्द का बहुत कम प्रयोग होता है। यह मान कर चला जाता है कि सभी पार्टियाँ और गुट-राष्ट्रवादी हैं क्योंकि जिस राष्ट्र का वे प्रतिनिधित्व करते हैं वह पहले ही राज्य का रूप ले चुका होता है। यहाँ राष्ट्रवाद एक एकताकारी कारक के रूप में काम करता है। फिर भी, दुनिया में ऐसे कितने ही राष्ट्र हैं जो बिना राज्य के हैं और ऐसे राज्य भी हैं और रहे हैं जो बिना राष्ट्र के हैं। राष्ट्र को सही ढंग से समझने के लिए, यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि इन राज्यों में राष्ट्रवादी प्रवचन किये प्रकार मुखरित किया जाता है।

राज्य रहित राष्ट्रों में राष्ट्रवाद एक अलग ही राजनीतिक परिदृश्य उपस्थित करता है जो उन राष्ट्र-राज्यों के विशिष्ट चरित्र पर निर्भर करता है जिनमें इस तरह के राष्ट्र आते हैं। ऐसी कम से कम चार स्थितियाँ स्पष्ट हैं:

- एक राष्ट्र राज्य अपने अल्पसंख्यकों की 'सांस्कृतिक भिन्नताओं' का संज्ञान ले सकता है, और इसमें वह उनकी अपनी संस्कृति के पोषण और प्रोन्नयन और सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं के कुछ गहरे जमे तत्वों के अनुरक्षण से अधिक की अनुमति भी नहीं देता। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि स्कॉटलैण्ड और वेल्स दोनों ब्रिटेन के अंदर समान भागीदार हैं, फिर भी उन्हें अपनी घरेलू समस्याओं को सुलझाने के लिए लंदन जाना पड़ता है।
- राज्य के भीतर कुछ स्वायत्तता एक और विकल्प है जैसा कि फ्रांस की तानाशाही के बाद स्पेन में बनी स्वायत्त समुदाय व्यवस्था के अंदर बॉस्क और कैटलोनिया में है।
- एक राष्ट्र को एक परिसंघ के भीतर एकीकृत किया जा सकता है, जिसमें राज्य विहीन राष्ट्रों के लिए अत्यधिक आत्म-निर्णय की गुंजाइश होती है। उदाहरणस्वरूप,

कनाडा की राजनीतिक व्यवस्था में क्यूबेक व्यापक राजनीतिक अधिकारों से लाभ हुआ है जिससे यह वास्तव में स्वाधीन हुए बिना अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के बारे में निर्णय कर सकता है।

- कुछ ऐसे राष्ट्र भी हैं जिन्हें उस राज्य की बिल्कुल भी मान्यता प्राप्त नहीं है जिसमें वे आते हैं। ऐसे मामलों में, राज्य अपने भौगोलिक क्षेत्र के भीतर मतभेदों को समाप्त करने के लिए नीतियाँ बनाने में स्वयं को ही लगाता है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के सैनिक नियंत्रण के रूप में हिंसा भी एक विकल्प है। इस्रायल में रह रहे फिलिस्तीनी और चीन में रह रहे तिब्बती इस स्थिति के स्पष्ट उदाहरण हैं।

दूसरी ओर, 'राष्ट्र विहीन राज्य' अथवा 'राज्य-राष्ट्र' जैसे मुहावरों का इस्तेमाल ऐसी स्थिति के लिए होता है जिसमें राज्य का निर्माण मनमाने ढंग से कर लिया जाता है और इसकी सीमाओं में रहने वाले समूहों की सांस्कृतिक और भाषायी पहचानों को भी अनदेखा कर दिया जाता है। एक राज्य-राष्ट्र में एक ऐसे राज्य उपकरण का निर्माण शामिल है जो अपने राज्य-क्षेत्र के भीतर हिंसा के साधन के वैध प्रयोग पर नियंत्रण रखता है, आंतरिक और बाह्य संप्रभुता बनाता है, और अपनी प्रस्थिति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करता है। राष्ट्र-रहित राज्यों की धारणा को एशिया और अफ्रीका के पूर्व औपनिवेशिक देशों के मामले में लागू किया जाता है जहाँ अधिकांश मामलों में इस बात का कोई अर्थ नहीं है कि राज्य के उदय से पहले राष्ट्र का निर्माण हुआ। यहाँ औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संचालित आन्दोलन तथा स्वाधीनता संघर्ष में लगे राष्ट्रवाद के प्रारंभिक स्वरूप और उस नए राष्ट्रवाद में अंतर किया जा सकता है जिसका उपयोग एक राजनीतिक प्रवचन के रूप में नए नेताओं ने औपनिवेशिक मालिकों से विरासत में प्राप्त राज्य की वैधता को बनाए रखने में संक्षम राष्ट्र के निर्माण के लिए किया। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, स्वाधीनता बाद की एक प्रमुख समस्या 'राष्ट्र निर्माण' की अर्थात् पूर्व-राष्ट्रीय जातीय, जनजातीय निष्ठाओं को राष्ट्रीय अस्मिता की भावना में बदलने की रही है। यहाँ राष्ट्र और आधुनिकता के बीच द्विभाजन के परिणामस्वरूप राज्य में मिलाए गए विविध समूहों के बीच दूरियाँ बढ़ीं। इन राज्यों के आर्थिक पिछड़ेपन और बहुसंख्यक प्रकृति के कारण इन्हें विविध जातीय समूहों और जनजातियों को एक राष्ट्रीय ढाँचे में एकीकृत करने में सफलता नहीं मिली। इस तरह, राज्य का अस्तित्व तो है किन्तु वह एक एकीकृत राष्ट्र-राज्य की स्थिति तक अभी भी नहीं पहुँचा है।

11.7 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रवाद का भविष्य

एक महत्वपूर्ण प्रश्न जो अभी तक अनुत्तरित है वह यह है कि राष्ट्रवाद और भूमण्डलीकरण की मौजूदा लहर में क्या अंतर है? अर्थात् i) क्या भूमण्डलीकरण राष्ट्रवाद के लिए खतरा है, अथवा ii) क्या भूमण्डलीकरण एक नई भूमण्डलीय पहचान बना रहा है, अथवा iii) क्या इसने साझा पारंपरिक संस्कृतियों को मज़बूत करने के रूप में पलटी मारने की शुरुआत कर दी है?

आज एक भूमण्डलीय संस्कृति विद्यमान है जिसके पाँच स्पष्ट आयाम हैं। यह हैं: i) 'एथनोस्कोस' (ethnoscapes) जिसका अर्थ होता है विश्व के देशों में प्रवासियों, अतिथियों कामगारों, निर्वासितों और शरणार्थियों आदि का निरंतर आवागमन, ii) 'टेक्नोस्केप्स' (technoscapes) जिसका अर्थ होता है बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की बनाई मशीनरी का आदान-प्रदान, iii) 'फाइनेंस स्केप' (finance scapes), जिसका अर्थ है दुनिया भर के बाज़ारों और शेयर बाज़ारों में धन का तीव्र प्रवाह, iv) 'आइडियोस्केप्स (Ideoscapes)', जिसका अर्थ होता है राज्य और राजनीतिक विचारधाराओं से जुड़ी लोकतंत्र, स्वतंत्रता, कल्याण और अधिकार जैसी दुनिया का प्रवाह, और v) 'मीडियास्केप्स (mediascapes)' जिसका अर्थ है अखबारों, छवियों तथा पत्रिकाओं, टेलीविज़न और फिल्म आदि के माध्यम से सूचना का प्रवाह। भूमण्डलीय संस्कृति की गहनता और तीव्रता विश्व को एक ऐसी अनूठी जगह में बदलने का प्रयास कर रही है जहाँ सांस्कृतिक एकीकरण और विखंडन की प्रक्रियाएँ चलती हैं। यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या हम एक साझा संस्कृति की ओर बढ़ रहे हैं अथवा भूमण्डलीकरण क्या एक विशेष संस्कृति को मज़बूत करेगा। गीबटनो के अनुसार, यद्यपि भूमण्डलीकरण के कारण संस्कृतियाँ एक-दूसरे को काटती हैं और एक दूसरे से मिलती हैं, फिर भी हम एक ऐसी प्रक्रिया को देख रहे हैं जिसमें केवल कुछ ही संस्कृतियों को 'भूमण्डलीय संस्कृति' की श्रेणी तक ले जाया जा सकता है जबकि अधिकांश संस्कृतियाँ अपने आपको अपने आत्म-निर्णय के अधिकार के लिए एक भूमण्डलीय पहचान की दो कमजोरियाँ हैं: i) एक समय आने पर उसमें निरंतरता नहीं रह जाती, अर्थात् एकजुटता की भावना को जगाने के लिए कोई साझा अतीत नहीं है, और ii) दूसरों से कोई अंतर नहीं होता (जैसा कि राष्ट्रीय संस्कृति के मामले में है)। भूमण्डलीय संस्कृति के लिए सभी अवामों में सामुदायिकता का बोध पैदा करना आवश्यक है, और यह एक 'भूमण्डलीय' भाषा के अभाव में संभव नहीं है। राष्ट्रवाद की अपार सफलता का स्रोत सामाजिक और राजनीतिक रूप में अलग-अलग जन-समूहों को आकर्षित और लामबंद करने की उसकी क्षमता है। भूमण्डलीय पहचान की अवधारणा इस प्रकार की क्षमता प्राप्त करने से बहुत अलग है और वह राष्ट्रीय अस्मिता की प्रबल भावना का सरल विकल्प है। दूसरी ओर, जातीयता का वर्तमान पुनरुत्थान अस्मिता की आवश्यकता के अनुरूप तो है किन्तु यह स्थानीय किस्म की अस्मिता है। आधुनिक समाजों के केन्द्र में संपर्कों की तीव्र-वृद्धि और सूचना का निरंतर प्रवाह हैं, और ये दोनों ही विशिष्ट संस्कृतियों की एकरूपता को नष्ट करने वाले हैं। भूमण्डलीकरण सर्वत्र व्याप्त है और इसके परिणामों से कोई नहीं बच सकता। लेमूची के अनुसार, जटिल समाजों में जो अत्यधिक भिन्नता वाले संबंध होते हैं वे ऐसी सदस्यता और पहचान देने में असमर्थ होते हैं जिनसे व्यक्ति की आत्म-सिद्धि, परस्पर संवाद और मान्यता की जरूरत पूरी हो सके। इस संदर्भ में, राष्ट्रवाद भूमण्डलीकरण से जुड़े आधुनिकता के दो आंतरिक घटकों - आमूल संदेह और विखंडन - की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आता है। आधुनिकता और भिन्न संस्कृतियों की विपरीत प्रवृत्तियों की स्थिति में, हम उस स्थिति पर जा पहुँचे हैं जहाँ कुछ भी मानकर नहीं चला जा सकता। इस प्रकार, संदेह और विखंडन की दुनिया में परम्परा को नया महत्व प्राप्त हो जाता है। राष्ट्रवाद परम्परा पर इस मायने में अत्यधिक निर्भर करता है कि इसकी केन्द्रीय विशेषताओं के रूप में इसकी साझा स्मृतियाँ होती हैं। राष्ट्रवाद में सांस्कृतिक प्रतिरोध निहित होता है और यह 'अस्मिता संबंधी राजनीति' अर्थात् जातीयता पर आधारित सांस्कृतिक भिन्नता के दावे को पुष्ट करने के जरिये आधुनिक समाजों

को चुनौती देता है। यह बात राज्य विहीन राष्ट्रों के मामले में विशेष रूप से प्रासंगिक है। अस्मिता की राजनीति में एक प्रगतिशील तत्व भी मिलता है क्योंकि यह भिन्न और अशक्त के पक्ष में खड़ी होती है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रवाद का भविष्य उज्ज्वल है। भूमण्डलीकरण और भूमण्डलीय संस्कृति की खोज के बावजूद विश्व के अनेक हिस्सों में आत्म-निर्णय के अधिकार के लिए इस समय जो संघर्षों का प्रसार हो रहा है उससे यह संकेत मिलता है कि राष्ट्र-राज्यों की लोकतांत्रिक प्रकृति और उनमें अल्पसंख्यकों को पर्याप्त स्वायत्तता देने से भी समस्या का समाधान नहीं हुआ है और राष्ट्रवाद की परिभाषा में बल-प्रयोग आज भी निर्णायक बना हुआ है। एक जन-आन्दोलन के रूप में राष्ट्रवाद ने बड़ी-बड़ी सेनाएँ जुटाने और युद्ध छेड़ने की दिशा में एक निर्णायक भूमिका अदा की है। आज के दौर में, राष्ट्रवाद बहुत बड़े तबकों को आकर्षित कर रहा है और एक ऐसा गतिशील अभिकरण बना हुआ है जो हिंसा पर निर्भर करने के साथ-साथ जनता की शांतिपूर्ण लामबंदी को बढ़ावा भी देता है। बाल्टिक गणतंत्र में स्वाधीनता की माँग और पूर्व सोवियत संघ का टूटना राष्ट्रवाद की शक्ति के उदाहरण हैं।

भूमण्डलीकरण के संदर्भ में, प्रभुसत्ता देने की अनिच्छा और घरेलू मामलों में नियंत्रण न रहने से राष्ट्र-राज्यों के राजनीतिक प्रवचन में राष्ट्रवाद की उपस्थिति बढ़ेगी। यहाँ अंतर्विरोधी शक्तियों की वृद्धि देखी जा सकती है: एक ओर, अन्तर्राष्ट्रीय मंचों और संस्थाओं में भागीदारी करना और विश्व समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ समान नीतियों की स्थापना की तलाश करना, और दूसरी ओर राष्ट्र-राज्य के हितों की रक्षा करना। उदाहरणस्वरूप, यूरोपीय संघ ने राष्ट्र-राज्य की अखंडता और अस्मिता के संरक्षण को कम नहीं किया है। इस बात की संभावना है कि यूरोपीय संघ एक नए प्रकार के राष्ट्रवाद का विकास करेगा। यह स्थानीय पहचान को समाप्त नहीं करेगा, किन्तु जब भी संघ को एक साझा शत्रु से लड़ने अथवा अपनी संपत्ति की सुरक्षा करने के लिए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में साझा कार्रवाई की जरूरत होगी तब इस प्रकार के राष्ट्रवाद का प्रयोग किया जाएगा। उसे महा-राष्ट्रवाद कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ शोचनीय मुद्दे ये होंगे कि एक विशिष्ट यूरोपीय अस्मिता का निर्माण कैसे किया जाए और किस समूह को 'बाहरी' माना जाए।

आज का राष्ट्रवाद आधुनिकता की सेवा में परम्परा का इस्तेमाल करता है। तुरेन के अनुसार, राष्ट्र एक 'गैर-आधुनिक कारक है जो आधुनिकता का सृजन करता है।' संदेह और विखंडन तो आधुनिकता में प्रमुख हैं क्योंकि वे अप्रत्याशित होते हैं। ज्ञान की एक आधिकारिक पद्धति के अभाव में एक विशेष प्रकार का विखंडन परिलक्षित होता है जो हमारे समय में विद्यमान विखंडन से भिन्न है। परम्परा की ओर वापसी उस संदर्भ में निरंतरता के महत्व पर जोर देती है जहाँ एक सामाजिक, राजनीतिक और प्रौद्योगिक परिवेशों के प्रति सामंजस्य और निरंतर बदलाव मिलकर व्यक्तियों के दैनिक जीवन का निर्धारण करते हैं। राष्ट्र की अवधारणा की जड़ें पूर्व-आधुनिक काल में हैं और एक अवधि में जाकर हुए समुदाय के विकास के परिणामों के रूप में यहाँ शामिल रहेगी कि यह

लगातार साकार होती रहेगी। आधुनिकता के कारण आए नए तत्वों को जीवन के पारंपरिक स्वरूपों में शामिल और मिश्रित किया जाएगा।

भूमण्डलीकरण उन व्यक्तियों में पहचान की माँग को उठाता है जो यह मानते हैं कि जो विचार, विश्वास, मूल्य और ज्ञान अपनी पूर्णता में उनके जीवन का साझा आधार हैं उन्हें अधिक संसाधन सम्पन्न बाहरी संस्कृतियों के प्रसार से खतरा है। अनेक मामलों में, राष्ट्रवाद तो प्रगतिशील एकरूपीकरण की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्म लेता है और अस्मिता की राजनीति की रक्षा के लिए होने वाले संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि, भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया तेज हो रही है, फिर भी ऐसी कोई भूमण्डलीय पहचान नहीं है जो एक अन्यथा विविध मानव समूह की आवश्यकताओं को पूरा करने के अनुकूल होगी। इस प्रकार, राष्ट्रवाद तो भूमण्डलीकरण की लहर के बाद भी जीवित रहेगा।

11.8 सारांश

राष्ट्रवाद पर उपर्युक्त चर्चा को हम संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं:

- राष्ट्रवाद एक भावना है जिसका संबंध एक मातृभूमि, एक साझा भाषा, आदर्शों, मूल्यों और परम्पराओं से है। यहाँ एक समूह ध्वज, गीत आदि जैसे प्रतीकों के साथ अपनी पहचान जोड़ता है, जो इसे दूसरों से 'भिन्न' बनाते हैं। यह जुड़ाव एक पहचान बनाता है और इस पहचान के प्रति आकर्षण का एक अतीत और लोगों को लामबंद करने की ताकत होती है।
- राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को इस प्रकार के प्रश्नों से निपटना होता है: राष्ट्रवाद एक राज्य के निर्माण के प्रयास में हिंसा के प्रयोग को किस प्रकार जायज़ ठहराता है, राष्ट्रीय विचारधारा की क्या भूमिका होती है, राष्ट्रीय आन्दोलनों में नेताओं की क्या भूमिका होती है, और वे प्रतीकों तथा आदर्शों के प्रचार में कहा तक योगदान कर सकते हैं?
- राष्ट्रवाद की एक अत्यधिक महत्वपूर्ण विशेषता विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तरों के लोगों को एकजुट करने की क्षमता है। यह शासक वर्ग की ईजाद है जिसके जरिये वे आम जनता की बिना शर्त निष्ठा को बनाए रखते हैं और उनमें यह विश्वास बनाए रखते हैं कि उनके बीच समानता अधिक है और विषमता कम। राष्ट्रवाद क्यों बना हुआ है यह समझने के लिए यह एक बुनियादी कारक है।
- राष्ट्रवाद का उदय अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्तियों के बाद हुआ। प्रारंभिक उदारवादी लेखकों ने राष्ट्रवाद के मानवीय पहलू पर जोर देते हुए राष्ट्रवाद के साझा भाषा, साहित्य, धर्म, परम्परा, आदत, प्रतीक जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं को भी प्रमुखता दी। औद्योगिक क्रान्ति के परिपक्व होने के साथ, मानवतावादी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवादी-प्रसारवादी राष्ट्रवाद का रूप ले लिया। मार्क्सवाद ने राष्ट्रवाद को ऐतिहासिक भौतिकवाद के परिप्रेक्ष्य में लिया और इसे बूर्जुआ पूँजीवाद का नाम दिया। 20वीं शताब्दी के दौरान, फासीवाद ने राष्ट्रवाद को नस्लीय सर्वोच्चता और अन्तार्थ प्रजातियों के संहार के साथ जोड़ दिया। एशिया और अफ्रीका के पूर्व-औपनिवेशिक

देशों ने राष्ट्रवाद को अपने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों में एक प्रभावी हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। जहाँ राष्ट्रवाद का लाभकारी पक्ष प्रशंसनीय है, वहीं फासीवाद के रूप में इसका चरित्र धिनौना भी है।

11.8 बोध प्रश्न

1. राष्ट्रवाद की अवधारणा की व्याख्या करते हुए राष्ट्रवाद और राजा, राष्ट्र तथा राष्ट्र-राज्य में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. राष्ट्रवाद के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या कीजिए।
3. वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में राष्ट्र और राज्य की विवेचना कीजिए।
4. भूमण्डलीकरण की वर्तमान लहर के संदर्भ में राष्ट्रीयवाद का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 12 राष्ट्रवाद के स्वरूप

संरचना

12.1 प्रस्तावना

12.2 राष्ट्र और राष्ट्रवाद

12.2.1 राष्ट्रवाद की प्राचीन और आधुनिक अवधारणा

12.2.2 राष्ट्र की विशेषताएँ

12.3 राष्ट्रवाद: ऐतिहासिक स्वरूप

12.3.1 यूरोपीय राष्ट्रवाद

12.3.2 गैर-यूरोपीय राष्ट्रवाद

12.3.3 अंतर के रूप में राष्ट्रवाद

12.4 विभिन्न राष्ट्रवाद: नागरिक और जातीय

12.5 सारांश

12.6 बोध प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद ऐसी सर्वाधिक प्रभावी ऐतिहासिक शक्ति रही है जिसने व्यक्तियों की आत्म-परिभाषा को आकार दिया है। इस जटिल परिघटना ने ऐतिहासिक अनुभवों अथवा संप्रत्ययीकरण की सार्वभौमिकता के अर्थों में एकरूपता को धता भी बताया है। किन्तु, राष्ट्रवाद के विभिन्न स्वरूप हैं; और इस विभिन्नता का कारण किसी देश विशेष की विशिष्ट सामाजिक संरचना और विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियाँ होती हैं। इस इकाई में, हम राष्ट्रवाद के उन स्वरूपों की चर्चा करेंगे जिनका उदय विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भों में हुआ है; उन सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों की पहचान करेंगे जिनके भीतर विशिष्ट स्वरूपों का उदय हुआ है; और उस व्यापक ढाँचे की व्याख्या करेंगे जिसके भीतर राष्ट्रवादों को समझा और समझाया जा सकता है।

12.2 राष्ट्र और राष्ट्रवाद

आप पिछली इकाई में यह पढ़ चुके हैं कि राष्ट्रवाद को सामान्यता एक एकीकृत सत्ता के रूप में 'एक अवाम' की आत्म-परिभाषा और आत्म-चेतना के तौर पर समझा जाता है। इसका सरोकार इन बातों से है कि लोग स्वयं को किस प्रकार देखते हैं अथवा एक (उदाहरणस्वरूप, एक जातीय समुदाय) के रूप में पहचानते हैं और इस एकत्व का सटीक उद्देश्य क्या है (उदाहरणस्वरूप, आत्म-निर्णय)। लोगों के बीच अंतरसंबंधों अथवा एकजुटता की अगिव्यक्ति और इस एकजुटता की दूरारों की दृष्टि में गान्धता भी राष्ट्रवाद का अभिन्न तत्व है। इस एकजुटता की परिकल्पना करने और उसे व्यक्त करने के विभिन्न

तरीके होते हैं। राष्ट्रवाद के विद्वान जहाँ इस बात पर एक राय नहीं हैं कि लोगों को सामाजिक एकजुटता के रूप में क्या चीज़ बाँधती है (जैसे, उनका जातीय मूल अथवा आत्म-निर्णय के प्रति उनकी इच्छा), वहीं कुल मिलाकर वे इस बात पर सहमत हैं कि राष्ट्रवाद में ये तत्व शामिल हैं: (क) राष्ट्र के सदस्यों के बीच किसी स्तर का एकीकरण, (ख) पूर्ण (राष्ट्र) अथवा सामूहिक पहचान का विचार, और (ग) पूर्ण (राष्ट्र) की सदस्यता की प्रकृति की कुछ अंश तक समझ और वैसी ही अन्य पूर्ण सत्ताओं (राष्ट्रों) के साथ उसका संबंध।

दूसरे शब्दों में, राष्ट्रवाद में एक अवाम की यह आत्म-परिभाषा की जाती है कि वे एक राष्ट्र के अंग हैं और यह चेतना कि राष्ट्र के रूप में इनमें ऐसा कुछ है जो उन्हें अन्य राष्ट्रों से भिन्न बनाता है, और यह भी कि एक बड़ा अनिवार्य तत्व भी है जहाँ से राष्ट्र की आत्म-परिभाषा निकलती है। सामाजिक एकजुटता, सामूहिक पहचान और व्यक्तिगतता का बोध तथा पूर्ण (राष्ट्र) के साथ उसका संबंध ऐसे अनिवार्य तत्व हैं जिसके रहते हुए एक अवाम अपने आपको राष्ट्र कह सकता है और उस रूप में मान्यता प्राप्त कर

सकता है; किन्तु किस प्रकार सामाजिक एकजुटता बनता = $\frac{300}{400} = \text{Rs. } 75/-^{\circ}$ है और एक सामूहिक पहचान और राजनीतिक वैधता के सवाल आपस में जुड़े हैं, उनकी राष्ट्रवादी आत्म-समझ के बनने और दूसरों के राष्ट्रवादी दावों को मान्यता मिलने के संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका है। यहीं आकर ब्रेनेडिक्ट ऐंडरसन की राष्ट्रों की 'कल्पित समुदायों के रूप में' व्याख्या सहायक होती है जिसके जरिये राष्ट्रवाद और इसके स्वरूपों को समझा जा सकता है। ऐंडरसन कहते हैं कि आमने-सामने के संपर्क वाले आद्य गाँवों से बड़े सभी समुदाय और शायद ये स्वयं भी कल्पित हैं (ब्रेनेडिक्ट ऐंडरसन *इमेंजिन्ड कम्युनिटीज़ : रिफ्लेक्शन्स ऑन दि आरिजन एण्ड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज़्म*, वेर्सा, लन्दन, 1983, 1991)। इस प्रकार, समुदायों, और राष्ट्रों की पहचान और तुलना का आधार यह नहीं होता है कि वे झूठे हैं या वास्तविक, अथवा प्राकृतिक है या वास्तविक या कल्पित, किन्तु इसका आधार वह शैली या ढंग होता है जिसमें उनकी कल्पना की जाती है। समुदायों की पहचान के विभिन्न तरीके हो सकते हैं, जैसे उनका स्तर, प्रशासनिक संगठन की सीमा, आंतरिक समानता की मात्रा, इत्यादि। किन्तु, राष्ट्रवाद से जुड़ी सामाजिक एकजुटता और सामूहिक पहचान की कल्पना करने के विशिष्ट स्वरूप का ही इस इकाई में हम मुख्य रूप में विवेचन करेंगे।

ऐतिहासिक स्थितियों और संदर्भों के अनुसार राष्ट्रवादों की विषयवस्तु और स्वरूप भी बदलता रहा है। एंटनी डी. स्मिथ ने राष्ट्रवाद की यह परिभाषा दी है: 'यह उस समूह की ओर से स्व-शासन की प्राप्ति और अनुरक्षण के लिए चलाया गया वैचारिक आन्दोलन है जिसके कुछ सदस्य दूसरों की तरफ एक वास्तविक अथवा संभावी राष्ट्र बनाने के लिए इसकी अवधारणा करते हैं' (एंटनी डी. स्मिथ की परिभाषा में राष्ट्रवादी की केन्द्रीय विषयवस्तु को पकड़ने की कोशिश की गई है, जिसे वह 'स्वाधीनता का आदर्श' कहता है। 'राष्ट्रीय' स्वाधीनता की प्राप्ति और अनुरक्षण के ऐसे प्रयासों के तर्कसंगत सहायक तत्व ये हो सकते हैं:

1. सह-राष्ट्रवासियों अथवा नागरिकों को एक एकरूपीय इकाई में समाहित करके उनमें बंधुत्व और समानता पैदा करना।
2. अतिरिक्त देशीय सह-राष्ट्रवासियों का एक ही राष्ट्र-राज्य में एकीकरण।
3. 'राष्ट्रीय' भिन्नता पर जोर देकर सांस्कृतिक व्यक्तिगतता को जोरदार ढंग से व्यक्त करना।
4. आत्म-निर्भर विकास और आर्थिक आत्म-निर्भरता के लिए अभियान।
5. अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति और प्रस्थिति बनाए रखने के लिए राष्ट्र राज्य का प्रसार।
6. अन्तर्राष्ट्रीय समता बनाए रखने के लिए व्यापक संस्थागत परिवर्तनों के माध्यम से राष्ट्र के सांस्कृतिक और सामाजिक ताने-बाने को नया रूप देना।

जहाँ आधुनिक राष्ट्रवादियों के लेखन में अनेक प्रकार के सरोकार व्यक्त होते हैं, वहीं राष्ट्रवादी आन्दोलन अपने लक्ष्यों का चुनाव परिस्थितियों के आधार पर इन सहायक तत्वों में से करता है। इस प्रकार, सामुदायिक बंधुत्व का आदर्श, लोक संप्रभुता की इच्छा, सामुदायिक पुनर्निर्माण और आत्म-सहायता की आवश्यकता, आत्म-शुद्धि के माध्यम से अपनी अस्मिता पाने की धारणा, छुड़ड़ों की तलाश, जुड़ाव की आवश्यकता, मानव गरिमा का एक नया बोध जिसे केवल एक राष्ट्रीय राज्य में साकार किया जा सकता है, भागीदारी और छुनव मानवद्व के निर्माण के आदर्श, प्रत्येक राष्ट्र के पास अपनी आत्म-अभिव्यक्ति के लिए एक राज्य होने की आवश्यकता का विचार, प्रत्येक व्यक्ति की आत्म-सिद्धि के लिए अपने आपको राष्ट्र-राज्य से जोड़ने की ज़रूरत, सामुदायिक स्वर्णिम युग की ओर वापसी, छुप्राकृतिक मनुष्यद्व तथा प्रकृति के साथ पहचान आदि बार-बार आने वाले विषय हैं। इन आदर्शों और आकांक्षाओं में स्थित तीन निर्णायक धारणाओं की पहचान करते हैं, जो आधुनिक राष्ट्रवाद की अनिवार्य शर्तें हैं। ये हैं: (सामूहिक) स्वायत्तता, व्यक्तिगतता, और बहुलता के विचार जिनसे मिलकर आधुनिक 'स्वाधीनता का आदर्श' बनता है। व्यक्ति की स्वायत्तता का सिद्धान्त कांट के साथ जुड़ा है। अपने सामूहिक स्वरूप में, इसका श्रेय यद्यपि रूसों और फिख्ते को जाता है। अपनी सामुदायिक व्यक्तिगतता के कारण, समूह को अपनी आवश्यकताओं और छुचरित्रद्व के अनुसार अपने नियम बनाने और अपनी संस्थाएँ स्थापित करने के लिए बाहरी हस्तक्षेप और आंतरिक विभाजन से मुक्त होना चाहिए। समूह आत्म-निर्णायक होता है, क्योंकि इसी व्यक्तिगतता इसे विशिष्ट कानून देती है। केवल समुदाय के सभी गतिशीलता साथ-साथ काम करके समुदाय के लिए कानून बना सकते हैं; कोई भी तबका, कोई भी व्यक्ति, और कोई भी बाहरी तत्व विधान नहीं दे सकता।

12.2.1 राष्ट्रवाद की प्राचीन और आधुनिक अवधारणा

राष्ट्रवाद के विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूपों की विवेचना करने से पहले यह बताना महत्वपूर्ण होगा कि राष्ट्रवादों ने जिस तरह से 'स्वायत्तशासी सामूहिकता' अथवा राष्ट्र के बारे में सोचा है उसमें भिन्नताएँ होने के बावजूद राष्ट्र की आधुनिक समझ प्रारंभिक चरणों की समझ से अत्यंत भिन्न है। प्राचीन रोम में, लैटिन शब्द 'natio' अर्थात् 'बाहरी लोगों का एक समूह' का मतलब विदेशियों के समुदायों से होता था जो रोम में परदेसियों या अजनबियों की तरह रहते थे और उन्हें रोमन नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं था।

इसके अतिरिक्त, 'नेशन' (राष्ट्र) अपमानसूचक होता था क्योंकि 'नेशनल' की हैसियत रोमन से नीचे ही होती थी। 'विदेशियों का समुदाय' अर्थ में प्रयुक्त इस शब्द का इस्तेमाल मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों के छात्रों के समुदायों के लिए होता था। ये छात्र उस स्थान से बहुत कम होते थे जहाँ विश्वविद्यालय स्थित होता था, और अपने प्राध्यापकों के साथ उन्हें कुछ बौद्धिक पदों से जोड़कर देखा जाता था। इसके परिणामस्वरूप, 'राष्ट्र' की 'विदेशियों का समुदाय' न समझकर एक 'मत (राय) का समुदाय' समझा जाने लगा। राष्ट्र की अवधारणा अब अलाभकारी नहीं रही, किन्तु इसका प्रयोग अब भी बहुत सीमित था। यह अस्थायी भी थी, क्योंकि छात्र जैसे ही अपनी पढ़ाई पूरी कर लेता था और विश्वविद्यालय से उसका नाता टूट जाता था, 'नेशन' अथवा राष्ट्र के रूप में उसकी पहचान समाप्त हो जाती थी।

'मत का समुदाय' के रूप में 'राष्ट्र' शब्द के प्रमुख अर्थ का सदुपयोग एक और स्थिति में भी हुआ: मध्ययुगीन चर्च परिषद् में। ये परिषदें 'रिपब्लिका क्रिस्तियाना' के गठन के संदर्भ में विभिन्न स्थितियों की प्रतीक थीं और इसमें धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक ईसाई दोनों का प्रतिनिधित्व होता था। 'राष्ट्र' कहे जाने वाले इस शब्द को एक बार और संशोधित किया गया, और अब इसका अर्थ हो गया '(सांस्कृतिक तथा राजनीतिक) अधिकारण के प्रतिनिधि' अर्थात् सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कुलीन। 'राष्ट्रीय अस्मिता' एक आदरसूचक बात हो गई, किन्तु यह फिर भी अस्थायी और अतिविशिष्ट व्यक्तियों के एक छोटे से समूह तक ही सीमित रहीं। किन्तु, इस नए आदरसूचक अर्थ में ही इस अवधारणा को 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में इंग्लैण्ड की जनता के बीच प्रयुक्त किया गया, और एक बार फिर इसने अपना स्वरूप बदलते हुए 'संप्रभु लोक' का आधुनिक राजनीति अर्थ ग्रहण कर लिया ('एटिमोलॉजी, डिफिनिशंस, टाइप्स', इनसाइक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज्म में, लिया ग्रीनफील्ड, खंड एक, अकेडमिक प्रेस, 2001, पृ. 251-65)।

राष्ट्रवाद को एक 'संप्रभु लोक' अथवा 'समानों के समुदाय' का यह जो नया अर्थ मिला, इससे राष्ट्रत्व एक वांछनीय प्रस्थिति बन गई। इसके अतिरिक्त, इस अवधारणा को पूरी दुनिया में एक अभूतपूर्व स्वीकार्यता मिली। 'राष्ट्र' की अवधारणा ने एक ऐसी व्यापक अस्मिता का रूप ले लिया जिसमें 'अंग्रेज़ जनता' का प्रत्येक सदस्य आ जाता था और प्रत्येक की एक राष्ट्रीय अस्मिता थी। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि राष्ट्र के इस नए अर्थ और विस्तार के साथ ही 'लोक' अथवा जनता के अर्थ में भी एक अनूठा बदलाव आ गया। राष्ट्र के साथ जुड़ने से पहले, 'लोक' शब्द का प्रयोग सामान्यतया, 'जन समूह', 'कुली-कबाड़ी' अथवा निम्न वर्ग के लिए होता था, जबकि राष्ट्र का मतलब कुलीन वर्ग होता था। इन दोनों अर्थों के समीकरण में इन दोनों ही अवधारणाओं पर पुनर्विचार का संकेत था। 'राष्ट्र' के रूप में 'लोक' को अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली और लोग अब राजनीति विहीन कुली-कबाड़ी न रहकर निष्ठा का विषय और राजनीतिक एकजुटता का आधार बन गए। इस नए संयोग में, जब, अंग्रेज़, फ्रांसीसी, जर्मन, अथवा रूसी जनता की बात होती थी तो उससे अभिप्राय उन सभी सदस्यों से होता था जो एक नागरिक के रूप में स्वतंत्र तथा समान सदस्य होते थे। इसी के साथ सामाजिक व्यवस्था में एक बड़ा बदलाव आया। सभी वर्गों को समेटने वाले समुदाय के रूप में परिभाषित राष्ट्र की कल्पना अब एक संप्रभुता के रूप में और समानों के यूरोपीय के रूप में ही की जा

सकती थी (वहीं)। एक नए किस्म के राजनीतिक भाईचारे के लिए आधार के तौर पर यह जो परिवर्तित सामाजिक एकजुटता के प्रति आकांक्षा थी उसने राष्ट्रवाद को और परिपक्व किया। 'एक संप्रभु लोक' के अपने आधुनिक अर्थ में राष्ट्र शब्द का प्रयोग जब राष्ट्र के रूप में मान्यता चाहने वाले और राजनीतिक, प्रादेशिक अथवा/और जातीय विशेषताओं का दावा करने वाले दूसरे जनसमूहों और देशों के संबंध में किया गया तो उसका एक और ही अर्थ निकलने लगा। इस साहचर्य के परिणामस्वरूप, 'राष्ट्र' का अर्थ एक बार फिर बदल गया और वह 'एक अनूठी संप्रभु जनता' हो गया। राष्ट्र का यह अर्थ क्योंकि एक संप्रभु लोक के 'अनूठेपन' से जुड़ा था इसलिए इसकी प्रकृति भी विशिष्टतावादी हो गई। दूसरे शब्दों में, औद्योगीकरण, सामाजिक गतिशीलता, बूर्जुआ क्रान्ति, लोकतंत्र हेतु आन्दोलन जैसी जो संरचनात्मक स्थितियाँ, 'एक संप्रभु जनता' के रूप में राष्ट्र की धारणा से जुड़ी थीं उन्हें राष्ट्र के उस विचार से पीछे धकेल दिया जिसमें लोगों की पहचान विशेष जातीय विशेषताओं से भी थी। राष्ट्रवाद के कुछ विद्वान मानते हैं कि राष्ट्र के नए अर्थ में राष्ट्रवाद की प्रकृति को बहुत बदल दिया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि आज 'राष्ट्र' के दोनों ही अर्थ प्रचलन में हैं और उनमें राष्ट्रवाद के दो अत्यंत भिन्न स्वरूप परिलक्षित होते हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीय अस्मिता और चेतना और राष्ट्रीय समूहों की दो अत्यंत भिन्न किस्मों के दर्शन होते हैं। इन दोनों स्वरूपों पर हम इसी इकाई के भाग 12.3 में चर्चा करेंगे।

12.2.2 राष्ट्र की विशेषताएँ

ऊपर बताया जा चुका है कि सामाजिक एकजुटता और संयोजन का तरीका भिन्न था और तात्कालिक सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों पर निर्भर था, फिर भी बहुलता के आधार राष्ट्र की ये विशेषताएँ बताई जा सकती हैं:

1. सीमाएँ अथवा प्रादेशिक क्षेत्र अथवा दोनों।
2. अविभाज्यता - यह धारणा कि राष्ट्र एक अखंड इकाई है।
3. संप्रभुता अथवा कम से कम संप्रभुता की आकांक्षा, और इस प्रकार अन्य राष्ट्रों के साथ औपचारिक समानता, जो सामान्यतया एक स्वायत्त तथा मानित आत्म-निर्भर राज्य के रूप में होती है।
4. वैधता की एक 'ऊर्ध्व' धारणा - अर्थात् यह विचार कि सरकार तभी न्यायसंगत होती है जब उसे जन-इच्छा का समर्थन प्राप्त हो अथवा जब वह 'जनता' अथवा 'राष्ट्र' के हितों का पोषण करती है।
5. सामूहिक मामलों में जनता की भागीदारी - (युद्ध अथवा नागरिक गतिविधियों के लिए) राष्ट्रीय सदस्यता के आधार पर लामबंद जनसमूह।
6. प्रत्यक्ष सदस्यता, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र का एक अंग और अन्य सदस्यों के समान माना जाता है।

7. संस्कृति, जिसमें भाषा, साझा विश्वासों तथा मूल्यों, आदतन रीतियों का एक मिश्रण शामिल है।
8. लौकिक गहराई - अर्थात् यह धारणा कि राष्ट्र का अस्तित्व सर्वकालिक है जिसमें विगत और भावी पीढ़ियाँ भी आ जाती हैं, और उसका एक इतिहास होता है।
9. समान वंश अथवा नस्लीय विशेषताएँ।
10. विशेष ऐतिहासिक अथवा नस्लीय विशेषताएँ भी।

उपर्युक्त विशेषताएँ राष्ट्र की विशेषताएँ तो हैं ही, उन दावों का आधार भी हैं जो राष्ट्रों की व्याख्या करते समय किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, संप्रभुता, अखंडता तथा सामाजिक एकजुटता भी एक राष्ट्र के निर्माण की आकांक्षा और लामबंदी में सहायक होते हैं। 'बहुलता के प्रतिमान' के बावजूद, ऐतिहासिक राष्ट्रवादों में इस संदर्भ में भिन्नता रही है कि इस एकजुटता की अवधारणा किस प्रकार की गई और फिर उसे किस प्रकार मूर्त रूप दिया गया। आगे हम राष्ट्रवाद के कुछ स्वरूपों का विवेचन करेंगे।

12.3 राष्ट्रवाद: विभिन्न ऐतिहासिक स्वरूप

12.3.1 यूरोपीय राष्ट्रवाद

ऐतिहासिक स्तर पर राष्ट्रवाद ने विविध स्वरूप धारण किए हैं। किन्तु, सभी मामलों में जैसे एक लोक-समूह अथवा अनेक लोक-समूहों का अस्तित्व रहा है, जिनका उदय सामाजिक-आर्थिक बदलाव की प्रक्रियाओं से हुआ है। उन पर उनकी पारंपरिक अस्मिता और उसमें व्यक्त सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा का बंधन रहा है। जैसे, इंग्लैंड में पूँजीवाद, औद्योगीकरण और शहरीकरण के विकास ने एक मध्यम वर्ग को जन्म दिया - जो परम्परागत कुलीन वर्ग से अलग और विषम था। साथ ही, पूँजीवाद से सम्बद्ध सामाजिक संबंध और आर्थिक लेन-देन की पारम्परिक श्रेणीबद्धता, और पारस्परिकता के विचार से भिन्न थे जिन्होंने राज्य और समाज की पारंपरिक संरचनाओं में जान फूँकी। बाद में राज्य की जिन संरचनाओं का विकास हुआ उनमें राजनीतिक क्षेत्र और सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के बीच और भी अधिक दूरी देखने को मिली, और यह बाद वाली स्थिति मुक्ति तथा स्वतंत्रता की धारणाओं के कारण थी। इस प्रकार के समाज को एकजुट करने वाले सूत्र व्यक्तिगत मुक्ति की पारस्परिक मान्यता और राज्य के प्रति निष्ठा की भावना थी। इस प्रकार, राष्ट्र की अंग्रेजी अवधारणा व्यक्तिवादी थी और व्यक्तिगत संप्रभुता तथा राज्य के प्रति निष्ठा पर फल-फूल रही थी। किन्तु, स्वतंत्रता और बदलाव के विचार केवल इंग्लैंड तक सीमित नहीं थे।

यूरोप में सामाजिक चिंतन और रीति को अनुप्राणित करने वाले प्रबोधन के विचार ने फ्रांस में राजतंत्र के खिलाफ राजनीतिक स्वतंत्रता के आन्दोलनों को हवा दी। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के लिए होने वाले क्रान्तिकारी संघर्ष ने सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे के आधार को ही बदल दिया। सामूहिक जीवन में समानता और भागीदारी के विचार

नई सामाजिक एकजुटता के प्रमुख तत्व बन गए। फ्रांसीसी राष्ट्रवाद की प्रमुखता लोगों का भाईचारा हो गया और उसकी विशेषता एक 'दैनिक जनमत' हो गया जो उसकी सहभागी, गणतांत्रिक प्रकृति की सूचक थी। वंशवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष में खड़ी होने वाली प्रमुख सामाजिक ताकतें असल में छोटे जमींदार, उभरते हुए राष्ट्रीय मध्यम तथा निम्न-मध्यम वर्ग के लोग और पेशेवर बुद्धिजीवी थे। यही लोग इस संघर्ष के प्रवक्ता रहे। व्यक्तिवादी और नागरिक किस्म के अंग्रेजी राष्ट्रवाद की तुलना में फ्रांसीसी और जर्मन राष्ट्रवाद एक अलग तरह के राष्ट्रवाद का उदाहरण थे जिनका उदय पश्चिमी यूरोप में हुआ था - यह समूहवादी राष्ट्रवाद था। किन्तु, राष्ट्रवाद के फ्रांसीसी और जर्मन स्वरूप इस अर्थ में भिन्न थे कि फ्रांसीसी राष्ट्रवाद में तो नागरिक संबंधों पर जोर था जबकि जर्मन राष्ट्रवाद एकजुटता के जातीय आधार पर बल देता था। नेपोलियन के युद्धों के समय जर्मनों ने मध्ययुगीन शासन के अवशेषों पर एक आधुनिक सरकार की नींव रखी, जिसे विगत संस्कृति में उनके अभिमान ने मज़बूती प्रदान की। निम्नांकित तालिका में ऐतिहासिक राष्ट्रवादों के स्वरूपों को दिखाया गया है:

राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक स्वरूप

	व्यक्तिवादी		समूहवादी	
	नागरिक	जातीय	नागरिक	जातीय
स्वरूप	I	कोई नहीं	II	III
पहला उदाहरण	इंग्लैण्ड	-	फ्रांस	रूस
नमूना संबंधी उदाहरण	इंग्लैण्ड, अमेरिका	-	फ्रांस	जर्मनी

स्रोत: लिया ग्रीनफील्ड, 'एटिमोलॉजी, डिफिनिशंस, टाइप्स', इनसाइक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज़्म, खंड एक, अकेडमिक प्रेस, 2001, पृ. 261 ।

आगे हम पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रवाद के तीन आदर्श नमूनों के अर्थात् इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी का अध्ययन करेंगे।

इंग्लैण्ड

राष्ट्रवाद ने इंग्लैण्ड में 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में आकार लेना शुरू कर दिया था। यह 15वीं शताब्दी में सामंती व्यवस्था के विनाश के साथ हुआ। 15वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में सामंती व्यवस्था थी जो इस विचार से प्रेरित थी कि असमानता तो प्राकृतिक और दैवीय, स्थायी और अपरिवर्तनीय थी। असमानता और ऊँच-नीच (श्रेणीबद्धता) को दैवीय योजना अथवा इश्वरीय व्यवस्था बताया जाता था। सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के दर्ज़े को ईश्वर की ओर से प्रदत्त बताया जाता था जो उसकी योजना का अंग था। उस समय तीन प्रमुख सामंती व्यवस्थाएँ अथवा वर्ग थे: सामंत, पुरोहित और श्रमिक। इनकी

अपनी-अपनी निश्चित और अलग भूमिका थी, और एक से दूसरे वर्ग में जाने पर प्रतिबंध था। 1485 में समाप्त होने वाले 'वार ऑफ द रोज़ेज़' ने इस व्यवस्था में भारी फेर-बदल कर दिया, और अंग्रेज़ी राजगद्दी पर टुडारे वंश का अधिकार हो गया। इस युद्ध ने पारंपरिक, सामंती अभिजात वर्ग का सफाया कर दिया और इससे सामाजिक व्यवस्था के ऊपरी स्तर पर जगह खाली हो गई। इस तरह, निचले वर्ग का स्थान लेने वाले नए अभिजातवर्ग में अधिकारी और विशेषकर विश्वविद्यालय शिक्षित अल्पसंख्यक भद्रजन और निम्न वर्ग से आए लोग थे। नए अभिजात वर्ग के उदय से अंग्रेज़ी समाज का आधार ही बदल गया। अब समाज में व्यक्ति की हैसियत उसके जन्म पर निर्भर नहीं रह गई थी। इसके अतिरिक्त, पूँजीवाद के विकास से आर्थिक गतिविधि को भी लाभकारी होने के कारण सम्मान मिला और वह मात्र भरण-पोषण का साधन नहीं रह गई। व्यापारियों के एक नए वर्ग का उदय हुआ जिसने सामाजिक स्तरीकरण को पुनर्परिभाषित करने और व्यावसायिक गतिशीलता का उचित ठहराने में अपना योगदान किया। नए अभिजात वर्ग ने उच्च वर्ग की ओर गतिशीलता के इस नए ढाँचे को औचित्य प्रदान किया। इस काम में उनका साथ उस नई सामाजिक चेतना ने दिया जो दैवीय योजना और नियतिवादी व्यवस्था जैसी सामंती कल्पनाओं से दूर थी। यह नई चेतना राष्ट्रवाद था, जो समाज की बदली व्यवस्था को प्रस्तुत करता था जिसमें 'राष्ट्र' अथवा 'जनता' के प्रत्येक सदस्य को कुलीनों की गरिमा प्राप्त थी और वह समान भी था और स्वतंत्र भी, उसे स्व-शासन अथवा संप्रभुता का अधिकार प्राप्त था। सामूहिक रूप में जनता अथवा राष्ट्र भी संप्रभु हो गया। यहाँ यह समझना महत्वपूर्ण है कि इंग्लैण्ड में राष्ट्र की संप्रभुता तो कल्पित राष्ट्रीय सामूहिकता के प्रत्येक सदस्य की अनुमानित संप्रभुताओं से निकली थी और राष्ट्र एक ऐसी मिश्रित सत्ता के रूप में परिभाषित था जिसका अस्तित्व तभी तक था जब तक इसके सदस्य सामाजिक मेल-जोल रखते हैं और इन सदस्यों की इच्छाओं और हितों से अलग उनकी अपनी कोई इच्छा और हित नहीं होता। इस प्रकार, अंग्रेज़ी राष्ट्रवाद मूलतः व्यक्तिवादी था, और इस अर्थ में नागरिक भी था कि राष्ट्रीय अस्मिता जो समुदाय में ऐच्छिक सदस्यता अथवा नागरिकता के बराबर थी।

फ्रांस

फ्रांस में राष्ट्रवाद के उभार से बहुत पहले वहाँ फ्रांसीसी अस्मिता विद्यमान थी, जिसमें फ्रांसीसी ईसाइयत को फ्रांसीसी राजाओं की रोमनी ईसाइयत से श्रेष्ठ समझा जाता था। 12वीं शताब्दी के बाद से राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का 'असली' पुरोहित समझा जाता था और धार्मिक तथा राजनीतिक गतिविधि के क्षेत्रों में तब कोई अंतर नहीं था। किन्तु, प्रारंभिक आधुनिक काल में, फ्रांसीसी अस्मिता का धर्म निरपेक्षीकरण हुआ जिसका प्रमुख कारण 16वीं शताब्दी में होने वाले धार्मिक युद्ध थे। इस स्थिति ने फ्रांसीसी अस्मिता को एक राजनीतिक स्वरूप देने में मदद की। राज्य एक क्षेत्र है जिस पर राजा का अधिकार है, इस विचार ने फ्रांसीसी अस्मिता को एक अच्छा ईसाई होने की जगह राजा की प्रजा के समुदाय का सदस्य होने में बदल दिया। प्रजा के समुदाय का निर्माण संबंधों की एक श्रृंखला से हुआ था जिसमें विभिन्न श्रेणियों वाले वे अधिकारी आते थे जो राजा के अधिकार क्षेत्र को बांधते थे। कालांतर में इन अधिकारियों के पास अधिकार आ गए और वे अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में निष्ठा का प्रदर्शन करने लगे। निष्ठा की इस सन्तति

व्यवस्था के उभार ने राज्य को ऐसी संरचनाओं के जाल के रूप में पहचान दे दी जो राजा से भिन्न था। इस स्थिति ने प्रजा के मन में राजा के प्रति निष्ठा को हटा दिया। यहाँ यह भी कहना होगा कि राजा और राज्य के बीच इस दूरी और इसके परिणामस्वरूप प्रजा की निष्ठा का केन्द्र बदलने के प्रमुख कर्ता और लाभ प्राप्त करने वाले फ्रांसीसी कुलीनजन थे। जहाँ इंग्लैण्ड में अभिजात वर्ग को सामंती व्यवस्था के भीतर राजा की ओर से कुछ स्वायत्तता मिली हुई थी, वहीं फ्रांस के निरकुंश राजतंत्र का अर्थ यह था कि अभिजात वर्ग को अपनी हैसियत और पैसे के लिए राजा की सत्ता पर निर्भर रहना होता था। अभिजात तंत्र हमेशा ही राजा की निरकुंशता का विरोधी रहा और उसके खिलाफ संघर्ष करता रहा। अभिजात वर्ग अब राजा और राज्य को एक नहीं देखना चाहता था, इसलिए उसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य को फ्रांस - फ्रांसीसी जनता और राज्य-क्षेत्र का समुदाय, राष्ट्र माना जाए। उनकी यह धारणा राष्ट्र की अंग्रेज़ी धारणा से प्रभावित थी। और, फ्रांस में इसका आयात उन फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों ने किया था जिनकी कुलीन वर्ग से संगति ने फ्रांस में अभिजात वर्ग की पहचान को पुनर्परिभाषित करने में योगदान किया।

जब फ्रांस में पहली बार 'राष्ट्र' की अवधारणा आई तो इसे अभिजात तंत्र का पर्याय माना गया और 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति तक इसे यही माना जाता रहा। 1789 के बाद भी 'राष्ट्र' का प्रयोग उन कुलीनों के प्रतिनिधित्व वाली जनता के लिए होता था जो अपनी प्रतिनिधित्व की भूमिका में अपनी राजनीतिक शक्ति को मज़बूत कर रहे थे। इंग्लैण्ड के विपरीत, फ्रांसीसी राष्ट्रवाद समूहवादी, अधिनायकवादी और जन-साधारण तथा उनके प्रतिनिधियों के बीच असमानता पर आधारित था। साथ ही, अंग्रेज़ी राष्ट्रवाद के विपरीत फ्रांसीसी राष्ट्रवाद नागरिक था, अर्थात् फ्रांसीसी राष्ट्र में सदस्यता नस्ल अथवा जाति आदि के बंधनों पर निर्भर नहीं थी। यहाँ राष्ट्र का मतलब नागरिकों के रूप में भागीदारी पर आधारित सदस्यता का खुलापन होता था। यहाँ राष्ट्रवाद के कुछ विद्वान नागरिक सदस्यता में मिलने वाली व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उसकी समूहवादी प्रकृति से बनने वाले अधिनायकवाद के बीच एक विरोधाभास देखते हैं।

जर्मनी

अंग्रेज़ी अथवा फ्रांसीसी राष्ट्रवाद के विपरीत, जर्मन राष्ट्रवाद अभिजात वर्ग के कारण नहीं बल्कि मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवियों के असंतोष के कारण उपजा था। यहाँ यह कहना होगा कि वहाँ मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों अथवा 'शिक्षित' बूर्जुआ को ऊँचा दर्ज़ा मिला हुआ था जबकि उनमें से अधिकांश विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने से पहले निचले तबकों से थे। अपनी सामाजिक हैसियत बढ़ाने की दिशा में शिक्षा का महत्व 18वीं शताब्दी में घटने लगा। इसके अनेक कारण थे। इनमें से प्रमुख कारण शायद वे आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ थीं जो प्रबोधन आन्दोलन ने बुद्धिजीवियों में जगाई थीं। इसके परिणामस्वरूप मोहभंग और असंतोष की स्थिति बनी क्योंकि बुद्धिजीवियों की संख्या बढ़ने के साथ उनमें बेरोज़गारी और गरीबी भी बढ़ी। जब हैसियत घटी तो प्रबोधन के विरुद्ध 'शिक्षित बूर्जुआ' की प्रतिक्रिया भी हुई। बुद्धिजीवियों की इस प्रतिक्रिया को 'रोमैंटिसिज़्म' का नाम मिला। इसमें अलग-अलग दृष्टिकोणों का समावेश था। इसमें फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रान्तियों

के बाद आने वाले बदलावों के प्रति असंतोष की अभिव्यक्ति थी, जो बौद्धिकता अथवा तर्कसंगतता की जगह सृजनात्मकता को रखने का प्रयास भी था। रोमैटिक्स (रुमानियों) ने एक प्रगतिशील सुव्यवस्थित तर्कसंगत समाज की धारणा को अस्वीकारते हुए प्रकृति के साथ 'स्व' के संबंध की अभिव्यक्ति और विविध समझ की संभावनाओं के द्वार खोले। रुमानियों ने एक लम्बे समय तक एक जर्मन राजनीतिक व्यवस्था के लिए कोई दर्शन नहीं बनाया। यह काम तब हुआ जब नेपोलियन के आक्रमण ने जर्मन भाईचारे को स्वर दिया। इस प्रकार, जहाँ फ्रांस में शासकों को निशाना बनाया गया था, वहीं रुमानी अथवा स्वच्छतावादियों ने शासकों के मामले को 'जर्मनों का मामला' बताकर प्रस्तुत किया। जर्मन प्रबोधन के प्रतिनिधि क्योंकि फ्रांसीसियों के विरुद्ध अपने वैरभाव के कारण अपनी साख खो चुके थे, इसलिए जर्मन राष्ट्रीय चेतना का निर्धारण रुमानी दर्शन से हुआ। रुमानी दर्शन 'स्व' पर विजय पाने की हिमायत करता था और समुदायों को असली स्व अथवा व्यक्ति मानता था। असली समुदाय बस वे थे जो भाषाओं के बंधन से बंधे थे, जिनका निर्धारण रक्त अथवा 'नस्ल' के बंधनों से होता था। इन सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्र के विचार की अवधारणा नस्ल और भाषा से निर्मित एक प्राकृतिक समुदाय के रूप में हुई। इस प्रकार, जर्मन राष्ट्र की परिकल्पना भी फ्रांसीसी राष्ट्र की तरह ही एक सामूहिक सत्ता के रूप में हुई। किन्तु, फ्रांसीसी उदाहरण के विपरीत, यह मुख्यतया एक जातीय समुदाय था जिसकी सदस्यता का निर्धारण उन प्राकृतिक बंधनों से होता था जो जन्मजात थे और उन्हें अर्जित नहीं किया जा सकता था। (अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन राष्ट्रवादों के लिए देखिए - लिया ग्रीनफील्ड, 'वेस्टर्न यूरोप', *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज़्म*, खंड एक, अकेडमिक प्रेस, लंदन, 2001, पृ. 883-98)।

12.3.2 गैर-यूरोपीय राष्ट्रवाद

अभी तक हमने देखा कि राष्ट्रवाद के लिए सामाजिक एकजुटता, सामूहिक अस्मिता, स्वायत्त 'स्व' का बोध और संप्रभु सामूहिकता के साथ उसके संबंध की आवश्यकता होती है। ऊपर हमने राष्ट्रवाद के जिन तीन यूरोपीय अनुभवों की चर्चा की है उनमें ये सभी पक्ष स्पष्ट थे। किन्तु बेनेडिक्ट एंडरसन जैसे राष्ट्रवाद के विद्वानों ने राष्ट्र की धारणा को एक प्रवचनगत निर्माण बताया है और सामाजिक एकजुटता और सामूहिक पहचान के बारे में 'सोचने का एक तरीका' की बात की है।

अब जिसे पिछले वर्षों में उभरने वाली राष्ट्र की सर्वाधिक लोकप्रिय अवधारणा कहा जा रहा है, उसमें बेनेडिक्ट एंडरसन ने राष्ट्र को 'एक कल्पित राजनीतिक समुदाय बताया है जिसकी कल्पना सीमित और संप्रभु दोनों ही रूपों में की गई है'। 'कल्पित' से एंडरसन का आशय इस तथ्य से है कि 'छोटे से छोटे राष्ट्र के सदस्य भी साथी सदस्यों अधिकांश अपने की जानकारी नहीं रखा पाएँगे, न उनमें मिल पाएँगे और न ही उनके बारे में कभी सुन पाएँगे, फिर भी प्रत्येक के मन में उनके संसर्ग की छवि रहती है'। कल्पना की यह प्रक्रिया इसलिए सीमित होती है क्योंकि यह राष्ट्र की सीमाओं के भीतर ही होती है और मानव जाति से इसका यह विस्तार नहीं होता। अंत में, एंडरसन का कहना है, 'इसकी कल्पना एक समुदाय के रूप में की जाती है क्योंकि वास्तविक असमानता और शोषण के बावजूद राष्ट्र की अवधारणा हमेशा ही एक गहन क्षैतिज संबंध के रूप

में की जाती है।

ऐंडरसन का एक और प्रमुख प्रासंगिक तर्क यह है कि कभी उभार पर रहे राष्ट्रवाद ने एक निर्णायक (अथवा आदर्शवादी) स्वरूप ग्रहण कर लिया, जहाँ से यह भावी लामबंदियों के लिए उपलब्ध था। ऐंडरसन ने ऐसे तीन आदर्शों की पहचान की है जो अनुकरण के लिए उपलब्ध थे: (i) अमेरिकी देशों का क्रियोल राष्ट्रवाद, जिसमें कल्पित समुदायों का निर्माण 'तीर्थयात्री क्रियोल कार्यकर्ताओं और प्रान्तीय क्रियोल मुद्रको' ने किया था, जिनके हितों की टकराहट मेटोपोल से थी; (ii) यूरोप का भाषायी राष्ट्रवाद, जिसका झुकाव जनता के कल्याण की ओर और आधार एक राष्ट्रीय राज्य था; (iii) रूसीकरण वाला राष्ट्रवाद, अथवा ऊपर से सांस्कृतिक एकरूपता को थोपना। ऐंडरसन की योजना में व्यापक तत्त्व यह है कि ये तीन आदर्शवादी स्वरूप औपनिवेशिक बुद्धिजीवियों को अनुकरण के लिए उपलब्ध थे। जहाँ इन पूर्व-विद्यमान स्वरूपों (मुद्रण-भाषाएँ, राष्ट्र का विचार) ने उपनिवेश-विरोधी भावना को आकार और परिभाषा देने में मदद की, वहीं जन-साधारण के लिए इन आदर्शकारी अनुभवों की व्याख्या का काम औपनिवेशिक शिक्षा से निकले द्विभाषी बुद्धिजीवियों ने किया, और यह औपनिवेशिक शासन के खात्मे में भी सहायक होगा।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि औपनिवेशिक शासन 18वीं, 19वीं और 20वीं शताब्दी में अधिकांश अमेरिका (17वीं और 18वीं शताब्दियों में), एशिया और अफ्रीका के लिए एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अनुभव था। औपनिवेशिक समाजों में राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति उपनिवेश-विरोधी थी और उसका उदय, ऐंडरसन के अनुसार, औपनिवेशिक कुलीनों के एक प्रारंभिक समूह की कुंठाओं और एकजुटताओं से हुआ था। जैसा कि हम यूरोपीय अनुभव के बारे में ऊपर बता चुके हैं, उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवादों का उदय भी राजनीतिक शासन के ढाँचों और सामाजिक शक्तियों के संतुलन के विशिष्ट संदर्भ के अंदर ही हुआ। लैटिन अमेरिका में राष्ट्रवाद के उदय की विवेचना करते हुए ऐंडरसन कहता है कि लैटिन अमेरिका में स्पानी (औपनिवेशिक) शासन का संचालन एक प्रशासनिक ढाँचे ने किया जिससे पेशे के एक विचित्र नमूने का जन्म हुआ। स्पानी अमेरिका अनेक प्रशासनिक इकाइयों में बँटा हुआ था। उस प्रशासनिक ढाँचे के शीर्षस्थ अधिकारी स्पेन से आते थे और उपनिवेश में सेवा करने के बाद ऊँचे पदों पर वापस नहीं पहुँच जाते थे। औपनिवेशिक नौकरतंत्र के शीर्षस्थ पदों पर आधीन ये अधिकारी 'बाहरी' थे और उन्हें अपने पेशे में ऊपर की ओर जाने के अवसर प्राप्त थे, वहीं उनके नीचे भारी संख्या में काम करने वाले अधिकारियों को नौकरी में अलग ही स्थितियों से गुजरना पड़ता था। ये क्रियोल अधिकारी वंश, भाषा और एक हद तक संस्कृति से भी स्पेनवंशी थे। किन्तु, उनका जन्म अमेरिका में ही होने के कारण उन्हें नौकरी में इतने अवसर नहीं दिए जाते थे। उनकी तरक्की इस अर्थ में प्रतिबंधित थी कि वे उस उपनिवेश में तो कहीं भी आ-जा सकते थे जहाँ उनका जन्म हुआ था, किन्तु 'असली' स्पेनवंशी की तरह वे एक स्पेनिश उपनिवेश से दूसरे उपनिवेश (मेक्सिको, चिली आदि) में नहीं आ-जा सकते थे, और न ही स्पेन 'लौट' सकते थे। स्पेनिश और क्रियोल अधिकारियों में नौकरी के संदर्भ में इस अंतर ने क्रियोल कुलीनों में कुंठा पैदा कर दी। साथ ही, इस स्थिति ने उनमें 'एकजुटता' की भावना को और 'मातृभूमि' अर्थात् उनके औपनिवेशिक जन्म-स्थान के

साथ उनकी पहचान को भी प्रोत्साहित किया। क्रियोल अधिकारी जो उपनिवेश में एक स्थान से दूसरे स्थान तक आ-जा सकते थे, इस कारण उन्हें देश के बारे में जानकारी हो जाती थी। वे शिक्षित कुलीन तो थे ही, इसलिए वे अपनी अस्मिता और एकजुटता की भावना को मुद्रण मीडिया के माध्यम से व्यक्त करने में सक्षम थे जिससे राष्ट्रीय अस्मिता और एकीकरण के लिए एक सांस्कृतिक आधार उपलब्ध हुआ। ऐंडरसन का मानना है कि उपनिवेशों में कुछ प्रारंभिक राष्ट्रवादी आन्दोलनों के पीछे यही सभी कारक काम कर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का नेतृत्व अधिकतर विशेषाधिकार संपन्न कुलीनों ने ही किया, जो उन्हीं लोगों की भाषा बोलते, और उन्हीं के धर्म को मानते थे जिनके शासन को वे चुनौती दे रहे थे। ऐंडरसन का विचार है कि ऐसा सबसे पहले शाही शहरों में नहीं बल्कि उपनिवेशों में हुआ कि लोग अपने आपको भिन्न राष्ट्रीयताओं के वाहक के रूप में देखने लगे। किन्तु इसका विकास शुरू होते ही राष्ट्र की धारणा एक विश्ववादी प्रवचन में प्रवेश कर गई। अंततः इसने 18वीं और 19वीं शताब्दी की क्रान्तिकारी राजनीति और यूरोपीय चिंतन में और पूरी दुनिया के उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों को अनुप्राणित किया। (अधिक जानकारी के लिए देखें बेनेडिक्ट ऐंडरसन, *इमेजिन्ड कम्युनिटीज़*, 1983, 1991 और क्रेग कैलूहम, *नेशनलिज़्म, ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस, बकिंगहम*, 1997, अध्याय 6, *इम्पीरियलिज़्म कॉलोनीयलिज़्म एण्ड द वर्ल्ड सिस्टम ऑफ नेशन स्टेट्स*)।

12.3.3 अंतर के रूप में राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद की उत्पत्ति और प्रसार के बारे में ऐंडरसन के विचार इस अर्थ में प्रवर्तनकारी थे कि राष्ट्र पूरी तरह से नस्ल, धर्म अथवा भाषा जैसे सामाजिक कारकों अथवा ढाँचागत स्थितियों से निर्धारित नहीं होते। वे, जैसा कि गेलनर का मानना है, मात्र बुनावट ही नहीं थे। राष्ट्रों का अस्तित्व 'कल्पित' था, और इस कल्पना की सहायता के लिए अनेक कारक विद्यमान। इनमें प्रमुख था 'मुद्रण-पूँजीवाद' का कारक। वैसे, कई विद्वान ऐंडरसन के राष्ट्रवाद संबंधी 'निश्चायकता' (modularity) अथवा 'निश्चायक स्वरूप' (modular forms) के रूपक को भ्रामक और समस्याजनक मानते हैं। उदाहरण के लिए, क्रेग कैलूहम ने ऐंडरसन के इस तर्क को सही नहीं माना है कि ऐसे 'निश्चायक स्वरूप' होते हैं जिन्हें 'बुनियादी' अथवा मूलभूत परिवर्तनों के बिना नई सांस्कृतिक स्थितियों में आरोपित किया जा सकता है। इसी प्रकार, पार्था चटर्जी ने इस तर्क को खारिज कर दिया है कि पश्चिमी यूरोप, अमेरिकी देशों और रूस के राष्ट्रवाद संबंधी ऐतिहासिक अनुभव ने बाद के सभी राष्ट्रवादों को निश्चायक स्वरूप दिए जिनमें से एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी कुलीनों ने अपनी पसन्द के स्वरूपों को चुन लिया था। वस्तुतः चटर्जी ने ऐंडरसन की कल्पित समुदाय वाली राष्ट्र की अवधारणा का इस्तेमाल राष्ट्रवादों के निश्चायक स्वरूपों के तर्क के खंडन के लिए किया है। यदि शेष विश्व के राष्ट्रवादों को 'अपने' कल्पित समुदायों का चुनाव उन्हें पहले से उपलब्ध कुछ निश्चायक स्वरूपों से ही करना है, तो चटर्जी का सवाल है - 'उन्हें कल्पना किसकी करनी है?' चटर्जी का दावा है कि ऐंडरसन के विचार में राष्ट्रवाद की कल्पनाओं और उपनिवेश-विरोधी प्रतिरोध के उपनिवेशीकरण का प्रस्ताव है। चटर्जी का यह भी कहना है कि उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवाद 'आधुनिक पश्चिमी देशों के प्रचारित राष्ट्रीय समाज के निश्चायक स्वरूपों' के साथ पहचान पर आधारित नहीं थे। एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवादी कल्पना के सर्वाधिक प्रभावी और

रचनात्मक स्वरूप वास्तव में निश्चायक स्वरूपों से उनकी भिन्नता पर आधारित थे। चटर्जी ने अपनी पूर्व पुस्तक (नेशनलिस्ट थॉट एण्ड द कॉलोनिअल वॉर्ल्ड: ए-डेरिवेटिव डिस्कोर्स?) में कहा है कि बाद के औपनिवेशिक विश्व में राष्ट्रवादों का प्रकट होना शाही प्रभुत्व और औपनिवेशिक उत्पीड़न का अनिवार्य अंग था, और इसलिए 'व्युत्पन्न प्रवचन' (derivative discourse) भी। इसके कारण समुदायों के बीच प्रामाणिक, स्वतः निर्मित, स्वायत्त विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया और उन पर स्वार्थी, 'राष्ट्रवादी' राजनेताओं, बुद्धिजीवियों, नौकरशाहों और पूँजीवादियों का वर्चस्व बना रहा।

12.4 विभिन्न राष्ट्रवाद: नागरिक और जातीय

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ मूलभूत विशेषताएँ होने के बावजूद वास्तव में कोई एकरूप 'राष्ट्रवाद' नहीं है, और न ही ऐसी कोई निर्धारक दशाएँ अथवा संरचनाएँ हैं जिनसे ऐसे किसी स्पष्ट राष्ट्रवाद का जन्म हो जो औरों से अलग हो। ऐतिहासिक स्तर पर, हमने देखा है कि राष्ट्रवादों का उदय अलग-अलग स्वरूपों में हुआ है और अलग-अलग तरीकों से ही उनका विकास भी। फिर भी, समाज विज्ञानियों में यह प्रवृत्ति रही कि उन्होंने राष्ट्रवाद को दो व्यापक और द्विभाजी श्रेणियों में विभाजित करते हैं। इन दो श्रेणियों को विभिन्न स्रोतों में विरोधी शब्दों में व्यक्त किया गया है। जैसे 'राजनीतिक बनाम सांस्कृतिक', 'पाश्चात्य बनाम पूर्वी' और अभी हाल में 'नागरिक बनाम जातीय' राष्ट्रवाद। इससे यह पता चलता है कि विद्वानों में राष्ट्रवाद के उदगम और प्रकृति को लेकर एक राय नहीं है। इस वर्गीकरण के साथ प्रायः 'अच्छे' राष्ट्रवाद (राष्ट्रभक्ति) और 'खराब' राष्ट्रवाद (अंधराष्ट्रभक्ति) की बात होती है जिन्हें क्रमशः नागरिक और जातीय राष्ट्रवादों के लिए प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण में यह मानकर चला जाता है कि ये दो प्रकार के राष्ट्रवाद अपने में स्पष्ट और अलग होते हैं और वे उस जन-साधारण की उपेक्षा कर देते हैं जो वहाँ मौजूद हो सकते हैं, और सामाजिक-आर्थिक ढाँचों के उस व्यापक ढाँचे की भी जिसके वे दोनों हिस्से होते हैं।

द्विभाजी श्रेणियों के तीनों जोड़ों अर्थात् 'राजनीतिक बनाम सांस्कृतिक', 'पाश्चात्य बनाम प्राच्य', और 'नागरिक बनाम जातीय'। एक ही विभाजन रेखा पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, किन्तु उनमें आग्रह का थोड़ा-सा अंतर होता है। राजनीतिक बनाम सांस्कृतिक श्रेणी जहाँ इस बात पर सहमत हैं कि सभी राष्ट्रवाद सांस्कृतिक और राजनीतिक होते हैं, वहीं वह विभिन्न राष्ट्रवादों में भाषा, साहित्य, इतिहास तथा लोकवार्ता के प्रति पूर्वग्रह बनाम राजनीतिक संगठन के सिद्धान्तों की ऐतिहासिक प्राथमिकता और प्रमुखता पर जोर भी देती है। पाश्चात्य-प्राच्य श्रेणी में 'प्राच्य' और 'पाश्चात्य' की श्रेणियाँ भौगोलिक विभाजक न होकर सामान्यतया सांस्कृतिक होती हैं। एक 'पश्चिमी' राष्ट्र की परिभाषा 'नागरिक' के रूप में और 'प्राच्य' राष्ट्र की 'जातीय' के रूप में की जाती है। 'नागरिक' और 'जातीय' श्रेणियाँ 'राजनीतिक' और 'सांस्कृतिक' स्वरूपों में काफी योगदान करती हैं। इनमें 'नागरिक' श्रेणी में अधिक जोर नागरिकता की अवधारणा और संस्कृति पर होता है, और 'जातीय' में यह समझ रहती है, जिससे शायद अधिक जोर 'प्राकृतिक' अथवा 'शारीरिक' अर्थात् नस्ल, 'रक्त और माटी' जैसी शक्तियों पर होता है जिनसे राष्ट्रत्व और राष्ट्रीय पहचान के नीचे अंतिम वास्तविकता रूप लेती है।

इस विभाजन रेखा में वह आम दृष्टिकोण व्यक्त होता है जो हैंस कोहन जैसे कुछ समाज विज्ञानियों का भी दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, राष्ट्र मानव जाति की सबसे पुरानी पहचान का सर्वाधिक पूर्ण प्रकटकीकरण हैं। इसके अनुसार, राष्ट्रों का एक लंबा और आविकल इतिहास है जिसकी जड़ें पूर्व आधुनिक काल में हैं। लगभग सभी राष्ट्रवाद अपनी राष्ट्रीय अस्मिता के उदगम को पूर्व-आधुनिक काल में देखते हैं। अर्नेस्ट गेलनर और एंटनी स्मिथ जैसे राष्ट्रवाद के अन्य विद्वान इस बात से तो असहमत हैं कि राष्ट्र प्राकृतिक संबंधों की अभिव्यक्ति हैं, किन्तु वह इससे भी इंकार नहीं करते कि 'पूर्व-आधुनिक जातीय अस्मिताओं और समुदायों की स्मृतियाँ और 'प्रारंभिक' जातीय संबंध अवश्य ही राष्ट्रवादों को प्रभावित करते हैं। एकीकृत जर्मनी, यूरोपीय संघ, भूमंडलीय अर्थव्यवस्था, पूर्वी यूरोप के राष्ट्रीयता संघर्षों आदि की ओर ले जाने वाली प्रक्रियाओं के संदर्भ में, राष्ट्र-राज्य के भविष्य के विषय में जर्गन हेबरमास ने लिखा है कि 'राष्ट्र' का अर्थ अब एक साझा ऐतिहासिक नियति वाले समुदाय की पूर्व-राजनीतिक एकता न रहकर यह हो गया है कि यह एक ऐसी सत्ता है जिसे एक लोकतांत्रिक राज्यतंत्र के भीतर नागरिक की राजनीतिक पहचान की व्याख्या में एक रचनात्मक भूमिका अदा करनी थी। इस प्रकार, राष्ट्रीय अस्मिता जिस ढंग से नागरिकता को तय करती थी, अब वह ढंग उलट गया है। इन घटनाक्रमों के संदर्भ में, राष्ट्र की अवधारणा अब नागरिकों के ऐसे राष्ट्र के रूप में की जाएगी जो अपनी अस्मिता को कुछ साझा जातीय और सांस्कृतिक गुणों से नहीं बल्कि उन नागरिकों की रीतियों से ग्रहण करता है जो अपने अधिकारों का प्रयोग सभी के समान हित में सक्रियता से करते हैं। इससे अर्नेस्ट रेनां का यह सूत्र याद हो आता है, 'एक राष्ट्र का अस्तित्व दैनिक जनमत होता है।' इसी का प्रयोग करके रेनां 1871 के बाद निवासियों को फ्रांसीसी राष्ट्रीयता का हवाला देकर एलसेस पर जर्मनी के दावे का विरोध कर सका था। रेनां ने 'राष्ट्र' की राष्ट्र नागरिकों के ऐसे राष्ट्र के रूप में की थी जो अपनी पहचान को कुछ साझा जातीय और सांस्कृतिक गुणों से नहीं बल्कि उन नागरिकों की रीतियों से ग्रहण करते हैं जो अपने अधिकारों का प्रयोग सभी के समान हित में सक्रियता से करते हैं।

12.5 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह बात सामने आती है कि राष्ट्रवाद का ऐसा कोई 'सामान्य', 'एकरूपीय' अथवा 'निश्चायक' स्वरूप नहीं है जो संसार में हर कहीं मान्य हो। ऐतिहासिक दृष्टि से, विभिन्न राष्ट्रत्व की संरचनाओं और राष्ट्रीय सामूहिककर्ताओं की अवधारणाओं में विभिन्न प्रकार के राष्ट्रवादों का जन्म हुआ है। इन सभी विभिन्न आन्दोलनों, विचारों, नीतियों और परियोजनाओं का एक साझा गुणक राष्ट्रवादी प्रवचन है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रवाद को एकता के सूत्र में बांधने वाली शक्ति राष्ट्रवाद का प्रवचन और उपदेश हैं, जिसके केन्द्र में आत्म-चेतना और आत्म-निर्णय के विचार हैं। ये दोनों विचार एक एकीकृत सत्ता के रूप में 'लोक' अथवा जनता की अवधारणा पर आश्रित हैं। ऐतिहासिक स्तर पर, राष्ट्र के विचार का उदय एक ऐसी श्रेणी के रूप में हुआ है जो एक अस्मिता अथवा एकत्व का परिचायक है। एकत्व, अस्मिता और एकता का यह अर्थ काफी हद तक समानता की उन धारणाओं पर आधारित था जिन्होंने राष्ट्र के आधुनिक अर्थ को

पुष्टि दी। प्रभुसत्ता और समानता पर जोर देने वाले राष्ट्रवाद की आकांक्षा तो सभी राष्ट्रवादों का आधार रहा है। सामाजिक एकजुटता अथवा समाजों के समुदाय के विषय में जिस ढंग से सोचा गया और वे जिस ढंग से अस्तित्व में आए, वह अलग रहा है। किन्तु, सभी मामलों में राष्ट्रवाद का प्रयास इस विचार को आगे लाने का रहा है कि राष्ट्र तो प्रभुत्व और असमानता के मौजूदा ढाँचों से मुक्ति दिलाएगा। इस प्रकार, अंग्रेजी राष्ट्रवाद का उदय उन बदलावों की प्रतिक्रियारूप हुआ जो शहरीकरण और औद्योगीकरण के कारण आए थे। इसके परिणामस्वरूप, सामाजिक संबंधों और आर्थिक लेन-देन की ऐसी स्थिति बनी जिसमें आम व्यक्ति ऊँच-नीच के पारंपरिक ढाँचों से प्रतिबंधित और प्रतिकूल था। अंग्रेजी राष्ट्र के विपरीत, फ्रांसीसी क्रान्ति ने राष्ट्र के उस विचार को जन्म दिया जिसमें सामूहिक जीवन में समानता और भागीदारी का विशेष स्थान था। फ्रांस के विपरीत, जर्मनी में ऐसे राष्ट्रवाद का उदय हुआ जिसमें भाषा और रक्त संबंधों पर आधारित सांस्कृतिक अस्मिता पर जोर था। एक विशिष्ट राष्ट्रीय अस्मिता के आधार के रूप में सांस्कृतिक विशिष्टता का विचार उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवादों में भी देखा गया जो अपने अनुष्ठान की संप्रभुता के आधार के रूप में प्रस्तुत करते थे। राष्ट्रवाद के विद्वान अक्सर राष्ट्रवादों को 'नागरिक-संजातीय', अथवा 'पाश्चात्य-प्राच्य', अथवा 'राजनीतिक-सांस्कृतिक' की श्रेणी में रखने की भूल कर बैठते हैं, जिसमें नागरिक राष्ट्रवादों को पश्चिमी स्वरूपों और सकारात्मक गुणों से जोड़कर देखा जाता है। 'नागरिक' और 'संजातीय' की अवधारणाएँ जहाँ उपयोगी हैं, वहीं उनमें वे सभी महत्वपूर्ण अंतर नहीं आ जाते जो ऐतिहासिक राष्ट्रवादों के बीच पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, जब इन्हें द्विभाजी, विरोधात्मक और अनन्य के रूप में लिया जाता है तो ये वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक श्रेणियों के रूप में भी विफल रहते हैं।

12.6 बोध प्रश्न

1. राष्ट्रवाद के केन्द्र में सामाजिक एकजुटता और लोक संप्रभुता के विचार हैं। स्पष्ट कीजिए कि इन केन्द्रीय विचारों की अभिव्यक्ति अंग्रेजी और फ्रांसीसी राष्ट्रवाद के विभिन्न स्वरूपों में किस प्रकार हुई है।
2. 'लोक' के विचार का समावेश विभिन्न तरीकों से फ्रांसीसी और जर्मन राष्ट्रवादों में किस प्रकार हुआ है, व्याख्या कीजिए।
3. निश्चायक स्वरूपों के रूप में ऐंडरसन की धारणा की क्या प्रासंगिकता है? आपके विचार में राष्ट्रवाद के वास्तविक अनुभव कहाँ तक निश्चायक स्वरूपों की धारणा को बनाए रख सकते हैं?
4. आपके विचार में राष्ट्रवाद की नागरिक और संजातीय श्रेणियों की विशेषताएँ और सीमाएँ क्या हैं?

इकाई 13 उपनिवेशवाद और उपनिवेश-विरोधी संघर्ष

संरचना

13.1 प्रस्तावना

13.2 आधुनिक उपनिवेशवाद का उद्भव और विस्तार

- 13.2.1 उपनिवेशवाद की अर्थव्यवस्था
- 13.2.2 उपनिवेशवाद का स्वरूप
- 13.2.3 साम्राज्यवाद के बारे में संवाद
- 13.2.4 उपनिवेशवाद का सामाजिक प्रभाव
- 13.2.5 मध्यवर्ग की भूमिका

13.3 उपनिवेशवाद के मामले का अध्ययन

- 13.3.1 अमेरिका में उपनिवेशवाद
- 13.3.2 दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में औपनिवेशिक साम्राज्यवाद
- 13.3.3 दक्षिण और पूर्व एशिया में उपनिवेश-विरोधी संघर्ष
- 13.3.4 जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका
- 13.3.5 एशियाई साम्राज्यों में उपनिवेशवाद
- 13.3.6 अफ्रीका में उपनिवेशवाद

13.4 उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों के पैटर्न

- 13.4.1 आदर्श के रूप में भारत
- 13.4.2 धर्म बनाम धर्म निरपेक्षता

13.5 सारांश

13.6 बोध प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

आधुनिक इतिहासकारों ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 20वीं शताब्दी के मध्य तक की अवधि को 'आधुनिक साम्राज्यवाद' का युग कहा है। 'साम्राज्य' शब्द 1872 में बेंजामिन डिजरेयली के द्वारा 1874 में ब्रिटेन के आम चुनाव के संदर्भ में गढ़ा गया था। साम्राज्यवाद के आलोचकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है, ब्रिटेन के उदारवादी, जे. ए. हॉब्सन तथा बोल्सेविक क्रान्ति के रूसी मार्क्सवादी नेता, वी आई लेनिन।

वास्तव में इसे 'औपनिवेशिक साम्राज्य काल' कहा जाना चाहिए। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंजिलस ने 'उपनिवेशवाद' शब्द का प्रयोग किया। हॉब्सन पहला व्यक्ति था जिसने 'साम्राज्यवाद' शब्द का प्रयोग आर्थिक दृष्टिकोण से किया तथा बाद में अनेक राजनीतिक अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों द्वारा प्रबल संवाद आरंभ हुआ जो अभी तक समाप्त नहीं हुआ है।

साम्राज्यवाद मूल रूप से एक राजनीतिक संकल्पना है जो अन्य देशों के ऊपर एक देश

के आधिपत्य को सूचित करता है। उपनिवेशवाद मूलतः एक जनसांख्यिकीय संकल्पना है जो किसी विदेश में आबादी की उपस्थिति का द्योतक है। निःसंदेह जब एक आबादी अपने मूल देश को छोड़कर किसी अन्य देश में स्थानीय लोगों की शर्तों के रूप में रहती है। ऐसी आबादी को विदेशी या आप्रवासी, या अल्पसंख्यक कहा जाता है। लेकिन जब विदेशी आबादी स्थानीय लोगों पर संख्या या शक्ति या दोनों के संदर्भ में आधिपत्य करती है तो प्रायः उन्हें औपनिवेशिक कहा जाता है। निःसंदेह शक्ति के संदर्भ में और सामाजिक विज्ञान के संदर्भ में अन्य व्यक्तियों के ऊपर अधिकार का स्पष्ट अर्थ राजनीतिक अधिकार है। लेकिन ये तब तक साम्राज्यवादी अधिकार नहीं है जब तक विदेश में उसका कोई ऐसा केन्द्र न हो जहाँ से अधिकार ग्रहण किए जाते हैं। दूसरी तरफ, उस देश में साम्राज्यवादी नियम के अंतर्गत साम्राज्यवादी सरकार के कार्मिकों की उपस्थिति आवश्यक होती है चाहे अस्थायी रूप से हो। बहरहाल उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद दोनों में अर्थव्यवस्था का तत्त्व अत्यधिक होता है।

13.2 आधुनिक उपनिवेशवाद का उद्भव और विस्तार

13.2.1 उपनिवेशवाद की अर्थव्यवस्था

उपनिवेश एवं साम्राज्य स्थापित करना दोनों ही प्राचीन परम्पराएँ हैं। प्राचीन यूनान और रोम दोनों के उपनिवेश तथा साम्राज्य का थे। यद्यपि साम्राज्य का अर्थ है उपनिवेशों से बड़ा राज्य क्षेत्र। ऐसे उपनिवेश को गृह देश का सहारा होता है जो बदले में उपनिवेशों से राजस्व प्राप्त करता है। 15वीं और 16वीं शताब्दियों में भूमि और स्वर्ण जैसे प्राकृतिक संसाधनों की तलाश में यूरोपीय अधिकारों का एक बड़ा उपनिवेशवाद चला। अमेरिका और अफ्रीका के महाद्वीप इसके शिकार हुए। बाद में एशिया और ऑस्ट्रेलिया इस आन्दोलन के शिकार हुए। 17वीं शताब्दी के अंतिम उत्तरार्ध में इतिहासकार जी एम ट्रेवेलियन द्वारा बताया गया कि इंग्लैण्ड के राज्यकर्मियों एवं व्यापारियों ने अपने अमेरिकी उपनिवेशों को उच्च महत्व दिया। वे लिखते हैं

‘समुद्रपार आधिपत्यों को दोहरे उद्देश्य पूरे करने के रूप में आँका गया। एक था, पुराने इंग्लैण्ड के उद्यमियों, विरोधियों, शोषित, ऋणग्रस्त, अपराधियों तथा असफल व्यक्तियों की दुनिया जहाँ अत्यधिक अच्छे या बुरे व्यक्तियों की कर्मठता अपने गृह (देश) में समस्या न बने और उन्हें शायद सामान्य लाभ के लिए उपर्युक्त बनाया जा सके क्योंकि तब तक इंग्लैण्ड में आबादी का अधिक दबाव व आर्थिक संकट का भीषण प्रश्न नहीं था। दूसरा, उपनिवेशों को इंग्लैण्ड के उद्योगों और व्यापार के लाभ हेतु ऐसे बाज़ार के रूप में देखा गया जहाँ से कच्चा माल प्राप्त किया जा सके तथा तैयार माल बेचा जा सके।

18वीं शताब्दी के अंत में, उत्तरी अमेरिका में 13 ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य से अलग हो गए तथा यद्यपि उन्होंने शीघ्र ही स्वयं को राज्य घोषित कर दिया तो भी वे कुल मिलाकर उपनिवेश ही बने रहे। उन्होंने या तो अपना अस्तित्व समाप्त कर लिया था अथवा उनके मूल निवासी आत्म संयमित हो गए थे। लेटिन अमेरिका के पुर्तगाली और स्पेनी उपनिवेशों में भी प्रक्रिया कमोबेश वहीं थी परन्तु उसमें कुछ मिश्रण था। 19वीं शताब्दी

की प्रथम तिमाही में ये इरिक हॉबरबॉम ने जिसे 'क्रियोल राष्ट्रवाद' कहा गया है। की वृद्धि से ब्रिटेन और अमेरिका के समर्थन से अपने साम्राज्यों से पृथक् हो गए।

19वीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटेन विश्व का सबसे बड़ा औपनिवेशिक साम्राज्य बन गया था। ब्रिटिश ताज़ ने 1858 में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी से भारत का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। जल्दी ही उसने अपने सफेद उपनिवेशों को स्थानीय स्वायत्तता प्रदान कर दी लेकिन उनकी अर्थव्यवस्था पर वित्तीय नियंत्रण कमोबेश पूरी तरह रहा। नीदरलैंड और फ्रांस ने दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका में अपने उपनिवेश स्थापित किए। नए राज्य बेल्जियम ने भी अफ्रीका के कॉंगो में एक उपनिवेश हथिया लिया था। जब जर्मनी इस दौड़ में शामिल हो गया तो 19वीं शताब्दी की अंतिम तिमाही में अफ्रीका में उपनिवेश हथियाने की तीव्र दुश्मनी के कारण फूट पड़ी और जिसके परिणामस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा।

13.2.2 उपनिवेशवाद का स्वरूप

1865 में मार्क्स ने तीन प्रकार के उपनिवेशों की पहचान की:

- 1) वेस्ट इंडीज की तरह बागबानी उपनिवेश
- 2) मेक्सिको और भारत की तरह के अत्यधिक आबादी वाले देश
- 3) ऑस्ट्रेलिया की तरह वास्तविक उपनिवेश

19वीं शताब्दी के अंत में ऐंजल्स द्वारा उपनिवेश की सूची में अफ्रीका की तरह 'स्टाक मार्केट की सहायक' मार्केट शब्द जोड़ा गया।

यद्यपि अनेक ब्रिटिश इतिहासकार इसके साक्षी होंगे कि व्यापार के साथ शासन ने पैर जमाए हैं लेकिन मार्क्स के अनुसार सामान्यतः उपनिवेश का और विशेषकर ब्रिटेन का आरंभिक व्यापार औद्योगिक पूँजी के लिए आरंभिक संग्रहण करने की प्रक्रिया का एक हिस्सा था। जैसे अमेरिका में सोने और चाँदी की खोज करना, आदिवासी आबादी की खानों में दोहन करना, लोगों को दास बनाना तथा दबा के रखना, ईस्ट इंडीज में विजय अभियान और लूटपाट को आरंभ करना, काले लोगों के व्यावसायिक शोषण के लिए अफ्रीका को भूल भुलैया में परिवर्तित करना तथा पूँजीवादी उत्पादन के सुनहरी उदय को सूचित करना आदि। ये आदिवासी क्षेत्रों से आरंभिक संग्रहण करने के लिए ये आदर्श कारवाइयों के मुख्य क्षण रहे।

आरंभिक संग्रहण के विभिन्न क्षणों को अब परस्पर आंबटित किया गया कमोबेश यह क्रमानुसार था विशेषतः स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, फ्रांस और इंग्लैंड में यह क्रम लागू किया गया। 17वीं शताब्दी के अंत में इंग्लैंड में वे व्यवस्थित रूप से संगठित हो गए। उपनिवेशों को मिलाने, राष्ट्रीय ऋण, कर के आधुनिक स्वरूप को लागू करने तथा संरक्षण व्यवस्था लागू करने के लिए एकत्रित हुए थे। ये पद्धतियाँ आंशिक रूप से भूमण्डलीय ताकत अर्थात् औपनिवेशिक प्रणाली पर निर्भर थीं। लेकिन उन सभी ने राज्य के अधिकार लागू किए।

ये अधिकार केन्द्रित और समाज की संगठित शक्ति थे। ये अधिकार उत्पादन के सामन्ती रूपों की निर्माण प्रक्रिया को पूँजीवादी रूप में परिवर्तित करने तथा परिवर्तन को शीघ्र लागू करने के लिए ताप गृह प्रथा के अनुसार लागू किए गए। ये अधिकार प्राचीन समाज में आने वाली नई विचारधारा के पोषक थे। यह स्वयं में आर्थिक शक्ति थे। मार्क्स के विचार में यह भूमण्डलीय शक्ति राज्य द्वारा पोषित तथा अधीनस्थ देशों के विरुद्ध आर्थिक कपटपूर्ण व्यवस्था थी। इस प्रकार के पूँजीवादी उपनिवेशवाद की कुछ विशेषताएँ हैं। ब्रिटेन की संसदीय कार्यवाही का उदाहरण देते हुए मार्क्स ने दिखाया है कि इंग्लैण्ड भारत के आयात के बदले पूर्ण भुगतान नहीं करता था क्योंकि इसके लिए इंग्लैण्ड 'अच्छी सरकार' प्रदान करने के नाम पर इसका भुगतान लेता था। वह लिखता है,

"अकेले भारत को "अच्छी सरकार" के बदले में 5 मिलियन चुकाने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश राशि पर ब्याज और लाभांश तथा कर्मचारियों द्वारा वेतन के रूप में की गई बचत एवं इंग्लैण्ड में निवेश करने के लिए व्यापारियों द्वारा लाभ के रूप में सालाना इंग्लैण्ड भेजे गए धन की गणना नहीं की जाती थी। प्रत्येक ब्रिटिश उपनिवेश इसी कारण निरंतर बड़ी राशि भेजता था। ऑस्ट्रेलिया, वेस्ट इंडीज और कनाडा में अनेक बैंक ब्रिटिश पूँजी के साथ स्थापित हुए तथा उनका लाभांश इंग्लैण्ड में चुकाया जाता था। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में अनेक विदेशी प्रतिभूतियाँ, यूरोपीय, उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका प्रतिभूतियों का अधिग्रहण कर लिया था जिसपर वह ब्याज अर्जित करता था। इसके अतिरिक्त उसकी विदेशी रेल व्यवस्था, नदियाँ, खदानों आदि में होने वाले लाभांश में भी रुचि थी। इसके अतिरिक्त लगभग इन सभी मदों पर केवल इंग्लैण्ड को होने वाले निर्यात राशि पर छूट प्रदान की जाती थी। दूसरी तरफ इंग्लैण्ड से विदेश स्थित इंग्लिश प्रतिभूतियों के मालिकों को और विदेशों में अंग्रेजों के उपभोग के लिए भेजे जानी वाली मदों में महत्वपूर्ण अंतर होता था।"

19वीं शताब्दी के मध्य तक उपनिवेशवाद मार्क्स के कथन के अनुरूप विदेश में ऋण और निवेश के माध्यम से पूँजीवादी उत्पादन के विस्तारित रूप से संबद्ध हो गया। इस नीति के मुख्य साधन बैंक तथा स्टॉक एक्सचेंज थे। ये तथ्य लेनिन ने अपने साम्राज्यवाद (पूँजीवादी) के विस्तारण में विशेष रूप से उजागर किए हैं।

13.2.3 साम्राज्यवाद के बारे में संवाद

औपनिवेशिक साम्राज्यवाद हमेशा दो प्रकार का औचित्य सिद्ध करता था। एक यह था कि पिछड़े देशों के लाभार्थ सभ्यता मुहिम चलाना गोरों की जिम्मेदारी थी। दूसरा यह अनजाने में पश्चिम का व्यापार बाधा रहित होने के कारण हालात की मजबूरी थी। 1961 में रोबिसन और गैलेफर ने अपने शोध ग्रंथ में दर्शाया है कि ब्रिटेन ने प्रायः अपने सहयोगियों के माध्यम से गैर-यूरोपीय देशों के साथ व्यापार किया है। वह अकेले तब ही व्यापार करता था जब ऐसे सहयोगी नहीं मिलते थे या वे इसके विपरीत सोचते थे कि वह उनके प्रदेश को भी अपने में मिला लेगा। फिर, ब्रिटेन का अफ्रीका को मिलाना मुख्यतः भारत के लिए व्यापार मार्गों के लिए सुरक्षा कवच था। गैलेफर के भारतीय छात्र अनिल सील ने इस अनुसंधान को और आगे बढ़ाया, उसने बताया कि ब्रिटेन के द्वारा भारत को अपने साथ मिलाने का मुख्य उद्देश्य उसके ईस्ट इंडीज के व्यापार मार्गों

की सुरक्षा करना था।

जे. हॉब्सन द्वारा आर्थिक साम्राज्यवाद पर सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं अपितु इंग्लैण्ड के मुट्ठी भर पूँजीपतियों के लाभ का आरोप लगाने से 20वीं शताब्दी में उपनिवेशी साम्राज्यवाद पर एक गंभीर संवाद आरंभ हो गया था। 1917 में लेनिन ने आर्थिक साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की एक ऐसी उच्चतम अवस्था माना जिसने संपूर्ण विश्व को पश्चिमी नेतृत्व में विभाजित कर दिया जिसके कारण प्रथम विश्व युद्ध हुआ। उसने एकाधिकार का विस्तार, औद्योगिक पूँजी तथा आर्थिक पूँजी की संबद्धता तथा उपनिवेशों को पूँजी का निर्यात इस पूँजीवाद की इस समय की प्रमुख विशेषताएँ थीं।

फिर भी, 1919 में एक उदार जर्मन अर्थशास्त्री जे. ए. स्कंपीटर ने साम्राज्यवाद समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमें पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के अनिवार्य संबंध से इंकार किया गया है। उसने साम्राज्यवाद को पूर्ववर्ती और सामंतवादी मनोवृत्तियों तथा कुछ पूँजीवादी सामाजिक संरचनाओं में से प्रवाहित होने वाला माना है।

लेनिन के आलोचकों ने साम्राज्यवाद के तीसरे तथ्य-उपनिवेशों को पूँजी के निर्यात के बारे में चुनौती दी है। उन्होंने यह दिखाने के लिए विवरण प्रस्तुत किया है कि अधिकांश ब्रिटिश विदेशी निवेश उनके आत्म नियंत्रित राज्य क्षेत्रों (गोरे उपनिवेशों) और स्वतंत्र लेटिन अमेरिकी देशों में किया जाता था न कि भारत में। केवल द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही ब्रिटेन ने अफ्रीका में विकास के लिए निवेश करना आरंभ किया। इस प्रकार लेनिन की यह आलोचना मार्क्स के उपनिवेशों के आरंभिक स्रोत संग्रहण वाले तर्क को ही दृढ़ करती है। लेकिन लेनिन को उपनिवेशवाद के मुख्य उद्देश्य कच्चे माल का दोहन करने वाले तथ्य की उपेक्षा करने के बारे में दोष नहीं दिया जा सकता। अपितु उसने इस पक्ष को जोर देकर एक गतिशील दिशा प्रदान की कि यह विकसित पूँजीवाद की निरंतर आवश्यकता थी। उसके अनुसार जितना अधिक पूँजीवाद विकसित होगा कच्चे माल की उतनी ही अधिक कमी महसूस होगी। इसी प्रकार पूरे विश्व में कच्चे माल के स्रोत के लिए जितनी अधिक प्रतिस्पर्धा और दोहन होगा उतना अधिक ही उपनिवेशों का अधिग्रहण करने के लिए घोर संघर्ष होगा।

यहाँ तक कि गैर-मार्क्सवादी इतिहासकारों के द्वारा भी कच्चे माल का दोहन और तैयार वस्तुओं का विपणन उपनिवेशी साम्राज्यवाद की मुख्य विशेषताएँ बताई गई हैं। भारत के पूर्व राजनीतिक अर्थशास्त्रियों, जैसे दादा भाई नारौजी, एम. जी. रानाड़े व आर. सी. दत्त ने उपनिवेशी अधिकारों के द्वारा संबंधित लोगों के प्रत्यक्ष शोषण वाले पक्ष को उजागर किया है जो भारत के लोगों की गरीबी का मुख्य कारण था।

दूसरी ओर, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अमेरिकी क्रान्ति के बाद ब्रिटेन के उपनिवेशों को कुछ स्वायत्तता प्रदान की गई जो उत्तरी अमेरिका के उपनिवेशों को कभी नहीं मिली। फिर अमेरिकी क्रान्ति के कुछ वर्ष बाद ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ अपने संबंधों में सुधार किया। 1812 के मोनरॉड डॉक्ट्रीन ने लेटिन अमेरिकी धरती पर ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ स्पर्धा से सभी यूरोपीय अधिकारों को अलग कर दिया। लेटिन अमेरिका स्वास्तिक उपनिवेशों के रूप में विकसित हुआ।

13.2.4 उपनिवेशवाद का सामाजिक प्रभाव

उपनिवेशवाद का निर्विवाद रूप से मुख्य प्रभाव आर्थिक होता है लेकिन इसका सामाजिक प्रभाव भी होता है। उपनिवेशवादी इतिहास को कैम्ब्रिज विद्यालय के वास्तविक संस्थापक आर. रोबिंसन ने आरंभिक व्यापार और उपनिवेशवाद के कार्यान्वयन में सहयोगियों की भूमिका पर प्रमाणिक जोर दिया। स्वाभाविक है कि मुख्य लोगों और जनता के बीच सामाजिक संबंध ऐसे कार्यान्वयन से प्रभावित होते हैं। कुछ उपनिवेशों में मूल देशवासियों को जानबूझकर नष्ट किया गया या हाशिये पर रखा गया। कुछ स्थानों पर जातीय मिश्रण हुआ और कुछ स्थान घनी आबादी वाले थे, जहाँ लोगों की सांस्कृतिक गतिविधियाँ प्रभावित हुईं। कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने आधुनिकीकरण की तरफ बढ़ने के लिए जो भी मिला ग्रहण कर लिया तथा कुछ लोगों के रूढ़िवादी तरीके से प्रतिक्रिया की। फिर भी, अधिकतर मामलों में प्रतिक्रियाएँ मिश्रित थीं कुछ क्षेत्रों में अंशतः आधुनिक तथा कुछ मामलों में अंशतः रूढ़िवादी।

महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि उपनिवेशवाद के सहयोगी समय-समय पर बदलते रहते थे। पुराना समूह शासकों के प्रति कुंठित होकर आलोचक और यहाँ तक कि हिंसक हो जाता था जबकि फिर कुछ नए समूह शामिल कर लिए जाते थे। फिर भी, औपनिवेशिक शासन के सहयोगी या विरोधी आधुनिकता या रूढ़िवादिता से एक दम दूर नहीं होते। यद्यपि कभी-कभार रूढ़िवादी लोग उपनिवेशी शासन व्यवस्थाओं के आधुनिक आन्दोलनों का विरोध करने लगते थे। अफ्रीकी-एशियाई देशों के ऊपर अपने अधिकार जमाने की पश्चिम की आरंभिक कोशिशों का उपनिवेशी लोगों के द्वारा प्रतिरोध किया गया था। इसका एक विशिष्ट उदाहरण जिसे ब्रिटेन वाले 'भारतीय विद्रोह' कहते हैं। उपनिवेशी सरकारें तथा उनके इतिहासकार ऐसे विद्रोहों को उनकी प्रगतिशील, कल्याणकारी गतिविधियों का रूढ़िवादी प्रतिरोध कहते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने उन्हें 'आरंभिक प्रतिरोधी आन्दोलन' कहा है।

13.3 उपनिवेशवाद के मामले का अध्ययन

गैर-यूरोपीय महाद्वीपों के बारे में उपनिवेशवाद और उपनिवेश विरोधी संघर्षों का संक्षिप्त विवरण उपर्युक्त तथ्यों को सिद्ध कर देंगे:

13.3.1 अमेरिका में उपनिवेशवाद

कोलम्बस के कदम पड़ने पर स्पेन और पुर्तगाल के नजदीक आने के साथ अमेरिकी महाद्वीपों में उपनिवेशवाद आरंभ हुआ। अपने कैथोलिक विश्वास के कारण स्पेन और पुर्तगाल दोनों में पोप के प्रति श्रद्धा होने और पोप के द्वारा हस्तक्षेप करने से उपनिवेश के लिए विश्व गोलार्द्ध में विभाजित हो गया जिसमें पश्चिमी गोलार्द्ध ब्राजील से लेकर पुर्तगाल में तथा पूर्वी गोलार्द्ध ब्राजील से लेकर स्पेन में पड़ता है। स्पेन ने मैक्सिको का अधिग्रहण कर लिया और उसका अधिकांश उत्तरी क्षेत्र संयुक्त राज्य अमेरिका से संबद्ध है। ब्रिटिश और फ्रांसीसी उपनिवेशकों द्वारा दो देश अपना लिए गए। अंततः ब्रिटिश

औपनिवेशिक फ्रांसीसी और स्पेनी औपनिवेशिकों को परास्त कर या उनके क्षेत्रों पर आधिपत्य कर पर्याप्त रूप से उन्हें विस्थापित कर अन्यो की तुलना में अधिक सफल हुए। 1976 में 13 'नए इंगलैण्ड' की कालोनी सम्राट से अलग हो गई। दूसरी तरफ, कनाडा संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तर में वफादार उपनिवेश के रूप में प्रकट हुआ और 1867 में उसे पर्याप्त स्वायत्तता का पूरा आकार प्रदान किया गया। फ्रांसीसी मूल के कनाडा में विवादित विषयों को सुलझाने के लिए वहाँ सरकार की संघीय व्यवस्था भी स्वीकृत की गई। व्यापक वृक्षारोपण को बढ़ाने के लिए फ्रांसीसी उपनिवेशी शासन कुछ कैरिबियन द्वीपों तक सीमित रह गया था।

19वीं शताब्दी के आरंभ में ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की अप्रत्यक्ष सहायता से लेटिन अमेरिकी देशों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया। 1812 में अमेरिका के राष्ट्रपति मुनरो ने घोषणा की कि किसी भी यूरोपीय शक्ति को इस महाद्वीप में नहीं आने दिया जाएगा। संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीतिक प्रभाव एवं ब्रिटेन के आर्थिक प्रभाव से लेटिन अमेरिकी राज्य सीमित होकर और प्रायः तानाशाही नेतृत्व में अस्थिर राज्य व्यवस्थाओं के कारण ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के आश्रित हो कर रह गए थे। उनकी उपज, खदानें और विशेषतः तेल निर्यात व्यापार एंग्लो-संयुक्त राज्य अमेरिका पर वास्तविक नियंत्रण के माध्यम से नियंत्रण में आ गए। केवल द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही क्यूबा, चिल्ली, अर्जेंटीना तथा कुछ अन्य देशों में इस प्रकार की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह हुआ। फिर भी, क्यूबा के अतिरिक्त इनमें से कोई भी विद्रोह टिक नहीं पाया।

13.3.2 दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में औपनिवेशिक साम्राज्यवाद

19वीं शताब्दी के आरंभ में भारत और सिलोन (आधुनिक श्रीलंका) सहित दक्षिणी एशिया ब्रिटिश के नियंत्रण में था। तो भी भारत में यह अधिकार तकनीकी रूप से दिल्ली मुगल शासकों के पदाधिकारियों के रूप में इंगलिश ईस्ट इंडिया के द्वारा लागू किए जाते थे। 1857 में शासकों को पदच्युत कर दिया गया था। 1858 में इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने राज्य और ब्रिटिश इंडिया की सरकार का अधिग्रहण कर लिया। फिर भी एक तिहाई उपमहाद्वीप को स्वदेशी राजकुमारों के अधीन नाममात्र रूप से स्वतंत्र रहने दिया। 1877 में महारानी विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित किया गया तथा राजकुमारों के राज्यों को ब्रिटिश ताज की प्रभुसत्ता के अंतर्गत लाया गया।

तटीय सिलोन (श्रीलंका) की डच राज्य से 1796 में तथा 1815 में आंतरिक भूमि को भी अधिग्रहण कर लिया गया। बीच के वर्षों में श्रीलंका मद्रास राज्य के अध्यक्ष के एक भाग के रूप में शासित रहा। 1815 में यह ताज का उपनिवेश के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत को उसके विशाल और विभिन्न आर्थिक स्रोतों के कारण हीरा समझा जाता था। सिलोन (श्रीलंका) को कृषि उपनिवेश के रूप में विकसित किया गया।

1886 तक बर्मा (म्यांमार) को उसकी जंगलात, तेल और कृषि स्रोतों के कारण साम्राज्य के व्यापक लाभ हेतु मिला लिया गया। ब्रिटेन ने अफगानिस्तान को मिलाने का प्रयास

किया लेकिन रूसी बादशाह (ज़ार) के द्वारा यह विफल कर दिया गया। फिर भी 1902 में इस देश का अधिकांश क्षेत्र ब्रिटिश भारत में मिला लिया गया।

पूर्व की तरह ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा डच में प्रदेशों को हड़पने के लिए प्रतिस्पर्धा थी और उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया को इस प्रकार विभाजित कर दिया था। सिंगापुर और हाँगकांग सहित मलेशिया ब्रिटेन के लिए थे, इंडोनेशिया डच के लिए तथा कंबोडिया (आज का कम्पुचिया) लाओस तथा वियतनाम सहित इंडो-चीन फ्रांस के लिए था। वियतनाम में चीन को छोड़कर फ्रांसीसियों ने राजवंश के शासकों को सीमित राजनीतिक स्वायत्तता प्रदान कर दी थी लेकिन इंडो-चीन पर संपूर्ण आर्थिक नियंत्रण बनाए रखा।

13.3.3 दक्षिण और पूर्व एशिया में उपनिवेश-विरोधी संघर्ष

1848 में विद्रोह के बाद सिलोन ने राजा के साथ शान्ति स्थापित की। 1931 में उसे संपूर्ण वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया जिसे ब्रिटेन ने भारतीयों को कभी नहीं दिया। सिलोन की स्वतंत्रता की प्रगति संवैधानिक थी जिसका नेतृत्व आंशिक रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से तथा अंशतः अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्तों से प्रभावित शिक्षित विशिष्ट वर्ग ने किया था।

बर्मा को ब्रिटेन-भारत का अप्रत्यक्ष सहारा (बैकयार्ड) माना गया जिसका यह 31 मार्च 1937 तक एक हिस्सा रहा। इसमें 1919 के वे सुधार स्वीकृत करने से भी इंकार कर दिया गया जिनके द्वारा ब्रिटिश-भारत के अन्य प्रान्तों में दोहरी शासन प्रणाली स्थापित की गई थी। इसका मध्य वर्ग जो अधिकांशतः उपजाऊ इरावडी घाटी में स्थापित था उसने उन प्रान्तों की तरह सुधारों के लिए आन्दोलन किया। इस प्रकार 1937 में बर्मा में ब्रिटिश भारत से अलग होने के बाद कुछ स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की गई।

ब्रिटिश शासकों ने ताज़ा उपनिवेश स्थापित नहीं किया जैसा कि उन्होंने 'मलय-पेनिंसुला' में देखा था। उनकी शक्ति का आधार संरक्षक व्यवस्था थी संपूर्ण प्रशासन अपने हाथ में लेकर जो स्थानीय शासकों की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर परस्पर तथाकथित समझौतों के माध्यम से की गई थी। यद्यपि अधिकतर चीनी और भारतीय उपनिवेशों के चीन की कम्युनिस्ट पार्टी कैमिंटिंग तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ अच्छे संपर्क थे तो भी जापान की द्वितीय विश्व युद्ध में हार के बाद स्थानीय मलेशियाई राजनीतिक रूप से काफी सक्रिय हो गए थे जब ब्रिटेन ने एक मलय यूनियन बनाने का प्रस्ताव रखा।

फ्रांसीसियों ने संरक्षक के रूप में अधिकांश इंडो-चीन (कम्बोडिया, लाओस, अन्नान व टोंकिन) पर नियंत्रण किया। केवल कोचिन चीन ही उनके प्रत्यक्ष नियंत्रण में था। इंडो-चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जापानी प्रतिरोधी शक्ति विरोधी ताकतों ने एक गणतंत्र के रूप में वियतनाम के निर्माण की घोषणा की। यह पश्चिमी ताकतों विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका को शामिल करते हुए इतिहास में सर्वाधिक बदनाम सिविल युद्धों में से एक युद्ध की शुरुआत थी।

13.3.4 जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका

दक्षिण और पूर्वी एशिया में उपनिवेशवाद की कथा 20वीं शताब्दी के आरंभ में जापानी साम्राज्य के उत्थान का संदर्भ बताए बिना पूरी नहीं होगी। आरंभ में 1902 में जापान का संघर्ष ब्रिटेन के साथ तथा 1904 में रूसी ज़ार के साथ हुआ। उसने कोरिया का 1905 में अधिग्रहण कर 1911 में अपने में मिला लिया। उसने चीन और पैसिफिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के साथ संयुक्त पक्ष की तरफ से प्रथम विश्व युद्ध में लड़ाई की। वास्तव में 1931 में उसने मंजुरिया पर आक्रमण किया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान वह मुख्य ताकतों में शामिल हो गया तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया पर हमला करते हुए ब्रिटिश-भारत की सीमा रेखा तक आगे बढ़ गया। इससे दक्षिणी-पूर्वी एशिया में राष्ट्रवाद के उत्थान को बहुत सहायता मिली तथा इस क्षेत्र में यूरोपीय ताकतों का नियंत्रण कमज़ोर हो गया। यहाँ तक संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1898 में फिलिपंस को अधिग्रहण कर लिया और 1946 तक अपने अधिकार में रखा।

13.3.5 एशियाई साम्राज्यों में उपनिवेशवाद

शेष एशियाई महाद्वीप लगभग पूरी तरह तीन साम्राज्यों - चीन, रूसी ज़ार तथा तुर्की में विभाजित था। यहाँ उपनिवेशों और एक साम्राज्य के बाहरी हिस्सों में अन्तर किया जाना चाहिए। उपनिवेश भौगोलिक रूप से मुख्य भूमि से पृथक होता है जबकि साम्राज्य में ऐसा नहीं होता। चीनी और रूसी साम्राज्य तथा कुछ हद तक तुर्की साम्राज्य भौगोलिक रूप से संघटित थे। फिर भी तीनों यूरोपीय उपनिवेशी अधिकारों की क्षेत्रीय अभिलाषाओं तक सीमित थे।

प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ तक ब्रिटेन ने चीन में अफीम के मुक्त व्यापार के अधिकार प्राप्त करने के लिए लड़ाई लड़ी। 1840 की 'अफीम लड़ाई' (ओपियम वार) ने चीन को पश्चिमी ताकतों के साथ 17 असमान संधियों पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया और जापान ने उस देश को इन ताकतों का वास्तविक रूप से आश्रित बना दिया।

किसी तरह रूस अपने क्षेत्र में एंग्लो-फ्रांसीसी षड्यंत्र का प्रतिरोध करने में सक्षम रहा और 1907 में उसने ब्रिटेन से ईरान में उसका क्षेत्र छीन लिया। यद्यपि ब्रिटेन ने नवीनतम खोजे गए व्यापक तेल स्रोतों पर अपना एकाधिकार बनाए रखा। प्रथम विश्व युद्ध के बाद बोल्सेविक क्रान्ति ने इस साम्राज्य को बहुराष्ट्र संघ में परिवर्तित कर दिया था जो 1990 में समाप्त हो गया।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद तुर्की साम्राज्य बिखर गया तथा इसका पश्चिमी एशियाई अधिकार राष्ट्र लीग के द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस को सौंप दिया गया। इन क्षेत्रों में से सउदी अरब को 1932 में स्वतंत्रता प्रदान कर गई। दूसरे विश्व युद्ध के बाद शेष अरब देशों ने एक न्यास राज्य क्षेत्र बना लिया और वे ब्रिटेन और फ्रांस के नियंत्रण में आ गए। 1950 के दशक तक उनको स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।

13.3.6 अफ्रीका में उपनिवेशवाद

लेटिन अमेरिका के बाद अफ्रीका सबसे अधिक आक्रांत था। सहारा मिश्र का उत्तरी क्षेत्र उप-महाद्वीप का सर्वाधिक हिस्सा था। यह किसी भी यूरोपीय शक्ति से विजीत नहीं हुआ तो भी ब्रिटेन और कुछ हद तक फ्रांस ने इस पर पर्याप्त अधिकार जमा लिया तथा इस देश पर नियंत्रण किया। प्रथम विश्व युद्ध 1914 में ब्रिटेन ने स्वयं को मिश्र का संरक्षक घोषित कर दिया जिससे जनता की नाराजगी बढ़ गई और आन्दोलन होने लगे। ब्रिटेन द्वारा 1922 में संरक्षणता समाप्त करने की घोषणा की लेकिन उन पर ब्रिटेनी दबाव बनाए रखा जिससे 1936 में उसे एक असमान एंग्लो-मिश्र सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। जब सन्धि के द्वारा ब्रिटेन को स्वेज़ नहर और कुछ अन्य क्षेत्र ब्रिटेन को प्राप्त हो गए। मिश्र के पड़ोसी सूडान और इथोपिया अभी भी औपनिवेशिक ताकतों के अधीन जो ट्यूनिशिया, अल्जीरिया, मोरोक्को का एक भाग तथा मध्य और पश्चिमी अफ्रीका से सटा हुआ बड़ा क्षेत्र फ्रांस के अधीन था। लेकिन उपमहाद्वीप का बड़ा हिस्सा ब्रिटेन के अधीन था। अफ्रीका के अन्य स्वामी स्पेन, इटली, बेल्जियम और जर्मनी थे।

अफ्रीका की तरफ आकर्षित करने वाला पहला 'व्यवसाय' था दासता। बाद में हाथी दांत के व्यवसाय ने व्यापारियों को इस महाद्वीप में अत्यधिक आकर्षित किया। इसमें कुछ धर्म प्रचारक भी आ गए जिन्हें स्थानीय निवासियों द्वारा मार दिया गया। इससे सेना अर्थात् पश्चिमी ताकत महाद्वीप में प्रवेश कर गई। 19वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोपीय ताकतें अफ्रीका में हीरे, स्वर्ण और अन्य बहुमूल्य खनिजों के बारे में जान गई थीं। उन्होंने अफ्रीका को विभाजित करने की उत्तेजक कूटनीतिक गतिविधियाँ चलाई और 19वीं शताब्दी के अंत तक उनमें विभाजन आरंभ हो गया। अब अफ्रीका के लिए छीना-झपटी था जिसने पूँजीवादी साम्राज्यवाद के चरित्र को स्पष्ट रूप से उजागर कर दिया था।

13.4 उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों का स्वरूप

इस वंचित और शोषित होने की भावना ने मुख्य लोगों की निष्क्रियता को तोड़ा। औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद आधुनिक उच्च वर्गों ने औपनिवेशिक शासन के विरोध का नेतृत्व किया। उन्होंने लोगों को एक मंच पर संगठित किया गया शासकों से अपनी बात कहने तथा एक समान व्यवहार के अधिकार की माँग की। आरंभ में उनकी आवाज में नम्रता थी लेकिन बाद में कुंठित होकर उनमें उग्रवाद पनपने लगा। जैसे 19वीं शताब्दी के अंत से तीन दशक पूर्व भारत में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन (जिसे ब्रिटेन ने उग्रवादी कहा है) काफी शक्तिशाली था। दूसरे महाद्वीप के दौरान और उसके बाद एशिया और अफ्रीका में उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों में हिंसक घटनाओं का व्यापक बोलबाला हो गया था।

शासक व्यवस्था के सहयोगी रूढ़िवादी तथा आधुनिक दोनों 'पड़ों' का संपर्क में थे लेकिन स्थानीय समाजों के दोनों वर्गों में उनके विरोधी थे। कहना व्यर्थ है कि एक ही समय में सहयोग लाभ उठाने वाले थे तथा विरोधी उससे वंचित रहते थे। फिर भी, उपनिवेश-विरोधी आन्दोलन विभिन्न रूपों में बढ़ते गए।

13.4.1 आदर्श के रूप में भारत

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारतीयों को एक निष्ठावान लेकिन आलोचनात्मक मंच पर

संगठित किया। उसने भारतीय समाज के सभी वर्गों के उच्च लोगों को और यहाँ तक कि ब्रिटिश राज के कुछ सहृदय यूरोपीय लोगों को भी इसमें शामिल कर लिया। इसका नेतृत्व बेशक उच्च मध्यम वर्ग के पेशेवर लोगों के पास था लेकिन इसमें अनेक भूमिपति और राज विरोधी लोग शामिल थे और वे इसके समर्थक थे। 19वीं शताब्दी के अंत में इसमें एक चरम पंथी वर्ग का उदय हुआ जो क्रान्तिकारी हिंसक उपायों का पक्षधर था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जनसाधारण का दल बना दिया तथा एक असहयोग आन्दोलन के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को चुनौती दी। कई आरंभिक समूहों के इससे अलग होने के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ताकत धीरे-धीरे इतनी बढ़ती गई कि ब्रिटिश राज द्वारा अंत में इस संगठन को अधिकार सौंपने पड़े। लोक राजनीति और संविधानवाद एक विशेष प्रकार का मिश्रण इस संघर्ष की विशेषता थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस संपूर्ण औपनिवेशिक विश्व में अपने तरह का प्रथम संगठन था। कई तरीकों से अन्य उपनिवेशों विशेषतः दक्षिण-पूर्व एशिया में उसका अनुकरण किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति का विभिन्न सीमा में समाजवादी विश्व तथा इसके सिद्धान्तों के साथ संबंध स्थापित हो गया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान यहाँ तक कि पश्चिमी ताकतों के साथ अपने विरोध के कारण जापानी साम्राज्य भी दक्षिण-पूर्व और दक्षिण एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलनों में सहायता करने लगा।

अधिकांश अफ्रीका में आरंभिक प्रतिरोध असफल रहने के कुछ समय बाद उपनिवेश-विरोधी आन्दोलन प्रथम विश्व युद्ध के बाद आधुनिक उच्च वर्ग के नेतृत्व में आरंभ हुआ लेकिन दूसरे विश्व युद्ध के बाद यह मजबूत हुआ।

13.4.2 धर्म बनाम धर्म निरपेक्षता

1880 के दशक में धर्म आधारित, पैगम्बरी उपनिवेश-विरोधी संघर्ष सूडान-महदिष्ट (उद्धारक) में आरंभ हुआ। मुस्लिम दुनिया के कुछ अन्य हिस्सों में अति नैतिक बहावी आन्दोलन पुनः आरंभ हो गया था। इन आन्दोलनों का मिश्रित प्रमाण अखिल इस्लामी उत्थान के रूप में हुआ। इस्लामी विश्व के खलीफा तुर्की के सुल्तान के अपमान से नाराज मुस्लिम समाज के साथ यह पश्चिमी रोधी दिशा थी जिसने खलीफा आन्दोलन की उत्पत्ति की जिसका भारत और अफगानिस्तान में गहरा प्रभाव पड़ा।

फिर भी मुस्लिम समुदाय के अखिल मुस्लिमवाद का अखिल अरबीवाद पर विपरीत प्रभाव पड़ा। अनेक देशों में तुर्की साम्राज्य के खिलाफ नाराजगी थी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान इस नाराजगी को ब्रिटेन द्वारा बढ़ावा दिया गया क्योंकि तुर्की जर्मनी के नेतृत्व में विरोधी खेमे था। इसके परिणामस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध के बाद एंग्लो-फ्रांस संरक्षण के अंतर्गत अरबों के लिए अनेक अधीनस्थ क्षेत्रों की उत्पत्ति हो गई। एशियमी एशिया में गेलफीयोज ने इस व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व 1907-08 में तुर्की या यंग तुर्की के नाम से एक धर्मनिरपेक्ष

राष्ट्रीयवादी आन्दोलन चला। परन्तु यह आन्दोलन अति राष्ट्रीयवादी था जो तुर्की के राजशाही शान के पुनरुज्जीवित करने से संबंधित था। यह अरब आन्दोलनों में परिवर्तित हो गया।

दूसरी तरफ दोनों विश्व युद्धों के बीच की अवधि में तुर्की साम्राज्य में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयवादी आन्दोलन छेड़े गए। स्वयं तुर्की में कमल अरातुर्क ने तुर्की राजतंत्र को उखाड़ फेंका। मिश्र में वफद दल में चुनाव जीता लेकिन मिश्री शासक और उसके ब्रिटिश सहयोगियों के संयुक्त प्रयासों ने उन्हें सत्ता से दूर रखा।

19वीं शताब्दी के अंत में संगठित अश्वेत अफ्रीकी श्रमिकों ने कई खदान केन्द्रों पर हड़ताल कर दी थी। छात्रों और बड़े आश्चर्य की बात है कि इसाई चर्च के नेताओं ने अखिल अफ्रीकी आन्दोलन चलाने में उनका नेतृत्व किया। प्रथम अखिल अफ्रीकी कांग्रेस की 1991 में लंदन में बैठक हुई। लेकिन अखिल अफ्रीकीवाद एक वास्तविक उद्देश्य की अपेक्षा विचारधारा अधिक रही। 1920 में ब्रिटिश पश्चिमी अफ्रीका की राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई। अन्य संगठन जैसे कीनिया में केन्द्रीय किकीयु एसोसिएशन और दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसका अनुकरण किया। चूंकि अफ्रीकी उपनिवेशों की सीमा रेखाएँ अपनी इच्छा से निर्धारित की गई थी और जनजातीय घनिष्ठ संबंध बहुत दृढ़ थे इसलिए एक अखिल अफ्रीकी जागरूकता विकसित करने का भी प्रयास किया गया। फिर भी यह दूसरे विश्व युद्ध के बाद ही हुआ जिसमें अफ्रीकी सैनिकों ने महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था इसलिए ये आन्दोलन मजबूत और युद्ध प्रिय बन गए थे। साम्राज्यवादी ताकतों ने संपूर्ण अफ्रीकी जातीय दमन आरंभ कर दिया परन्तु अंत में उन्हें यह बन्द करना पड़ा।

13.5 सारांश

यद्यपि आरंभिक संघर्ष एक भौगोलिक और साम्राज्यवादी राजनीतिक निहितार्थ था तो भी दोनों व्यवस्थाओं का मजबूत आधार आर्थिक स्वार्थ था। आधुनिक उपनिवेशवाद 15वीं शताब्दी में आरंभ हो गया था और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चरम अवस्था में आ गया था जब साम्राज्यवाद वास्तव में पश्चिम के विकसित पूँजीवादी देशों का एक वास्तविक मार्ग बन गया। इसका असली उद्देश्य लक्ष्य देशों के प्राकृतिक संसाधनों को हड़पना और अपने तैयार उत्पादों के लिए पूँजी बाजार के रूप में विकसित करना था। इसके परिणामस्वरूप संघर्ष के कारण दो विश्व युद्ध हुए।

लक्ष्य देशों ने विजेताओं का आरंभिक प्रतिरोध किया। यह प्रतिरोध रूढ़िवादी था और प्रायः धार्मिक भावनाओं से जुड़ा था लेकिन वे सफल नहीं हुए। औपनिवेशिक साम्राज्यवादी ताकतों ने प्रायः सहयोगियों की सहायता से शासन किया लेकिन इस सहयोग का क्षेत्र सीमित था और उपनिवेशों के नाराज उच्च वर्ग अंत में संगठित हुए और उन्होंने शासक ताकतों का विरोध किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद एशिया में तथा दूसरे विश्व युद्ध के बाद अफ्रीका में उपनिवेश-विरोधी संघर्ष बहुत शक्तिशाली हो गया। 1970 के दशक तक उपनिवेश समाप्ति की प्रक्रिया समाप्त हो गई थी।

13.6 बोध प्रश्न

1. उपनिवेशवाद पर मार्क्सवादी विचारधारा की चर्चा कीजिए।
2. साम्राज्यवाद और इसकी आलोचनाओं के बारे में लेनिन के विचारों का विवेचन कीजिए।
3. दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया में उपनिवेश स्थापना और इस क्षेत्र में उपनिवेश-विरोधी संघर्षों का विश्लेषण कीजिए।
4. अफ्रीका में उपनिवेशवाद और उपनिवेश-विरोधी संघर्ष की समीक्षा कीजिए।
5. उपनिवेश-विरोधी संघर्ष में धर्म की भूमिका की चर्चा कीजिए।

इकाई 14 राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय

संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 अर्थ

14.2.1 राष्ट्रीयता और राष्ट्र

14.2.2 आयरिश उदाहरण

14.2.3 ब्रिटिश उपनिवेश

14.2.4 डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और बेल्जियन उपनिवेश

14.2.5 राष्ट्रीयता के प्रश्न के मूल स्रोत

14.3 ऐतिहासिक उद्गम

14.3.1 जनता, राष्ट्रीयता और राष्ट्र

14.3.2 राष्ट्रीयता का विषय

14.4 आत्म-निर्णय पर बहस

14.4.1 आत्म निर्णय का विषय

14.4.2 भारत का उदाहरण

14.4.3 आत्म-निर्णय बनाम अलगाव

14.4.4 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय प्रश्न

14.5 सारांश

14.6 बोध प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारंभ में जॉन स्टुयर्ट मिल ने यह तर्क दिया था कि 'जहाँ किसी भी बल में राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान होती है वहाँ प्रथम दृष्टया उसी सरकार के अधीन और उनकी अपनी सरकार के अधीन राष्ट्रीयता के सभी सदस्यों को एकजुट करने का मामला (Case) बनता है' (रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट, 1861, पृ. 360-61)। और, इस तरह उसने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार का एजेण्डा तय किया था। दूसरी ओर, उसने यह भी कहा था कि 'विभिन्न (अलग-अलग) राष्ट्रीयताओं से बने देश में स्वतंत्र संस्थाओं का होना लगभग असंभव है।' मिल का मानना यह था कि ऐसी राष्ट्रीयताओं को अलग-अलग कर उन्हें अलग राज्यों का रूप दे देना चाहिए ताकि उन्हें प्रतिनिधि स्व-शासन के पूरे लाभ मिलें।

वर्ष 1848 की महाद्वीपीय क्रान्ति के कम से कम एक सौ साल तक यूरोप के राजनीतिक परिदृश्य पर राष्ट्रीयता का प्रश्न छाया रहा और उसके कारण दो विश्व युद्ध हुए। आज भूमण्डलीकरण के युग में भी राष्ट्रीयता का प्रश्न बना हुआ है।

14.2 अर्थ

14.2.1 राष्ट्रीयता और राष्ट्र

‘राष्ट्रीयता’ शब्द को परिभाषित करना अत्यंत कठिन है। निरसंदेह, उसकी उत्पत्ति ‘राष्ट्र’ शब्द से हुई है। भाववाचक संज्ञा के रूप में इसका अर्थ होता है ‘राष्ट्रत्व’ - अर्थात् एक राष्ट्र होने का भाव, जैसे पोल या स्लाव लोगों की राष्ट्रीयता, अथवा एक राष्ट्र के सदस्य होने की स्थिति, जैसे मेरी भारतीय राष्ट्रीयता या टोनी ब्लेयर की ब्रिटिश राष्ट्रीयता (जैसा पासपोर्ट में दर्ज रहता है)। वस्तुवाचक संज्ञा के रूप में इसका अर्थ होता है, एक छोटा राष्ट्र अथवा एक संभावी राज्य, जैसे यूनाइटेड किंगडम (यूके) में स्कॉटिश राष्ट्रीयता। जे. एस. मिल ने स्वयं वेल्श लोगों और स्कॉटिश हाईलैंडर के बारे में कहा है कि उन्होंने ‘ब्रिटिश राष्ट्र’ के सदस्य बने रहने का विकल्प चुना। दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में पोलिश राष्ट्रीयता को मान्यता देने का सवाल अक्सर पूछा जाता रहा है। आज स्कॉटिश लोगों के सामने सवाल यह है कि वे एक राष्ट्र हैं अथवा अंग्रेजों की बृहत्तर अस्मिता का मात्र एक अंग। किन्तु, दोनों ही स्थितियों में समस्या एक खड़ी होती है: पोलिश लोगों को किस हद तक राजनीतिक स्वतंत्रता का अधिकार था? अथवा, यूनाइटेड किंगडम के उत्तरी आयरलैंड के लोगों अथवा स्कॉटिश लोगों का किस हद तक आज इसका अधिकार है?

दूसरी ओर, राजनीतिक स्वतंत्रता की अवधारणा इन दो रूपों में की जाती है - (1) संप्रभुतासम्पन्न प्रस्थिति के साथ पूर्ण स्वाधीनता, और (2) आत्म-निर्णय का अधिकार, अर्थात् एक राष्ट्र राज्य अथवा एक साम्राज्य के साँचे के अंदर लोगों (जनता) के आंतरिक मामलों को नियंत्रित करने की व्यापक स्वायत्तता अथवा स्वतंत्रता। किन्तु, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब दूसरी व्यवस्था विद्यमान होती है तो शीर्ष सरकार इस व्यवस्था को ‘स्व-शासन’ का नाम देती है जबकि सम्बंधित जनता इसे ‘आत्म-निर्णय’ कहती है। इन दोनों अवधारणाओं के बीच अंतर इस बात का है कि स्व-शासन को केन्द्र/साम्राज्यिक सरकार का उपहार माना जाता है जबकि आत्म-निर्णय को स्थानीय जनता ने आन्दोलन अथवा संघर्ष के माध्यम से अर्जित अथवा प्राप्त किया होता है। इसके अतिरिक्त, स्व-शासन में केन्द्र अथवा साम्राज्यिक सरकार का स्थानीय शासन पर अंतिम नियंत्रण होता है, भले ही वह नाममात्र का हो, जबकि आत्म-निर्णय में एक संप्रभु, स्वाधीन प्रस्थिति का दावा करने का विकल्प स्थानीय लोगों के पास बना रहता है।

तथापि दोनों ही स्थितियों में, अधीनस्थ सरकार की यह प्रवृत्ति रहती है कि वह पूर्ण स्वाधीनता की दिशा में जाएगी।

14.2.2 आयरिश उदाहरण

आयरलैंड का उदाहरण इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। कैथोलिक बहुसंख्यकों वाला यह क्षेत्र उस यूनाइटेड किंगडम का हिस्सा बनकर कभी प्रसन्न नहीं रहा जिसमें प्रोटेस्टैंट बहुल इंग्लैंड का वर्चस्व था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक स्थिति यह बन गई कि उत्तरी आयरलैंड प्रवासियों के कारण प्रोटेस्टैंट बहुसंख्यकों वाला क्षेत्र हो गया। 1922

में यूनाइटेड किंगडम ने दक्षिणी आयरलैण्ड को स्व-शासन का अधिकार दे दिया, और आयरिश फ्री स्टेट का नाम भी। एमन दे वालेयर की रिपब्लिकन पार्टी ने इस व्यवस्था की निंदा की और 1936 के आयरिश चुनाव जीतने के बाद अपने देश का नाम बदलकर एर्रे (Eire) रख दिया। फिर, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उस देश ने तटस्थ भूमिका निभाई जिसमें यूनाइटेड किंगडम एक बड़ा पक्ष था, और 1948 में आयरलैण्ड गणराज्य की घोषणा कर दी।

14.2.3 ब्रिटिश उपनिवेश

यूनाइटेड किंगडम ने अपने श्वेत उपनिवेशों को स्व-शासन का पर्याप्त अधिकार दिया और 1929 में उन्हें 'डोमिनियन' का नाम दिया। ब्रिटेन ने अपने साम्राज्य को ब्रिटिश कॉमनवेल्थ (राष्ट्रकुल) भी कहा। 1917 में मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतर्गत ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों को अधिकारों के कुछ हस्तांतरण का प्रस्ताव रखा गया, किन्तु द्विराज की इस प्रस्तावित व्यवस्था को ब्रिटिश भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने अस्वीकार कर दिया। 1929 में उन्होंने 'डोमिनियन' के दर्जे की माँग की जिसे साइमन कमीशन ने ठुकरा दिया। कमीशन ने प्रान्तों को और अधिक अधिकार हस्तांतरित करने का प्रस्ताव रखा और भारतीय प्रजा के ही प्रशासन में केन्द्र को भी कुछ अधिकार हस्तांतरित करने की बात की। इसी के विरोध में 1930 के दशक का सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला। 1947 के भारतीय स्वाधीनता अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश भारत को विभाजन के बाद 'स्वाधीन डोमिनियन' का दर्जा मिल गया। भारत की संविधान सभा ने भारत को एक संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित कर दिया किन्तु 'कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स' का सदस्य बना रहना पसंद किया, जिसका नाम अब 'ब्रिटिश कॉमनवेल्थ' हो गया था।

14.2.4 डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और बेल्जियन उपनिवेश

यूरोप के पहले उपनिवेशवादी डच थे। किन्तु, दूसरी औपनिवेशिक ताकतों के साथ अपनी प्रतिस्पर्धा के चलते उन्हें अपने अनेक विदेशी क्षेत्रों से हाथ धोना पड़ा और बाद में वे इंडोनेशिया में सिमटकर रह गए। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद चले एक जबरदस्त स्वाधीनता आन्दोलन के कारण इंडोनेशिया भी उनके हाथ से जाता रहा।

चौथे रिपब्लिकन संविधान के तहत 'फ्रांस ने अपने साम्राज्य को 'फ्रेंच यूनियन' का नाम दिया, जिसमें उसके 'सहयोगी राज्यों' के लिए बहुत कम स्वायत्तता का प्रावधान था। 1954 में वियतनाम, कंबोडिया और लाओस इस यूनियन (फ्रांसीसी संघ) से अलग हो गए, जिसके परिणामस्वरूप भारत-चीन युद्ध हुआ। जब अल्जीरिया ने स्वतंत्रता की माँग रखी तो उसे हिंसक दमन का सामना करना पड़ा, जो 1960 के दशक में जाकर ही समाप्त हुआ। इस बीच 1958 में, 'फ्रेंच यूनियन' का नाम बदलकर 'फ्रेंच कम्युनिटी' कर दिया गया। किन्तु यह प्रयोग विफल हो गया और फ्रांसीसी अधिकार वाले अधिकांश क्षेत्र 1960 के दशक तक स्वतंत्र हो गए।

बेल्जियम को 1958-59 में जब कांगों में स्वतंत्रता आन्दोलन का सामना करना पड़ा तो उसने वहाँ चुनाव और व्यापक स्वतंत्रता का वचन दे दिया। किन्तु, भयंकर दंगे भड़क

जाने के कारण उसे जनवरी 1960 में ही बेल्जियन कांगों को पूर्ण स्वतंत्रता देनी पड़ी। दूसरी ओर, पुर्तगाल स्वयं एक तानाशाह शासक के अधीन था। उसने अपने उपनिवेशों को स्व-शासन का अधिकार देने की कभी कोशिश नहीं की और उन्हें अपने प्रान्त ही मानता रहा। भारत ने गोवा को 1961 में जबरदस्ती आजाद करवा लिया। पुर्तगाल में तानाशाही का अंत हो जाने के बाद उसके अन्य उपनिवेशों को भी स्वतंत्र कर दिया गया।

इस प्रकार, राष्ट्रीयता की अवधारणा का मेल 'स्व-शासन' की अवधारणा के साथ सही नहीं बैठता। यह 'आत्म-निर्णय' की अवधारणा के साथ सही बैठता है।

14.2.5 राष्ट्रीयता के प्रश्न के मूल स्रोत

'राष्ट्रीयता' के प्रश्न का स्रोत राज्य प्रणाली के बुनियादी मनमानेपन में मिलता है। राजनीतिक शक्ति स्वभाव से प्रादेशिक है। किसी राज्य की सीमाएँ एक सरकार की शक्ति की सरहदों पर स्थित होती हैं। इस प्रकार की शक्ति हमेशा ही ऐतिहासिक परिस्थितियों और पड़ोसी राज्य की शक्ति के सापेक्ष होती है। यह एक जाति की जातीय-सांस्कृतिक सीमाओं के अनुरूप शायद ही कभी होती है। सभी आधुनिक राज्यों में सामान्यतया अल्पसंख्यक समूहों की एक अच्छी खासी संख्या होती है, जिनमें ये अधिकांश का जमाव एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में होता है। जब भी एक या अधिक अल्पसंख्यक समूह सत्ता की व्यवस्था से अप्रसन्न हो जाते हैं तो आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग की संभावना प्रबल हो जाती है, जिसका अर्थ होता है उनके अपने होने का, अपने भाग्य का स्वयं निर्धारण करने का अधिकार। कहना न होगा, यह एक राजनीतिक माँग है जिसकी जड़ें सामाजिक-आर्थिक और भौगोलिक कारकों में होती हैं। इस प्रकार, यदि कोई क्षेत्र एक मुख्यभूमि से दूर अथवा अलग है तो इस बात की संभावना रहती है कि अलगाव की माँग उठेगी। यदि क्षेत्रों के बीच अत्यधिक आर्थिक असमानता है अथवा उनके बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों या सदभाव का अभाव है तो इस प्रकार की माँगें ज़ोर भी पकड़ सकती हैं। असंतुष्ट लोगों में शुरू में यह एक सह-भावना के रूप में प्रकट होती है और बाद में एकजुटता का रूप ले लेती है। एकजुटता की यही भावना राष्ट्रीयता का आधार होती है। इस प्रकार की भावना मूल रूप में लोकतांत्रिक होती है क्योंकि यह वर्तमान सत्ता के साथ समानता का एक वैकल्पिक आधार तलाशने का प्रयास करती है।

14.3 ऐतिहासिक उद्गम

14.3.1 जनता, राष्ट्रीयता और राष्ट्र

यहाँ आकर 'राष्ट्र', 'राष्ट्रीयता' और 'जनता' शब्दों के बीच स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग अदल-बदल कर लोगों के बीच संवाद में होता रहा है, इनका विकास विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भों में हुआ है। सबसे पहली बात तो यह कि 'जनसंख्या' शब्द की तुलना में 'जनता' शब्द कहीं अधिक विशिष्ट अर्थ देने वाला है। 'जनसंख्या' का अर्थ निकलता है एक प्रदेश में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों का समूह।

1789 में, जब फ्रांसीसी विधानमंडल के तीसरे वर्ग ने यह घोषणा की कि 'फ्रांस में सम्प्रभुता फ्रांसीसी राष्ट्र की है' और अपने आपको राष्ट्रीय विधान मंडल (नेशनल असेंबली) का नाम दिया, तो इस अर्थ में उसने 'राष्ट्र' शब्द का ही प्रयोग किया था। इसका अभिप्राय फ्रांस की जनसंख्या से था। 'जनता' का चरित्र और भी स्पष्ट होता है - उसमें एक निश्चित वस्तुनिष्ठ सामान्यता होती है जिसे शायद प्रादेशिक निष्ठा के अर्थ में ही स्पष्ट रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसी अर्थ में राष्ट्र संघ के करारपत्र और संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में 'जनता' के नाम को लिया गया।

ऐतिहासिक संदर्भ में, आधुनिक अर्थ में 'राष्ट्रों' का उदय राजतंत्र के दैवीय अधिकार वाले सिद्धान्त के दम तोड़ देने के बाद हुआ, जिसके आलोक में राज्यों को चर्च (ईसाई धर्म संस्था) के समर्थन वाले वंशों की संपत्ति समझा जाता था। प्रोटेस्टैंट क्रान्ति ने यूरोप के राजनीतिक मामलों में पोप की सर्वोच्चता का अंत कर दिया और डी. बर्न्स के शब्दों में 'मध्ययुगीन एकता' के विनाश की नींव रख दी। प्रवृत्ति के इस बदलाव के पीछे जो भावना सक्रिय थी वह साम्राज्यवाद-विरोधी भी थी और सामंतवाद-विरोधी भी। किन्तु, इसके चलते यूरोप के राजनीतिक संरूपण में एक रिक्त स्थान छूटा रह गया। उदाहरणस्वरूप, 1648 की वेस्टफेलिया संधि में 300 जर्मन राज्यों का निर्माण हुआ जिनमें से अधिकांश प्रोटेस्टैंट थे और पोप के नियंत्रण से मुक्त थे। किन्तु इनकी हैसियत सामंती राज्यों से अधिक बिल्कुल नहीं थी।

और फिर भी समूची जर्मन जनसंख्या एकजुट नहीं थी। पश्चिम में फ्रांस और पूर्व में पोलैण्ड में जर्मनों की अच्छी-खासी जनसंख्या थी। 1772 में, पोलैण्ड के पहले विभाजन के समय एक स्वच्छंदतावादी पोलिश-जर्मन बुद्धिजीवी जे.जी. हर्डर ने भाषा में जर्मन फोल्क्स्तुम (जनतापन) को ढूँढ़ने का प्रयास किया। उसके एक शताब्दी बाद 1870 के फ्रांस-प्रशायिन युद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी एक हो गया। यह एक अलग बात है कि इसकी परिणति अंततः अत्यधिक विकृत उग्र राष्ट्रीयता में हुई।

पूरी जर्मन जनसंख्या तो क्योंकि कभी एकजुट नहीं हुई, इसलिए पड़ोसी देशों में जर्मन जनसंख्या समूह बिखराव की स्थिति में ही रहे। इसी को बहाना बनाकर हिटलर ने जर्मनी के पड़ोसियों पर आक्रमण कर दिया। सबसे बड़ी जर्मन भाषी इकाई ऑस्ट्रिया एकीकृत जर्मनी से बाहर ही रहा। इसका एक कारण तो धार्मिक मतभेद था और दूसरा यह कि बाद में वह स्वयं एक साम्राज्य बन गया। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का अंत करने वाला दर असल नेपोलियन बोनापार्ट था जिसने पोलैण्ड के छोटे-से स्वाधीन राज्य की नींव भी रखी। किन्तु, अंतिम 'पवित्र रोमन सम्राट' फ्रांसिस द्वितीय 1804 में कैथोलिक ऑस्ट्रिया का सम्राट बन बैठा, और 1815 में पोलैण्ड का चौथी बार विभाजन हो गया। ऑस्ट्रियाई साम्राज्य के तत्वावधान में ही राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के मुद्दे में तेज़ी पकड़ी।

वर्ष 1848 की महाद्विपीय क्रान्तियों के दौरान ऑस्ट्रियाई साम्राज्य की छोटी-छोटी राष्ट्रीयताओं ने सबसे पहले फिर उठाया। 1867 में ऑस्ट्रिया ने ऑस्ट्रियाई - हंगरी साम्राज्य के रूप में अपना पुनर्गठन किया और उसे हंगरी के राजनीतिक दावों को मान्यता देनी पड़ी। बहरहाल, पूर्वी यूरोप की स्लाव राष्ट्रीयताओं में अशांति बनी रही। द्वितीय विश्व

युद्ध के दौरान, जर्मनी के साथ केन्द्रीय शक्तियों में ऑस्ट्रिया भी था। जब मित्र दलों के साथ अमेरिका भी युद्ध में शामिल हो गया तो उसके राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने एक चौदह सूत्रीय कार्यक्रम तैयार किया जिसमें और बातों के अलावा मध्य यूरोप, विशेषकर ऑस्ट्रिया, की राष्ट्रीयताओं को आत्म-निर्णय का अधिकार देने का वादा भी किया गया।

14.3.2 राष्ट्रीयता का विषय

हमने देखा कि 1770 के दशक में जर्मनी में 'जनतापन' का एक स्वच्छंदतावादी विचार उभरा। इसमें जर्मन जनता को भाषा के आधार पर एकजुट करने का प्रयास किया गया। इस प्रवृत्ति ने उन्नीसवीं शताब्दी में गति पकड़ ली। और, राष्ट्रीयता के बंधन के रूप में 'सहानुभूति' पर ज़ोर देने वाले जे.एस. मिल ने भी इस प्रवृत्ति को माना। मिल के अनुसार राष्ट्रीयता की यह भावना 'विभिन्न कारणों' से पनपी होगी, जैसे: (1) प्रजाति और वंश की अस्मिता का प्रभाव, (2) समान भाषा, (3) सम्प्रदाय, धर्म, (4) भौगोलिक सीमाएँ, (5) 'सबसे मज़बूत' राजनीतिक पूर्ववृत्त, जिससे उसका आशय था एक राष्ट्रीय इतिहास का स्वामित्व, और उसके परिणामस्वरूप सामुदायिक संस्मृतियाँ, सामूहिक अभियान और अपमान, आनन्द और खेद, जो अतीत की समान घटनाओं से जुड़े होते हैं।

किन्तु मिल ने इन सभी कारणों को सीमित भी कर दिया, उसके शब्दों में 'इनमें से कोई भी परिस्थिति न तो अनिवार्य है, और न ही स्वयं में आवश्यक रूप में पर्याप्त।' बाद के राजनीतिक चिंतकों और इतिहासकारों ने राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रत्व का एक निश्चित आधार ढूँढने का व्यर्थ प्रयास किया है। विशुद्ध रूप में नस्ल पर आधारित राज्य तो अफ्रीका में भी नहीं मिल सकते, यद्यपि हिटलर के समय जर्मनी ने इसे बनाने की कोशिश की थी। इस प्रकार के नस्ल-आधारित राज्यों का अस्तित्व सभ्यता के इतिहास में कभी नहीं रहा। यद्यपि जोसेफ स्टालिन की प्रसिद्ध परिभाषा में प्रदेश के साथ-साथ भाषा और समान ऐतिहासिक अनुभव को राष्ट्रत्व के मुख्य कारक के रूप में प्रस्तुत किया गया था, और यद्यपि हॉब्सबॉम के अनुसार आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय धर्म के अवशेषों पर हुआ, फिर भी दुनिया में आज भी कुछ राज्य हैं जिनकी पहचान धर्म से होती है यूरोप में आयरलैंड और पश्चिम एशिया में इस्रायल, और एशिया में पाकिस्तान समेत अनेक इस्लामी गणराज्य। फिर भी पश्चिम एशिया के मुस्लिम राज्य धर्म के आधार पर एकजुट नहीं हो पाए और पाकिस्तान का 1971 में भाषा के आधार पर विभाजन हो गया। जहाँ तक साझा इतिहास का सवाल है तो फ्रांसीसी राजनीतिक चिंतक ई. रनों का इस सम्बन्ध में यह मानना है कि गलत इतिहास भी स्वयं में एक राष्ट्रीय भावना की निर्माण-प्रक्रिया का एक अंग है। आज के तीसरी दुनिया के देशों में एक रोचक प्रवृत्ति पाई जाती है - अपनी 'राष्ट्रीय' एकता को मजबूत करने की दृष्टि से इतिहास को फिर से लिखने का प्रयास।

इसलिए, रेनान ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'राष्ट्र एक आत्मिक इकाई है' जो एक समान भावना के आधार पर जीवित रहती है। परिणामस्वरूप, ध्यान अतीत से हटकर वर्तमान और फिर भविष्य पर आ गया। इस परिप्रेक्ष्य में 'राष्ट्र निर्माण' की वह अवधारणा प्रासंगिक हो जाती है जिसे जवाहरलाल नेहरू ने लोकप्रिय किया था। इसमें प्रगति और विकास की दृष्टि से राष्ट्रीय एकता पर ज़ोर दिया गया है। अमेरिकी राजनीति विज्ञानी कार्ल

डॉइच का तर्क है कि एक राष्ट्र का अस्तित्व एक 'दैनिक जनमत संग्रह' है, जिसका अर्थ होता है कि साथ-साथ रहने का एक साझा इरादा ही राष्ट्रीयता का सार है।

और यहीं परेशानी खड़ी हो जाती है। किसी राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता को जन्म देने वाली वस्तुनिष्ठ परिस्थितियाँ बदल भी सकती हैं। सम्बंधित लोगों में, विशेषकर कुलीन जनों में, सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ भी पनप सकती हैं। वर्गीय अथवा क्षेत्रीय कुलीनों के बीच राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ बढ़कर तथाकथित 'राष्ट्रीय' कुलीनों के दृष्टिकोण और हितों से भिन्न भी हो सकती हैं। क्षेत्रों और वर्गों के मतभेद खोज लिए जाते हैं। जहाँ इस तरह के मतभेद गुप्त रूप में पहले से ही मौजूद होते हैं, वहाँ उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है। सबसे अधिक बात 'असमानता' और/अथवा 'भेदभाव' के आधार की होती है, चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक। जहाँ शासक 'राष्ट्रीय' कुलीन उसे काल्पनिक बताते हैं, वहीं 'असंतुष्ट कुलीन' उसे हमेशा वास्तविक बताते हैं। यदि शासक कुलीन दबाव अथवा राज्य शक्ति का प्रयोग करते हैं तो विद्रोह होते हैं। यदि इस प्रकार के विद्रोह सफल हो जाते हैं तो नए 'राष्ट्र राज्यों' का निर्माण होता है, और पुरानी व्यवस्था ध्वस्त हो जाती है। इस प्रकार, 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय' राजनीति का एक अत्यंत विवादास्पद मुद्दा बन गया है।

14.4 आत्म-निर्णय पर बहस

14.4.1 आत्म निर्णय का विषय

विल्सन ने राष्ट्रीयताओं को आत्म-निर्णय का अधिकार देने का जो वादा किया उसने तीन प्रकार के आलोचकों को जन्म दिया। पहली तरह के आलोचक वे प्रत्यक्ष रूढ़िवादी थे जिन्हें पुराने साम्राज्यों की प्रादेशिक व्यवस्था का टूटना पसंद नहीं था। दूसरा वर्ग उन आमूल परिवर्तनवादियों का था जो यह सोचते थे कि विल्सन के कार्यक्रम का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित था और वह केवल ऑस्ट्रियाई - हंगरी साम्राज्य तक ही सीमित था, और उसकी परिधि में ब्रिटिश और फ्रांसीसी जैसे पारम्परिक साम्राज्य नहीं आते थे। इसमें समूचे औपनिवेशिक जगत की तरफ से आँखें मूंद ली गई थीं। आलोचकों की तीसरा वर्ग व्यावहारिकतावादियों का था। वे सोचते थे कि आज के राज्य इतने बहुजातीय हैं कि उन्हें संजातीय के आधार पर अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

निश्चित रूप में, इनमें से पहले दो वर्ग पक्षपाती हैं, और यहाँ केवल चौथे वर्ग की आलोचना पर ही विचार किया जा सकता है। 1905 में बंगाल का विभाजन करने वाले भारत के पूर्व गवर्नर-जनरल और ब्रिटिश विदेश मंत्री लॉर्ड कर्जन ने कथित रूप में कहा था कि 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार एक दुधारी तलवार है, जिसका अर्थ है कि यह लोगों को जोड़ती है तो उन्हें तोड़ती भी है। किस राज्य का जो भी प्रादेशिक विभाजन किया जाता है, असंतुष्ट अल्पसंख्यक तो रहेंगे ही और सन्निहित राज्य लगातार शान्ति को खतरा पैदा करने वाले अयुक्त संयोजनवाद (इरिडेंटिज्म) में लगे रहेंगे'।

एक बात और, यद्यपि आज पश्चिम में भाषा ही राष्ट्रत्व का लोकप्रिय मापदंड है, फिर

भी, विशेषकर धर्म जैसे अन्य कारक आज भी राजनीतिक जनमत बनाने में अत्यधिक निर्णायक भूमिका निभाते हैं। उदाहरण स्वरूप, आयरलैण्ड की समस्या प्रमुख रूप में धार्मिक ही है। 1990 के दशक का यूगोस्लाविया का जातीय संकट भी धार्मिक मतभेदों पर आधारित था। यह तस्वीर तब और भी उलझ जाती है जब धार्मिक समूह भाषा के आधार पर बँटे दिखाई देते हैं।

14.4.2 भारत का उदाहरण

यह एक सुविदित तथ्य है कि समूचा भारत अंग्रेजों के आने से पहले राजनीतिक दृष्टि से कभी एकजुट नहीं था। अंग्रेज भी पूरे भारत को एक ही तरह से नहीं चला पाए। इस उप-महाद्वीप का लगभग दो-तिहाई हिस्सा उनके प्रत्यक्ष नियंत्रण में था, जबकि एक-तिहाई पर विभिन्न छोटे-बड़े स्थानीय रजवाड़ों का शासन था।

अंग्रेजों के अधीन भी समूचे भारत पर एक जैसा शासन नहीं रहा। ब्रिटिश हुकूमत बंगाल, बम्बई और मद्रास के तटों से फैलनी शुरू हुई। इस प्रदेश को पहले 'प्रेसीडेंसी' के रूप में संगठित किया गया। ये विभिन्न भाषाओं और धर्मों वाले लोगों के प्रदेश होते थे, और इसके अतिरिक्त अनेक आदिम जनजातियाँ भी थीं। इनमें बर्मा और अदन जैसे नए प्रदेशों को भी सम्मिलित कर लिया गया। इनमें से कुछ को अलग प्रान्त बना दिया गया। 1905 में लॉर्ड कर्जन ने धर्म के आधार पर बंगाल प्रेसीडेंसी का विभाजन कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप एक जबरदस्त विभाजन-विरोधी आन्दोलन खड़ा हो गया। इसी समय भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने सरकार के धर्म के मुकाबले में भाषा को भारत के प्रान्तीयकरण का आधार बना लिया। अंग्रेज 1947 में धर्म के आधार पर देश का बँटवारा करने के बाद भारत से चले गए। एक मुस्लिम बहुल राज्य के रूप में पाकिस्तान का निर्माण हुआ। किन्तु 1971 में भाषा के आधार पर पाकिस्तान का विभाजन हो गया। यद्यपि, 1960 के दशक में तत्कालीन मद्रास (अब तमिलनाडू) में भी एक अलगाववादी माँग उठी, किन्तु उस आन्दोलन को वहीं शांत कर दिया गया। भारतीय राज्य की अखंडता को भाषा से कभी खतरा पैदा नहीं हुआ, किन्तु इसके कारण कई राज्यों का पुनर्गठन अवश्य हुआ है।

किन्तु, भारत में भाषा ही राज्यों के पुनर्गठन का एकमात्र कारक नहीं रहा है। जनजातीय और जातीय पहचान के आग्रह के कारण भी उत्तर-पूर्व और मध्य भारत में अनेक राज्यों का निर्माण हुआ है। उत्तरांचल राज्य के निर्माण का एकमात्र आधार क्षेत्रीय असमानता थी।

उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम के सीमांत क्षेत्रों के धार्मिक और जनजातीय समूह जब तक भारत से अलग होने की माँग करते रहे हैं। सामान्य रूप में, भारत ने धर्म के आधार पर वी.डी. सावरकर और एम. ए. जिन्ना के 'द्विराष्ट्र' के सिद्धान्त को कभी स्वीकृति नहीं दी। भारतीय जनमत 1947 के ब्रिटिश भारत के विभाजन को एक साम्राज्यवादी षड़यंत्र ही मानता है।

भारतीय राष्ट्र प्रादेशिक है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे एक बहुसांस्कृतिक और बहुराष्ट्रीय राज्य भी कहा है।

14.4.3 आत्म-निर्णय बनाम अलगाव

आत्म-निर्णय के अधिकार का अर्थ केवल राष्ट्रीय आत्म-निर्णय नहीं होता। इसमें इतनी व्यापकता है कि सभी प्रकार की जनता इसमें आ जाती है। उदाहरणस्वरूप, 1776 की अमेरिकी क्रान्ति आत्म-निर्णय के अधिकार के आग्रह के कारण हुई, इसमें 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय' की बात नहीं कही गई। उत्तरी अमेरिकी विद्रोही अपने आपको फिर भी एक बड़ी सत्ता से अलग होने की इच्छा ही होती है। जब लोग मनोवैज्ञानिक संदर्भ में भी आत्म-निर्णय की बात करते हैं, तो वे अपने आपको औरों से अलग दिखाना चाहते हैं। जब लोगों का एक समूह अपने आत्म-निर्णय के अधिकार पर ज़ोर देता है तो वह भी वहीं कर रहा होता है। अलगाववादी एक अकेला राष्ट्र बना भी सकते हैं और नहीं भी। जब ऑस्ट्रियाई साम्राज्य ध्वस्त हुआ तो कई राष्ट्रीयताएँ उभर कर सामने आईं, जिनमें से कुछ तो बिल्कुल स्पष्ट नहीं थीं। यही प्रक्रिया सोवियत संघ और यूगोस्लाविया के समाजवादी राज्यों के टूटने के बाद भी दोहराई गई। वैसे, जब किसी राज्य अथवा साम्राज्य में बसे लोगों के एक वर्ग में राष्ट्रीयता की एक स्पष्ट भावना बलवती होती है तो, जैसा मिल ने कहा है, वहाँ अलगाव अथवा आत्म-निर्णय का स्पष्ट मामला होता है।

किसी भी स्थिति में, आत्म-निर्णय का अधिकार उस बड़ी सत्ता के लिए चुनौती पेश करता है जिससे इसका सम्बन्ध होता है। इस माँग का राष्ट्रवादी तत्व इसे अतिरिक्त मजबूती प्रदान करता है। परिणामस्वरूप, 'व्यवस्था के हिमायती' इसका विरोध करते हैं। उसी प्रकार वही लोग राष्ट्रवाद का विरोध भी करते हैं। भूमण्डलीकरण के इस युग में यह मुद्दा और भी तीखा हो गया है। भूमण्डलीकरण के हिमायती राष्ट्रीय स्वायत्तता अथवा सम्प्रभुता को मूल रूप में पिछड़ना मानते हैं। राष्ट्रीय सम्प्रभुता के हिमायती भूमण्डलीय व्यवस्था को मूल रूप में असमान मानते हैं। वे राज्य अथवा राष्ट्रीय अधिकार को भूमण्डलीय शोषण के विरुद्ध प्रमुख ढाल मानते हैं।

यहाँ इतिहास के एक उदाहरण से हमें काफी शिक्षा मिल सकती है। बोल्शेविक क्रान्ति से पहले वी. आई. लेनिन ने रूस के ज़ार शासन की दमिति राष्ट्रीयताओं को आत्म-निर्णय का अधिकार देने का वादा किया था। किन्तु, क्रान्ति के बाद, लेनिन इसके विरोधी हो गए। उन्होंने आत्म-निर्णय के अधिकार का नया रूप देते हुए उसे सोवियत संघ की बृहत्तर राजनीतिक इकाई के अंदर ही प्रत्येक राष्ट्रीयता को समान प्रास्थिति के अधिकार के रूप में प्रस्तुत कर दिया। किन्तु, सोवियत राज्य की नीति अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं को पूरी तरह से कभी संतुष्ट नहीं कर पाई और संघ 1990 में टूट गया।

14.4.4 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय प्रश्न

मार्क्सवादियों के अनुसार, राष्ट्रीयता का प्रश्न यूरोप में पूँजीवाद के उभार के साथ ही उठा। स्वयं मार्क्स का विचार था कि एक दिन पूँजीवाद अपनी आर्थिक शक्ति के दम पर राष्ट्रीय सीमाओं को मिटा देगा। किन्तु, लेनिन राष्ट्रवाद में साम्राज्यवाद से लड़ने की क्षमता देखते थे और वह उपनिवेशों में 'राष्ट्रीय बूर्जुआ' के साथ मार्क्सवादियों के सहयोग का स्वागत करते थे। परिणामस्वरूप, एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी आन्दोलनों और अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बीच एक हद तक सहयोग हुआ।

वर्ष 1989 में सोवियत संघ का पतन हो जाने के बाद से अमेरिका का विश्व मामलों में अभूतपूर्व प्रभुत्व हो गया है और उसने एक नई आर्थिक व्यवस्था का सूत्रपात किया है जिसमें आर्थिक राष्ट्रवाद की समाप्ति की परिकल्पना है। आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति को उन्नीसवीं शताब्दी से सभी विकासशील देशों ने अपनाया है। भूमण्डलीय पर्यावरण के प्रश्न पर अमेरिका अभी भी हठपूर्वक अपना ही एजेंडा चला रहा है और अपनी स्वतंत्रता पर पर्यावरण सम्बन्धी कोई भी नियम थोपा जाना उसे स्वीकार नहीं है। फिर भी, विश्व के अन्य देश को वह बाध्य करता है कि वे आर्थिक भूमण्डलीकरण का अनुसरण करें। भारत जैसे विकासशील देशों को अपनी अर्थव्यवस्था पर भूमण्डलीकरण की इन सर्वांगीण माँगों से खतरा महसूस होता है, जबकि कृषि उनकी अर्थव्यवस्था का प्रधान स्रोत है। अपने हितों के टकराव से उन विकासशील देशों में प्रबल राष्ट्रीय प्रतिक्रियाएँ हुई हैं जो भूमण्डलीकरण के कार्यक्रम को आर्थिक महाशक्तियों की नव-साम्राज्यवादी चाल मानते हैं।

नव-औपनिवेशिक अथवा नव-साम्राज्यवादी बंधन को लेकर विकासशील देशों में व्याप्त इस डर ने उनकी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आत्म-निर्भरता के कार्यक्रम को जन्म दिया जिसके सबसे बड़े समर्थक जवाहरलाल नेहरू थे। स्वदेशी का कार्यक्रम एक भिन्न अर्थ में इसी भाव को परिलक्षित करता है।

14.5 सारांश

राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय दोनों ही परस्पर सम्बद्ध धारणाएँ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में उनका केन्द्र यूरोप में था प्रथम विश्व युद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका उसका केन्द्र बन गए। मार्क्सवाद ने अपने ऐतिहासिक दृष्टि से साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र के कारण उनका समर्थन किया। सोवियत संघ के पतन के फलस्वरूप भूमण्डलीकरण का कार्यक्रम सामने आया है जिसने राष्ट्रवादी अर्थव्यवस्थाओं और भावनाओं को दुर्बल करता है।

14.6 अभ्यास प्रश्न

1. राष्ट्रीयता का अर्थ बताते हुए उसके विकास के कारणों का विवेचन कीजिए।
2. आत्म-निर्णय की अवधारणा का विश्लेषण उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में कीजिए।
3. राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सवाल पर चलने वाली बहस का मूल्यांकन कीजिए।
4. मार्क्सवाद और भूमण्डलीकरण के कार्यक्रम का राष्ट्रीय आत्म-निर्णय से क्या सम्बन्ध है?

इकाई 15 राज्य निर्माण और संविधानवाद

संरचना

15.1 प्रस्तावना

15.2 राज्य निर्माण

- 15.2.1 साधक अपेक्षाएँ
- 15.2.2 राज्यों का ऐतिहासिक अस्तित्व
- 15.2.3 ऑल्मंड - पॉवेल योजना का महत्व

15.3 संविधानवाद

- 15.3.1 उद्गम
- 15.3.2 संविधानवाद का अर्थ

15.4 संविधान के नमूने

- 15.4.1 संविधानवाद का ब्रिटिश नमूना
- 15.4.2 अमेरिकी नमूना
- 15.4.3 महाद्वीपीय व्यवस्थाएँ
- 15.4.4 संविधान निर्माण का विकासात्मक नमूना
- 15.4.5 संविधान निर्माण का क्रान्तिकारी नमूना

15.5 संविधानवाद और राज्य निर्माण

- 15.5.1 एक ढाँचे के रूप में संविधान
- 15.5.2 राज्य और नागरिक समाज
- 15.5.3 कानून का शासन
- 15.5.4 सेना और नौकरशाही

15.6 अधिकारों का संविधान

- 15.6.1 उद्भव
- 15.6.2 अधिकारों का स्वरूप

15.7 सारांश

15.8 बोध प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

इतिहास में 'राष्ट्र' और 'राज्य' की अवधारणाओं का विकास समानांतर रूप में हुआ। 'राष्ट्र' ऐसे ब्रिटिश्यों का समूह है जो एक निश्चित बंधन में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं (देखिए इकाई 14)। 'राज्य' एक संरचित अधिकरण है जो एक निश्चित प्रदेश में लोगों पर शासन करता है। आवश्यक नहीं कि ये दोनों साथ-साथ ही विद्यमान रहें। उदाहरणस्वरूप, 1646 में वेस्टफेलिया की संधि में 300 जर्मन राज्यों को मान्यता दी गई थी। किन्तु

आज केवल दो जर्मन भाषी राज्य ही देखने में आते हैं: जर्मनी और ऑस्ट्रिया। जर्मनी और ऑस्ट्रिया के विभाजन का एक प्रमुख कारण धार्मिक है। जर्मनी प्रोटेस्टैंट है जबकि ऑस्ट्रिया कैथोलिक।

प्रमुख रूप में, राज्य एक प्रादेशिक अवधारणा है, किन्तु राष्ट्र एक मानवीय इकाई है। जबसे संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन हुआ है तभी से 'राष्ट्र-राज्य' का यौगिक शब्द विश्व के राजनीतिक शब्द-भंडार में स्थान पा गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र में राज्य को वस्तुतः राष्ट्र के समकक्ष रखा गया। किन्तु, राष्ट्रीय मामले राज्य के मामलों से कहीं अधिक जटिल होते हैं यद्यपि कि वे एक-दूसरे से जुड़े हैं। मनोविज्ञान की भूमिका राज्य की अपेक्षा राष्ट्र के मामलों में कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है। राजनीति विज्ञान 'राष्ट्र निर्माण' की अपेक्षा 'राज्य निर्माण' कहीं अधिक अच्छे ढंग से विवेचना कर सकता है, यद्यपि कि तीसरी दुनिया के देशों में 'राष्ट्र निर्माण' शब्द कहीं अधिक लोकप्रिय है। 'राज्य निर्माण' में न केवल सरकार आती है, जो राज्य निर्माण का प्रमुख केन्द्र है, बल्कि उसमें एक आबादी का मनोवैज्ञानिक एकीकरण और आर्थिक विकास भी आते हैं। गैब्रिएल ए. ऑल्मंड और जी.बी. पॉवेल, जूनियर के शब्दों में:

"वैसे तो इसे उस रूप में रखना अत्यधिक सरलीकरण होगा, फिर भी हम राष्ट्र निर्माण और एक राजनीतिक व्यवस्था में इसके सही निपटारे की समस्या को मूल रूप में एक संरचनात्मक समस्या के तौर पर देख सकते हैं। अर्थात् यह मूल रूप में उन नई भूमिकाओं, संरचनाओं और उप-व्यवस्थाओं के संरचनात्मक विभेदीकरण का मामला है जो ग्रामीण क्षेत्र को भेदती हैं। दूसरी ओर, राष्ट्र निर्माण में राजनीतिक घटनाक्रमों के सांस्कृतिक पहलुओं पर जोर दिया जाता है। यह उस प्रक्रिया का संकेत देता है जिसके माध्यम से लोग अपनी प्रतिबद्धता और निष्ठा को अपेक्षाकृत छोटे कबीलों, गाँवों अथवा छोटे-मोटे सामंती देशों से एक बड़ी केन्द्रीय राजनीतिक व्यवस्था की ओर हस्तांतरित करते हैं। राज्य और राष्ट्र निर्माण की ये दोनों प्रक्रियाएँ आपस में सम्बद्ध होते हुए भी, इन्हें अलग-अलग करके देखना महत्वपूर्ण होगा। ऐसे कई मामलें हैं जिनमें केन्द्रीकृत और पैठ रखने वाले नौकरतंत्र का गठन हुआ है जबकि केन्द्रीय राजनीतिक संस्थाओं के प्रति निष्ठा और प्रतिबद्धता का एकरूप नमूना कभी उभर नहीं पाया है।"

ऑल्मंड और पॉवेल ने राज्य निर्माण का विवेचन राजनीतिक विकास के सिद्धान्त के संदर्भ में किया है, जिसके अन्य तीन अवयव राष्ट्र निर्माण, भागीदारी और (कल्याण का) वितरण हैं। उन्होंने राज्य निर्माण के प्रमुख सवालों को इस प्रकार रखा कि 'हम किस प्रकार का नौकरतंत्र खड़ा करना चाहते हैं, किस प्रकार का शासन-निर्माण और अधिनिर्णायक संरचनाएँ, और इन संरचनाओं पर हम किस प्रकार का भार लादना चाहते हैं। इस सैद्धान्तिक योजना की कमी यह थी कि इसमें 'एक पूर्व-विद्यमान, कम विभेदनकारी राजनीतिक व्यवस्था' और एक 'विभेदित', आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के बीच निरंतरता को अवश्यसंभावी मानकर चला गया था। यह योजना राज्यों अथवा 'राजनीतिक व्यवस्थाओं' को उस रूप में नहीं लेती है जिस रूप में 'व्यवस्था के सिद्धान्तवादी' उसे लेते हैं, और जो क्रान्तिकारी परिवर्तनों के माध्यम से अस्तित्व में आते हैं। अथवा, शायद वे जानबूझ कर क्रान्तियों की ओर से अपनी आँखें मूंदें रखते हैं और क्रान्ति के बाद की स्थिति

से आगे बढ़ना पसंद करते हैं। वे इस तथ्य की फिर भी अवहेलना कर जाते हैं कि एक क्रान्ति और क्रान्ति-पूर्व के अनुभवों का भी राज्य निर्माण की प्रक्रिया में अपना अलग योगदान हो सकता है, जैसा कि भारत जैसे अनेक उत्तर-औपनिवेशिक देशों के साथ है।

15.2 राज्य निर्माण

15.2.1 साधक अपेक्षाएँ

किन्तु राज्य निर्माण का कार्य आसान नहीं है। ऑल्मंड और पॉवेल के अनुसार 'राज्य निर्माण तब होता है जब राजनीतिक भद्रजन ऐसे नए ढाँचों और संगठनों का गठन करते हैं जिनका उद्देश्य समाज में "पैठ बनाना" होता है जिससे कि इसके अंदर व्यवहार को नियंत्रित किया जा सके और उससे और अधिक मात्रा में संसाधन प्राप्त किए जा सकें।' इसके अंतर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि अधिकरण का ढाँचा, इसके फैलाव की प्रादेशिक सीमा, अधिकरण के साथ लोक-अनुरूपता और इस प्रकार के अधिकार को प्राप्त करने का साधन क्या होगा। अधिकरण का एक निर्णायक मानदंड यह होता है कि लोग इसे कितना वैध मानते हैं और लोगों के बीच शासन को लेकर संतोष का कैसा भाव है। यदि सरकार का सर्वोपरि हित इस बात में है कि वह लोगों से कानून और व्यवस्था को मानने को प्रेरित करे तो लोगों का हित इस बात में है कि वे अपने अधिकारों का संरक्षण करें और उन्हें बढ़ावा दें।

15.2.2 राज्यों का ऐतिहासिक अस्तित्व

प्राचीन यूनान और रोम की शुरुआत नगर-राज्यों के रूप में हुई। यद्यपि उनसे भी प्राचीन राज्य मिश्र और मेसोपोटामिया को साम्राज्य कहा गया है, फिर भी यह संदेहजनक है कि उनके अधिकार आधुनिक साम्राज्यों जैसे व्यापक थे। बहरहाल, यूनान और रोम दोनों ही आगे जाकर साम्राज्य बने और कालांतर में उनका विलय भी हो गया। ऑल्मंड और पॉवेल कहते हैं कि 'विशेषकर साम्राज्यिक रोम जैसे विशाल साम्राज्यों में, ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि कुलीनों ने निष्ठा और प्रतिबद्धता की एक समान राष्ट्रीय संस्कृति बनाने का कभी प्रयास नहीं किया, बल्कि वे एक केन्द्रीकृत और पैठ बनाने वाली नौकरशाही को बढ़ाकर ही संतुष्ट रहे, जबकि उन्होंने सांस्कृतिक स्तर पर स्पष्ट अवयवी इकाइयों को बना रहने दिया और थोड़ी स्वायत्तता भी प्राप्त करने दी।'

ऑल्मंड और पॉवेल के उपर्युक्त कथन में एक सांस्कृतिक सर्वाधिकारवाद की बू आती है जो अमेरिकी राज्यतंत्र की विशेषता है जहाँ अंग्रेजी भाषा का ज्ञान नागरिकता की पहली शर्त है। इसमें इस आनुभाविक यथार्थ की अवहेलना की गई है कि कोई भी बड़ी राजनीतिक इकाई पर्याप्त मात्रा में स्थानीय और सांस्कृतिक स्वायत्तता देने को बाध्य होती है जिससे कि लोगों में राज्य के प्रति एक समग्र प्रादेशिक निष्ठा जगाई जा सके। रोमन साम्राज्य के विलय के बाद यूरोप में अनेक सामंती राज्य बन गए यद्यपि उनमें से कुछ स्वयं को 'साम्राज्य' ही कहते थे। उन पर ऐसे वंशों का शासन था जिनके पास

शासन की दैवीय अधिकार के नाम पर अपनी प्रजा पर निरंकुश अधिकार था। पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के सुधारवाद ने दैवीय अधिकार के इस सिद्धान्त का उन्मूलन कर दिया और पुनरुत्थान के साथ ही लोगों में एक नया आत्म-विश्वास भी आ गया। इस प्रकार, 'वंशीय राज्य' के मुकाबले 'राष्ट्रीय राज्य' की अवधारणा का जन्म हुआ। सम्राट राष्ट्र की एकता का प्रतीक बन गया।

15.2.3 ऑल्मंड - पॉवेल योजना का महत्व

बहरहाल, ऑल्मंड - पॉवेल योजना का विश्लेषणात्मक महत्व बहुत अधिक है। इन लेखकों के अनुसार आदिम राजनीतिक व्यवस्थाओं ने अपनी समस्याओं का निपटान अधिकतर रुक-रुक कर और बिखरे हुए अंदाज में किया। इसके लिए उन्होंने तदर्थ अथवा न्यूनतम संरचनात्मक विभेदन और विशेषीकरण को साधन बनाया। पारंपरिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की विशेषता उनकी विशेषीकृत नियंत्रणकारी संरचनाएँ और अपने सदस्यों में निष्ठा पैदा करने की उनकी प्रतीकात्मक क्षमता और बृहत्तर राजनीतिक व्यवस्था के साथ उनकी पहचान थी। किन्तु राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी और अपने उत्पादों के वितरण की समस्याओं का निपटारा ये व्यवस्थाएँ फिर भी रुक-रुक कर और बिखरे हुए अंदाज में ही करती थीं। आधुनिक स्थिर लोकतंत्रों में ये सभी कार्य स्पष्ट रूप में देखने को मिलते हैं।

फिर भी, अलग-अलग देशों में उन व्यवस्थाओं ने अलग-अलग ढंग से कार्य किया है। इस प्रकार, ब्रिटेन में टुडॉर युग में राज्य निर्माण का कार्य नागरिक जीवन में राज्य की पैठ और इन दोनों के बीच एकीकरण के अर्थ में संपन्न कर लिया गया था। किन्तु, सांस्कृतिक एकरूपीकरण और उपव्यवस्थागत स्वायत्तता के विकास के अर्थ में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों तक चलती रही। उन्नीसवीं और फिर बीसवीं शताब्दी में ही कल्याण कार्य की भागीदारी और वितरण की समस्या पर ध्यान दिया गया। देर तक चलने वाली इस क्रमिक प्रक्रिया से ब्रिटेन को संक्रमण की आसान राह पर चलने में मदद मिली।

जर्मनी में ये चार प्रक्रियाएँ एक छोटी अवधि में और लगभग साथ-साथ ही चलीं। टुडॉर युगीन ब्रिटेन में सामंतों को अपनी रियासतों से हाथ धोना पड़ा और उन्हें उचित अधिकार और प्रभावशाली पद देकर संसद और नौकरशाही में जगह दे दी गई। दूसरी ओर, जर्मनी में सामंतों को राज्य के नौकरशाही और सैनिक ढाँचे में ले लिया गया। फ्रांस ने इन दोनों के बीच का रास्ता अपनाया। वहाँ सामंती अभिजात वर्ग को शाही दरबार में जगह दी गई और उनके अधिकार और सामुदायिक मूल से उन्हें वंचित कर दिया। पद पर आधारित एक नए अभिजातवर्ग ने राज्य सत्ता पर अधिकार कर लिया और मध्यम वर्ग के लिए उच्च पदों के दरवाजे बंद कर दिए। इससे राज्य के लिए अधिकरण, अस्मिता, निष्ठा और भागीदारी का संकट खड़ा हो गया। फ्रांस का किसान वर्ग करों, सैन्य सेवाओं और सामंती विशेषाधिकारों के बोझ के कारण अलग-थलग पड़ गया। इस प्रकार क्रान्तिकारी फ्रांस में अस्थिरता की स्थिति बन गई।

उपर्युक्त विश्लेषण में सुगम ब्रिटिश नमूने और अस्थिर फ्रांसीसी-जर्मन नमूने के बीच जो

अंतर दिखाया गया है वह इस मान्यता पर आधारित है कि ब्रिटेन के पास जो राजनीतिक विकास की प्रक्रिया को अंजाम देने का समय और अवकल दोनों थी किन्तु औरों के पास इनमें से कुछ भी नहीं था। यह एक ऐतिहासिक विश्लेषण है, और यह इतना अमूर्त है कि इसमें फ्रांस और जर्मनी के राजनीतिक अनुभव की स्पष्ट तस्वीर मिलनी संभव नहीं है। उत्तर-नात्सी (Post-Nazi) जर्मनी अथवा पाँचवा रिपब्लिकन फ्रांस अपनी राजनीति कैसे चलाते हैं? क्या उन्होंने राज्य निर्माण की प्रक्रिया को नए सिरे से शुरू किया है? या फिर, अमेरिका 1776 के बाद राज्य निर्माण की समस्या से कैसे निपट पाया?

15.3 संविधानवाद

15.3.1 उद्भव

सत्रहवीं शताब्दी में प्रबोधन (Enlightenment) युग की शुरुआत से व्यक्तिगत स्वतंत्र के महत्व को तो बल मिला ही सम्राट के अधिकारों में कटौती की प्रक्रिया भी चल निकली। इस प्रवृत्ति की राजनीतिक विचारधारा की अभिव्यक्ति सामाजिक अनुबंध के उस सिद्धान्त में हुई जिसमें सम्राट के लिए शासन करने के किसी दैवीय अधिकार का कोई प्रावधान नहीं था। उसके बजाय यह कहा गया कि सम्राट को यह अधिकार जनता ने ही कुछ शर्तों पर दिया है। यद्यपि जॉन हॉब्स को निरंकुशतावादी माना जाता है, फिर भी उसमें भी जनता के जीवन की रक्षा करने के सम्राट के कर्तव्य पर जोर दिया था। लॉक ने एक कदम और आगे बढ़ते हुए इस कर्तव्य में 'संपत्ति' को भी जोड़ दिया और यह भी कहा कि 'संपत्ति' में स्वतंत्रता शामिल है। वैसे, लॉक का अधिक बुनियादी आग्रह नागरिक समाज की स्वायत्तता को लेकर था जिसकी रचना नागरिक समाज और राज्य के संस्थापक शासक के बीच होने वाले अनुबंध के पहले एक सामाजिक अनुबंध के माध्यम से हुई थी। इस तरह, लॉक का सम्राट एक सीमित अधिकार वाला सम्राट था। इसलिए, वह उस सीमिति अथवा संवैधानिक साम्राज्य का समर्थन करता था जिसकी रचना 1688 की 'गौरवमय क्रान्ति' के फलस्वरूप हुई थी।

यही 'संविधानवाद' की प्रक्रिया का आधार था। बाद में इसका विकास फ्रांसीसी राजनीतिक दार्शनिक मॉटेस्क्यू ने किया। मॉटेस्क्यू ने 1689 में स्थापित सरकार के ब्रिटिश नमूने का विस्तार करते हुए अधिकार अथवा सत्ता के अलगाव की योजना दी। इसी योजना से प्रभावित होकर विश्व के पहले लिखित संविधान अर्थात् अमेरिकी संविधान की रचना हुई। उसी के बाद अन्य अनेक लोकतांत्रिक देशों में लिखित संविधान को अपनाया गया।

15.3.2 संविधानवाद का अर्थ

'संविधान' का शाब्दिक अर्थ होता है कि किसी निकाय का गठन और संरचना कैसे होती है। राजनीति शास्त्र में इसका अर्थ होता है कि एक राज्य और उसके अधिकरण का किस प्रकार गठन होता है। जब अरस्तू ने यूनानी जगत के लगभग 150 नगर राज्यों का अध्ययन करने के बाद 'पॉलिटिक्स' की रचना की, और संविधानों का वर्गीकरण किया, तो वह 'संविधान' के इसी शाब्दिक अर्थ का प्रयोग कर रहा था। बाद में, इसमें एक

महत्व जुड़ गया। एक संविधान में विश्वस्त तौर पर इस सीमा तक स्थिरता और सम्माननीयता का गुण होता है कि लोग यह अपेक्षा करते हैं कि सरकार के सदस्य और अंग इसका पालन करेंगे। जब सरकार संविधान का पालन करती है तो इस स्थिति को ही 'संविधानवाद' कहा जाता है। इसका यह अर्थ होता है कि सरकार को किसी व्यक्ति की सनक से नहीं चलाया जा सकता।

बहरहाल, जैसा कि 'संवैधानिक राजतंत्र' के नाम से आभास होता है, संविधानवाद तो गणराज्यवाद नहीं है। आज भी यूरोप में ऐसे वंशगत सम्राट हैं जिन्होंने अपने पूर्ण अधिकार निर्वाचित विधायिका को दे दिए हैं। दूसरी ओर, एक निर्वाचित राष्ट्रपति के नेतृत्व वाली व्यवस्था अर्थात् गणराज्यवाद का संवैधानिक शासन होना आवश्यक नहीं है। अनेक देशों में सैनिक शासकों ने अपने आपको राष्ट्रपति ही घोषित नहीं किया बल्कि जनमत संग्रह जैसे छलपूर्ण तरीकों से जनता का 'समर्थन' भी हासिल कर लिया है। उन्होंने अपने देश के संविधान से छेड़छाड़ की है और, अक्सर, तो उसे उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दिया है।

सिद्धान्त के स्तर पर, संविधानवाद और लोकतंत्र में भी अंतर है, जिसका सटीक उदाहरण फ्रांसीसी क्रान्ति के दार्शनिक रूसो के सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त में मिलता है। रूसो ने प्रत्यक्ष लोकतंत्र की हिमायत की थी और सरकार को कोई विशेष प्रस्थिति देने और जनता की इच्छा को किसी भी प्रकार की सीमा में बांधने को अस्वीकार कर दिया था जिसे वह संप्रभु मानता था। वैसे आज के जन राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र असंभव ही है। इसलिए, हर जगह प्रतिनिधि सरकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। प्रतिनिधियों ने क्योंकि भविष्य में राज्य करने का अधिकार दूसरों के हाथ में दे दिया है, इसलिए उनके अधिकारों की सीमा तय करने हेतु एक संविधान जरूरी हो जाता है - इन्हें 'खेल के नियम' कहा जा सकता है। यह माना जाता है कि संविधान के निर्माता कोरे कागज से शुरू करते हैं और उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। वे पूर्वाग्रह से भी मुक्त होते हैं। बाद में आने वाले राजनेताओं को इन नियमों का पालन करना होता है। यही कारण है कि विश्व के अधिकांश संविधान निर्माता संविधान को 'कठोर' बनाते हैं, अर्थात् उन्हें साधारण विधायी प्रक्रिया से बदला नहीं जा सकता। जहाँ ऐसे लिखित और कठोर संविधान वजूद में नहीं होते, वहाँ कुछ परम्पराओं और प्रथाओं को राष्ट्रीय आम सहमति से अनुल्लंघनीय मान लिया जाता है। इनमें से पहली तरह के संविधान का उदाहरण संयुक्त राज्य संविधान है, जबकि दूसरी तरह के संविधान का उदाहरण ब्रिटिश संविधान है।

15.4 संविधान के नमूने (मॉडल)

15.4.1 संविधानवाद का ब्रिटिश नमूना

लोकवाद और संविधानवाद का अंतर्विरोध आगे जाकर एक निर्वाचित विधायिका और एक गैर-राजनीतिक न्यायपालिका के बीच वैधता के दावे का रूप ले लेता है। ब्रिटेन में कोई लिखित संविधान न होने के कारण संसद में सम्राट की संप्रभुता ही सरकार का मान्य

सिद्धान्त होता है। इसका यह अर्थ होता है कि सम्राट संसद का एक अंग तो होता है किन्तु किसी सदन का सदस्य नहीं होता। सम्राट सदनों को संबोधित कर सकता है। कोई भी अदालत संसद के किसी अधिनियम की समीक्षा नहीं कर सकती और न ही उसे अवैध ठहरा सकती है, भले ही ब्रिटिश अदालतें अत्यंत उदारता के साथ संसदीय अधिनियमों की व्याख्या करती हैं।

ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था में एक द्विसदनी विधायिका का प्रावधान है - ऊपरी सदन अर्थात् हाऊस ऑफ लॉर्ड्स में आनुवंशिक और नामित लार्ड होते हैं, जबकि निचले सदन में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। अधिशासी अधिकार नाममात्र को सम्राट के पास होते हैं किन्तु अधिकार वास्तव में मंत्रिमंडल के पास होते हैं जिसमें दोनों ही सदनों के सदस्य होते हैं, किन्तु वह हाऊस ऑफ कॉमन्स (निचले सदन) के प्रति उत्तरदायी होता है। निचले सदन का विश्वास खो देने की स्थिति में हटा दिए जाने का मंत्रिमंडल का यह उत्तरदायित्व कार्यपालिका की निरंकुशता के विरुद्ध एक आश्वासन होता है। दूसरी ओर, निचले सदन को भंग करने और नए चुनाव कराने का मंत्रिमंडल का अधिकार भी सदन की निरंकुशता के विरुद्ध एक प्रकार का आश्वासन भी होता है। चुनाव उन मतदाताओं की बात करता है जो राजनीतिक संप्रभुता सम्पन्न होते हैं।

विधायिका और न्यायपालिका के बीच किसी संभावी टकराव से निपटने के लिए यह व्यवस्था रखी गई है कि देश की सर्वोच्च न्यायिक सत्ता 'हाऊस ऑफ लॉर्ड्स' होता है, और हाऊस ऑफ लॉर्ड्स आम तौर पर देश की राजनीति से अलग रहता है। किन्तु, यह सत्ता का रुढ़ विभाजन नहीं होता है। अमेरिका का संघीय सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक समीक्षा के जिस अधिकार का प्रयोग करता है वह ब्रिटेन के हाऊस ऑफ लॉर्ड्स की न्यायिक समिति के पास नहीं होता। कुल मिलाकर, हाऊस ऑफ लॉर्ड्स अधिक से अधिक यह कर सकता है कि किसी कानून को पारित होने में विलम्ब करना है।

15.4.2 अमेरिकी नमूना

ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की संवैधानिक व्यवस्थाओं का बुनियादी अंतर यह है कि संयुक्त राज्य का संविधान क्योंकि लिखित रूप में है इसलिए वहाँ संवैधानिक कानून को सामान्य कानूनों से ऊपर रखा गया है, जबकि ब्रिटेन का कोई लिखित संविधान नहीं है और संसद के बनाए सभी कानूनों की वहाँ बराबर ताकत होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कानूनों की व्याख्या करते समय सर्वोच्च न्यायालय संवैधानिक कानून की सामान्य कानून से ऊपर रखता है और ऐसे किसी भी विधान को खारिज कर देता है जिसकी राय संविधान के विरुद्ध जाती है। न्यायिक समीक्षा का यही आधार है। उसी के चलते, विशेषकर 1930 के दशक में, न्यायिक व्यवस्था पर यह आरोप लगा कि वह सार्वजनिक नीति के प्रति उदासीन हैं। किन्तु, हाल के वर्षों में यह देखा गया है कि संयुक्त राज्य की न्यायपालिका सार्वजनिक नीति के प्रति काफी संवेदनशील है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका वहाँ का राष्ट्रपति होता है, जिसका चुनाव अप्रत्यक्ष रूप में जनता करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका विधायी अधिकार निर्वाचित, द्विसदनी कांग्रेस में निहित होते हैं। कार्यपालिका की विधायिका के

प्रति कोई जिम्मेदारी नहीं होती। किन्तु यह व्यवस्था नियंत्रण के आधार पर काम करती हैं - इसे 'नियंत्रण और संतुलन' (checks and balances) की अवधारणा कहा जाता है। प्रत्येक प्रशासनिक विभाग का प्रमुख एक सेक्रेटरी (मंत्री) होता है और ये सेक्रेटरी अपने राष्ट्रपति के लिए काम करते हैं। इनका चुनाव वह संयुक्त राज्य कांग्रेस के दूसरे सदन अर्थात् सीनेट अथवा राज्य परिषद् की स्वीकृति से ही करता है। सारे कानून कांग्रेस ही लागू करती है, किन्तु उसमें राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक होती है। कांग्रेस के पास सरकारी कोष का भी पूरा नियंत्रण होता है। राष्ट्रपति कांग्रेस को संबोधित नहीं कर सकता किन्तु वह, या उसके सेक्रेटरी, कांग्रेस की समितियों से मिल सकते हैं। विधान और वित्तीय विधेयकों का प्रारूप कांग्रेस की समितियाँ बनाती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान न केवल लिखित रूप में है किन्तु कठोर भी है। संविधान में किसी संशोधन के लिए दोनों सदनों की दो-तिहाई संख्या को प्रस्ताव लाना होता है अथवा उस लोकसमिति का अनुसरण करना होता है जिसमें राज्य विधानमंडल की दो-तिहाई संख्या निवेदन करती है और राज्य विधानमंडलों अथवा राज्य की लोकसमितियों को उसे अनुमोदित करना होता है। संयुक्त राज्य संविधान संशोधन के लिए राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक नहीं होती। बहरहाल, मौलिक अमेरिकी संविधान एक कोश ढाँचा मात्र है। इसे लागू हुए दो सौ वर्ष से ऊपर हो चुके हैं, किन्तु इसमें केवल 26 संशोधन हुए हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान की एक प्रमुख विशेषता जो इसे ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था से अलग करती है, वह है इसका संघीय चरित्र। ब्रिटेन-जिसका औपचारिक नाम यूनाइटेड किंगडम है - एक इकाई राज्य है और यह एक इकाई के रूप में ही शासित होता है। यूनाइटेड किंगडम में संप्रभुता सम्राट अथवा शासनाधिकार महारानी के पास होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संप्रभुता संघ और राज्यों के बीच विभाजित रहती है। संघ के अधिकारों पर संविधान का नियंत्रण होता है। अवशिष्ट अधिकार राज्यों के पास होते हैं। संविधान का संरक्षक होने के नाते संघीय सर्वोच्च न्यायालय संघीय सम्बन्धों का भी संरक्षक होता है। राज्यों के अपने अलग न्यायालय होते हैं। पिछले दो सौ वर्षों से संघ के अधिकारों में न्यायिक निर्णय, लोक समितियों और राज्यों की समितियों के माध्यम से बहुत बढ़ोतरी हुई है।

ब्रिटिश अधिपत्य वाले कनाडा में संसदीय सरकार को ब्रिटिश नमूने और संघीय प्रादेशिक ढाँचे का एक मिला-जुला रूप 1867 में उभर कर सामने आया। इसकी मूल अवधारणा प्रान्तीय स्वायत्तता थी। इसी नमूने को एक जनतंत्रीय स्वरूप में भारत ने 1950 में अपनाया, और साथ ही पूर्व सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के संविधान से भी कुछ तत्व लिए।

15.4.3 महाद्वीपीय व्यवस्थाएँ

महाद्वीपीय यूरोप में मध्य-उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से सरकार के तीन अन्य प्रमुख रूप उभर कर सामने आए। स्विट्जरलैण्ड के छोटे से गणराज्य में एक मंडली कार्यपालिका अस्तित्व में आई। वहाँ मंत्रियों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से विधायिका करती है, किन्तु वे उसके प्रति जिम्मेदार नहीं होते। वे विधायिका के पूरे कार्यकाल तक

अपने पदों पर बने रहते हैं। पहल, जनमत संग्रह, और वापस बुलाने के रूप में उसमें प्रत्यक्ष लोकतंत्र के तत्व भी हैं।

स्विट्जरलैण्ड एक विशेष प्रकार का परिसंघ भी है। यह अपने आपको 'परिसंघ' कहता है, जो कभी 1777 और 1789 के बीच परिसंघीय संविधान बनने के समय संयुक्त राज्य अमेरिका की पदवी होती थी। स्विस् लोग अपने आपको एक बहु-धर्मीय और बहु-भाषायी राष्ट्र मानते हैं। तीन प्रमुख भाषाओं - जर्मन, फ्रांसीसी और इतालवी - और दो प्रमुख धार्मिक पंथों - कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट - के आधार पर स्विज जनता 22 प्रदेशों और छह अर्धप्रदेशों में बँटी हुई है जो अपने आपमें एकरूपीय हैं। स्विस् प्रदेशों को संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों की अपेक्षा अधिक स्वायत्तता प्राप्त है। स्विट्जरलैण्ड बहु-सांस्कृतिक राष्ट्रत्व की दिशा में पहला प्रयोग है और कनाडा से अधिक व्यापक है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब मज़दूरों और किसानों का पहला राज्य - सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ - बना तो उसने स्विट्जरलैण्ड के नमूने को ही अपनाया और अपने आपको एक 'बहु-राष्ट्रीय राज्य' कहा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जर्मनी ने 'चांसलर व्यवस्था' वाली सरकार को अपनाया, जिसमें चांसलर का पद एक प्रधानमंत्री के बराबर होता है और उसकी नियुक्ति संघीय विधायिका के पहले सदन 'बुंदेस्टाग' की सहमति से संघीय राष्ट्रपति करता है। यदि बुंदेस्टाग राष्ट्रपति की सिफारिश से सहमत नहीं होता तो उसे चांसलर का चुनाव करना होता है। बुंदेस्टाग एक वैकल्पिक चांसलर का चुनाव करने से पहले चांसलर के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव भी नहीं ला सकता।

पिछली शताब्दी के सातवें (1960 के) दशक के बाद से एक नए किस्म का संविधान उभर कर आया है जिसमें राज्याध्यक्ष सरकार से ऊपर होता है और एक प्रकार से संविधान का अंतिम संरक्षक होता है। इस प्रकार का संविधान सबसे पहले फ्रांस में अस्तित्व में आया जब चार्ल्स दि गॉल ने पंचम गणतंत्र का गठन किया। बाद में श्रीलंका (सीलोन) ने इसे अपनाया। अन्य जगहों पर कुछ फौजी तानाशाहों ने भी इसी प्रकार के संवैधानिक स्वरूप को खड़ा करने का प्रयास किया है।

15.4.4 संविधान निर्माण का विकासात्मक नमूना

अलिखित तथा लचीले संविधान और लिखित तथा कठोर संविधान ने अंतर को उनका पालन करने वाले देशों के इतिहास में देखा जा सकता है। ब्रिटिश संविधान तो राजनीतिक विकास के लगभग सतत मार्ग की देन है। ब्रिटेन के इतिहास में केवल एक बार ऐसा मौका आया है जब राजतंत्र को आक्रामक ढंग से उखाड़ फेंका गया था - 1648 के गृह युद्ध में। क्रान्ति के नेता ऑलिवर क्रॉमवेल ने तब 'लॉर्ड प्रोटेक्टर' की भूमिका संभाल ली थी और 1649 में एक राजप्रपत्र (इंस्ट्रूमेंट ऑफ गवर्नमेंट) जारी किया जो कुछ वर्षों तक एक अस्थायी संविधान के रूप में प्रभावी रहा। ऑलिवर क्रॉमवेल के निधन के बाद रिचर्ड क्रॉमवेल लॉर्ड प्रोटेक्टर बन गया और तब ब्रिटिश जनता को यह महसूस हुआ कि उन्हें तो बस आनुवंशिक तानाशाही मिली है। उन्होंने इसे उखाड़ फेंका और राजतंत्र को वापस ले आया। किन्तु नए सम्राट चार्ल्स द्वितीय का विधायिका का सम्मान करने

का कोई इरादा नहीं था। यही हाल उसके बेटे जेम्स द्वितीय का रहा। इस तरह 1688 में गौरवमयी क्रान्ति हुई और सम्राट को हटा दिया गया। किन्तु, राजतंत्र का अंत नहीं हुआ। नए सम्राट विलियम ऑल ऑरेंज ने 1689 का अधिकार घोषणापत्र जारी कर दिया जो ब्रिटेन में संवैधानिक राजतंत्र का आधार है। उसके बाद के वर्षों में दो प्रमुख घटनाएँ हुईं। एक थी मंत्रिपरिषद् और उसकी कैबिनेट समिति के राजनीतिक नेतृत्व की स्थापना और दूसरी थी मताधिकार का क्रमशः विस्तार। 1928 में ब्रिटेन में सर्वजनीन वयस्क मताधिकार की स्थापना हो गई।

यह एक विरोधाभास रहा कि ब्रिटेन में कैबिनेट के नेतृत्व का विकास और समापन नकारात्मक अर्थात् मंत्रीय जिम्मेदारी के रूप में हुआ। तकनीकी रूप में इसका यह अर्थ होता है कि मंत्रि परिषद् सामूहिक रूप में उस विधायिका के प्रति उत्तरदायी है जिसे सम्राट ने सरकार के सभी अधिकार दे रखे हैं। इसका अत्यधिक व्यावहारिक महत्त्व है क्योंकि सरकार (शासन) के सभी अधिकारों का प्रयोग मंत्रि परिषद् की सलाह पर सम्राट ही करता है। इसी से यह मुहावरा चल पड़ा है कि 'राजा कोई गलती नहीं कर सकता'। मंत्रि परिषद् का जहाँ तक सम्बन्ध है तो वह विधायिका का विश्वास होने का दावा करती है। यह सच है कि विधायिका निदा प्रस्ताव लाकर मंत्रि परिषद् को हटा सकती है। किन्तु, जब तक मंत्रि परिषद् पदरूढ़ रहती है, वही विधायिका की नेता और प्रवक्ता होती है। इसकी सलाह को कोई भी सम्राट ठुकरा नहीं सकता।

सम्राट हमेशा मंत्रिपरिषद् की सलाह मानता है, और मंत्रि परिषद् विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है - ये दो तथ्य ब्रिटेन के संवैधानिक सरकार के दो पैर हैं जिन पर वह खड़ी होती है। किन्तु ये तथ्य अपने आप ब्रिटेन को एक लोकतंत्र नहीं बना देते। ब्रिटेन का लोकतंत्र अंततोगत्वा जनता के मतदान के अधिकार पर आधारित है। लोकतंत्र की इसी आवश्यकता ने ब्रिटिश संसद के एक आनुवंशिक और नामित सदन अर्थात् हाऊस ऑफ लार्ड्स को वस्तुतः शक्तिहीन बना दिया है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ब्रिटिश संविधानवाद ने एक लोकतंत्र के रूप में विकसित और परिपक्व होने में 1215 में 1929 तक लगभग सात सौ वर्षों का समय लिया। यह एक सतत् प्रक्रिया थी - उसमें 1648 और 1659 के बीच एकमात्र अस्थायी व्यवधान आया। इस तरह, ब्रिटेन को एक पूर्ण और औपचारिक संविधान बनाने का कभी मौका ही नहीं मिला। इसलिए, ब्रिटिश संविधान को 'अलिखित' कहा जाता है। किन्तु ब्रिटेन के संविधान में कई लिखित तत्व भी हैं। कई संसदीय अधिनियमों के माध्यम से संशोधित अथवा समीक्षित किया जा सकता है, फिर भी उन्हें पावन माना जाता है। निस्संदेह, ब्रिटेन की मेधा संवैधानिक परिपाटियों के विकास में ही निहित है। कैबिनेट प्रणाली लगभग पूरी की पूरी परिपाटी पर आधारित है।

15.4.5 संविधान निर्माण का क्रान्तिकारी नमूना

दूसरे उदारवादी लोकतंत्रों में संवैधानिक शासन ने क्रान्ति का मार्ग अपनाया है। आमतौर पर एक उदारवादी, अधिनायकवाद - विरोधी क्रान्ति के बाद जनता 'कोरे कागज' से

शुरुआत करना चाहती है, एक ही प्रयास में अपने राजनीतिक ढाँचे का पुनर्निर्माण करना चाहती है, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक असेम्बली या कन्वेंशन में इकट्ठी बैठना चाहती है।

विश्व की ऐसी पहली सभा 1787 की फिलाडेल्फिया की संवैधानिक कन्वेंशन थी जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान का निर्माण किया गया। 1776 में आज़ाद होने वाले और 1777 में परिसंघ का गठन करने वाले 13 उत्तरी अमरीकी राज्यों के 52 प्रतिनिधियों ने मूल रूप में 'परिसंघ' की शर्तों पर पुनर्विचार करने के लिए बैठक की थी। किन्तु, अंत में उन्होंने सात नियम बनाए जिन्हें बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका का संघीय संविधान कहा गया। जब सभी 13 राज्यों ने इसका अनुमोदन कर दिया, तभी इसे लागू किया गया। बाद में इसमें 26 संशोधन किए गए और कन्वेंशनों और न्यायिक निर्णयों से उसे समृद्ध किया गया।

दूसरी ऐसी सभा 1789 की फ्रांसीसी 'स्टेट जनरल' थी जिसकी पहली बैठक शाही सम्मन से तीन 'सत्ता वर्गों' - पादरी वर्ग, सामंत वर्ग और जनसाधारण - में हुई। ये तीनों वर्ग क्योंकि आपस में मिल नहीं पाए, इसलिए तीसरे वर्ग ने पादरी वर्ग के एक बड़े तबके की भागीदारी से स्वयं को 'राष्ट्रीय असेम्बली' का रूप दे दिया और यह घोषणा कर दी कि फ्रांस में संप्रभुता राष्ट्र में निहित होगी। 12 अगस्त 1789 के 'जनाधिकार घोषणापत्र' में यह ऐलान किया गया कि 'समान रूप में जन्मे सभी मनुष्यों - को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए'। इसने और आगे जाते हुए एक संविधान का प्रारूप तैयार किया जिसमें संवैधानिक राजतंत्र का सिद्धान्त तो रखा ही गया अधिकारों के विभाजन के अमेरिकी नमूने को भी जगह दी गई। राष्ट्रीय असेम्बली में यह प्रावधान रखा कि संविधान को 10 वर्षों तक बदला नहीं जा सकेगा। तत्कालीन सम्राट लुई छठवें ने इस संविधान को स्वीकार तो कर लिया पर उसके अनुसार चला नहीं। ऑस्ट्रिया के साथ हुए युद्ध ने स्थिति को और भी जटिल कर दिया और संविधान/राष्ट्रीय सभा के नेतृत्व का स्थान राजतंत्र का उन्मूलन करने वाले 'कन्वेंशन' ने ले लिया। फ्रांस में उथल-पुथल मचाई और उसके परिणामस्वरूप नेपोलियन बोनापार्ट की तानाशाही का उदय हुआ।

विशुद्ध राजनीतिक रंग की अमेरिकी क्रान्ति के विपरीत फ्रांसीसी क्रान्ति केवल राजनीतिक ही नहीं सामाजिक-आर्थिक भी थी। किन्तु इसमें ऐसे नेतृत्व का अभाव था जो उस 'प्राचीन शासन' का स्थानापन्न दे सके जिसे उसने उखाड़ फेंका था। इसलिए, यह क्रान्ति विफल हो गई।

किन्तु एक संविधान का निर्माण तो हो ही चुका था। फिलाडेल्फिया संवैधानिक कन्वेंशन और फ्रांसीसी राष्ट्रीय असेम्बली दोनों ने ही उन संदर्भों शर्तों के आगे जाकर इसे पूरा किया था जिनके आधार पर उनका गठन किया गया था। दोनों ही क्रान्तिकारी प्रकृति के थे। यह 1848 के फ्रैंकफुर्ट संसद में नहीं हुआ जिसे सम्राट ने बुलाया था और एक संवैधानिक राजतंत्र के लिए एक संविधान का निर्माण किया था। सम्राट ने संविधान को स्वीकार नहीं किया और फ्रैंकफुर्ट असेम्बली को पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

15.5 संविधानवाद और राज्य निर्माण

15.5.1 एक ढाँचे के रूप में संविधान

इस तरह, ऐतिहासिक संदर्भ में किसी देश का संविधान राज्य निर्माण की रूपरेखाओं का ही व्याख्या करता है। संरचना की दृष्टि से, यह वह ढाँचा है जिसके अंदर राज्य और समूची राजनीतिक व्यवस्था संप्रभु सत्ता की शक्ति की सीमाओं और जनता के अधिकारों का निर्धारण करके कार्य करती हैं। यदि इसे वर्णनात्मक अर्थ में न लेकर मानकीय अर्थ में लिया जाए तो, संविधान के गठन से एक साथ दो मूलभूत उद्देश्यों की प्राप्ति होती है: (1) यह राज्य और नागरिक समाज को अलग करता है। (2) यह राज्य की सत्ता को एक शासक की सनक से मुक्त करता है।

15.5.2 राज्य और नागरिक समाज

जब राज्य नागरिक समाज के मामलों पर नियंत्रण रखता है तो वह व्यवस्था सर्वाधिकारी होती है। आदिम समाजों में राजनीतिक नियंत्रण और सामाजिक अधिकरण में कोई भेद नहीं होता। पारंपरिक समाजों में भी आनुवंशिक शासक अक्सर पुरोहित नेतृत्व और सामंती अधीनस्थों के साथ साँठ-गाँठ करके सामाजिक मामलों पर अपना नियंत्रण रखता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार अठारहवीं शताब्दी से पहले ऐसा नहीं हुआ कि यूरोप के नागरिक समाज ने वास्तव में स्वायत्तता प्राप्त की। वह विकासशील पूँजीवाद और राजनीतिक उदारवाद का युग था। दूसरी ओर, दो विश्व युद्धों के बीच पूँजीवाद के संकट ने यूरोप में सर्वाधिकारवादी साम्यवाद और फासीवाद को जन्म दिया।

राज्य और नागरिक समाज के सम्बन्ध से जुड़ी एक और समस्या नागरिक समाज से राज्य की स्वायत्तता है। सांप्रदायिक और जातीय अतिवाद से संचालित राज्यों में कभी-कभी राज्य क्षेत्रवादी हितों का पिछलग्गू हो जाता है। राज्य की सत्ता की तटस्थता उसकी स्थिरता की एक आवश्यक शर्त है। पूरे मध्य युग में, यूरोप में यह स्थिति रही कि धार्मिक नेता राजनीतिक वर्चस्व के लिए धर्मनिरपेक्ष नेताओं से होड़ करते रहे। सुधारवादी दौर के बाद, यूरोप के राज्य खूनी धार्मिक टकरावों में उलझ गए। इस प्रकार के क्षेत्रवादी टकरावों से राज्य की सत्ता को अलग करने के लिए ही धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का उदय हुआ। 1791 में अमेरिकी संविधान के सबसे पहले संशोधन में यह व्यवस्था की गई कि कांग्रेस धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।

किन्तु, समाज में धर्म ही एकमात्र विघटनकारी शक्ति नहीं है। नस्ल और भाषा झगड़े के दो अन्य प्रमुख कारण हैं। अमेरिका ने भयंकर नस्लीय झगड़े देखे हैं। 1868 से कई संवैधानिक संशोधनों के जरिये इस बुराई को कम करने के प्रयास किए गए हैं और सामान्य विधायी और अधिशासी उपाय भी किए गए हैं। भारत में भी धर्म और भाषा के कारण काफी झगड़े हुए हैं। भारत के संविधान में धर्मनिरपेक्षता को एक दिग्दर्शक शक्ति के रूप में अपनाया गया है। संविधान के सत्रहवें भाग में हिन्दी और अंग्रेजी को संघ की राजभाषा के रूप में घोषित किया गया है। राज्यों को अपने आंतरिक प्रयोग

के लिए अपनी भाषा को अपनाने की स्वतंत्रता है। संसद सदस्य आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भारतीय भाषाओं में से किसी भी भाषा में बोल सकते हैं। धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों को अपनी अलग शैक्षिक संस्थाएँ खोलने की छूट है। प्रत्येक नागरिक को धर्म की स्वतंत्रता दी गई है।

15.5.3 कानून का शासन

कानून के शासन की अवधारणा का विकास सबसे पहले ब्रिटेन 'यूनाइटेड किंगडम' में मनमानी अधिशासी सत्ता से लड़ने के लिए किया गया था। इसमें 'सामान्य कानून' के अंतर्गत आने वाली प्रथाएँ और परम्पराएँ, विधान और न्यायिक निर्णय शामिल थे। संविधानवाद वास्तव में कानून के शासन का एक उप-समूह है। इसकी विशिष्टता है संवैधानिक कानून को देश के सर्वोच्च कानून के रूप में मान्यता देना।

कानून के शासन के पालन के लिए एक स्वाधीन न्यायपालिका की आवश्यकता होती है जिसके सदस्यों को कानून का ज्ञान और ईमानदार होना चाहिए। कानून को लागू करने की प्रक्रिया में न्यायाधीश उसकी व्याख्या और इसके क्षेत्र का विस्तार 'न्यायाधीश-निर्मित कानूनों' के रूप में करते हैं। न्यायिक समीक्षा, अर्थात् संविधान के साथ टकराव के आधार पर एक सामान्य कानून को अवैध करार देने का अधिकार, कानून को व्याख्याचित और लागू करने के न्यायपालिका के अधिकार की ही एक प्रशाखा है। मनमानी अधिशासी कार्रवाई के विरुद्ध नागरिकों के अधिकार सुनिश्चित करने के लिए न्यायपालिका बंदी उपस्थापक नियम और परमादेश जैसी अनेक 'याचिकाओं' को लागू करती है।

15.5.4 सेना और नौकरशाही

एक गैर-राजनीतिक सेना और एक गैर-दलीय नौकरशाही संविधानवाद की सर्वोच्च आवश्यकताओं में आते हैं। सशस्त्र बलों और नौकरतंत्र के सदस्यों को देश के प्रधान अधिशासी की नाम मात्र की सत्ता के अधीन रखा जाता है। उन्हें विभिन्न प्रकार की लोक परीक्षा व्यवस्थाओं के माध्यम से नियुक्त किया जाता है। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे कानून के दायरे में सरकार के आदेशों का पालन करेंगे। व्यापक तौर पर, सेना देश की प्रतिरक्षा का काम संभालती है और नौकरशाही राज्य की नीतियों को लागू करती है। नौकरशाही राज्य और जनता के बीच मुख्य कड़ी होती है, और राज्य की विकास सम्बन्धी गतिविधियों का प्रमुख कड़ी होती है, और राज्य की विकास सम्बन्धी गतिविधियों की प्रमुख एजेंट भी। नौकरशाही और सेना उस राजनीतिक कार्यपालिका के प्रति जबाबदेह होती हैं, जो लोकतंत्र में जनता का प्रतिनिधित्व करती है।

15.6 अधिकारों का संविधान

15.6.1 उद्भव

अंग्रेजी के शब्द 'राइट' का मौलिक अर्थ उचित/सही है। आज 'राइट' का जो अर्थ 'अधिकार' प्रचलित है उसका उद्गम 'नेचर' (प्रकृति) के साथ उसके सम्बन्ध से हुआ

है। यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि संवैधानिक सरकार के सिद्धान्त का जनक जॉन लॉक प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त का भी जनक था। इससे उसका अभिप्राय: अस्तित्व की कतिपय स्थितियों के प्रति जनता के प्राकृतिक दावे/अधिकार से था। उसने जीवन के अधिकार और सम्पत्ति के अधिकार का उल्लेख करते हुए सम्पत्ति को एक व्यापक अर्थ में परिभाषित किया था, जिसमें स्वतंत्रता भी शामिल थी।

इससे सरकार की सत्ता और जनता के अधिकारों के बीच एक अंतर्विरोध की स्थिति बन गई थी। जनता के अधिकारों को तब तक सुरक्षित माना जाता था जब तक कि सरकार की सत्ता सीमित थी। इस सैद्धान्तिक स्थिति के कारण सरकार की पिछली तमाम धारणाओं में एक आमूल अवरोध पैदा हो गया। प्राचीन यूनानी न्याय की बात करते थे। यह सरकार की जिम्मेदारी होती थी कि वह अपनी जनता के प्रति न्याय करे। इस तरह, 'न्याय' की व्याख्या करना यूनान के राजनीतिक सिद्धान्त का केन्द्रीय सरोकार था। वंशवादी राजतंत्रों के जमाने में यह दृष्टिकोण बना रहा किन्तु सरकार से आने वाली हर चीज को एक शाही मेहरबानी समझा जाता था। लॉक ने इस नज़रिये को बिल्कुल बदल दिया।

यह सच है कि प्रत्येक विचार की अपनी ऐतिहासिक जड़ें होती हैं। 1215 में ही ब्रिटिश कुलीन वर्ग ने सम्राट को एक दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया था, जिसे बाद में 'मैग्ना कार्टा' के नाम से जाना गया। इसमें उनकी यह माँग थी कि बिना मुकदमे के किसी भी नागरिक को हिरासत में नहीं लिया जाएगा और किसी संसद की सहमति के बिना कोई कर नहीं लिया जाएगा। सम्राट ने अपने वचन का पालन नहीं किया। 1628 में संसद ने सम्राट को एक अधिकार याचिका प्रस्तुत की जिसे तुरन्त ही स्वीकार नहीं किया गया। 1648 में गृह युद्ध हुआ और इसके फलस्वरूप चार्ल्स प्रथम का सिर कलम कर दिया गया। 1688 की गौरवमयी क्रान्ति में कोई खून-खराबा नहीं हुआ। किन्तु इसके परिणामस्वरूप 1689 में 'अधिकारों की घोषणा' सामने आई। लॉक का सिद्धान्त इसी क्रान्ति पर आधारित था।

किन्तु अधिकारों की घोषणा प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा की जीत नहीं थी। यह सम्राट की ओर से आई थी। किन्तु, यह घोषणा जारी करते समय सम्राट ने अपने लिए कुछ सीमाएँ भी निश्चित कर दीं। इस प्रकार, एक सीमित अथवा 'संवैधानिक' राजतंत्र के विचार का जन्म हुआ।

अमेरिका में स्वाधीनता की घोषणा में ही सबसे पहले प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों पर जोर दिया गया। इसमें 'प्रकृति के ईश्वर और प्रकृति के नियमों' के जरिये 'अलग और समान प्रस्थिति' के 'जनता के अधिकार' की बात कही गई। इसमें कहा गया:

"हम इन सत्त्यों को स्वतः प्रमाणित मानते हैं कि सभी मनुष्यों को समान बनाया गया है, कि उन्हें उनके सृजनहार ने कुछ अभिन्न अधिकार दिए हैं, कि इन अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता और सुख की प्राप्ति हैं। कि इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों के बीच सरकारों को संस्थापित किया गया है, उनके न्यायसंगत अधिकारों को शासितों की सहमति से पाया गया है। कि जब भी किसी प्रकार की सरकार इन उद्देश्यों की

विनाशक हो जाती है, तो जनता का यह अधिकार बनता है कि वह इसे बदल दे या समाप्त कर दें, और एक नई सरकार का गठन करे, और इसकी नींव ऐसे सिद्धान्तों पर रखें और इसके अधिकारों का गठन इस रूप में करे जो उन्हें उनकी सुरक्षा और सुख को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले दिखाई दें।”

अधिकारों की घोषणा में “एक प्राकृतिक सामूहिक अधिकार पर जोर था - एक दमनकारी शासक के विरुद्ध एक शासित जनता के अधिकार पर। 1787 में जिस अमेरिकी संविधान का प्रारूप तैयार किया गया और जिसे 1789 में लागू किया गया, उसमें अधिकारों का कोई विधेयक नहीं था। किन्तु वहाँ उस सशक्त संघीय सरकार को लेकर व्यापक संदेह था जिसका गठन संविधान के जरिये हुआ था। इसलिए संविधान का प्रारूप बनाने वाले फिलाडेल्फिया संवैधानिक कन्वेंशन के नेताओं ने संविधान के लागू होने के तुरंत बाद जनता को यह विश्वास दिलाया कि उनके मूलभूत अधिकारों को संविधान में शामिल कर लिया गया है। 1791 में अमेरिकी संविधान में पहले दस संशोधन हुए जिनमें उन अधिकारों को शामिल किया गया।

15.6.2 अधिकारों का स्वरूप

पहले दस संशोधनों में जिन अधिकारों को सुनिश्चित किया गया वे इस अर्थ में ‘प्राकृतिक अधिकार’ थे कि उनका प्रारूप एक नकारात्मक रूप में तैयार किया गया था। उनमें राज्य को उन अधिकारों का सम्मान करने के लिए बांध दिया गया था। किन्तु, वे व्यक्तिगत अधिकार थे, सामूहिक नहीं। बाद में, 1803 के मार्बरी बनाम मैडिसन मामले के फैसले में जब अमेरिकी संघीय सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक समीक्षा का अधिकार ले लिया तो उसने अमेरिकी जनता के मूलभूत अधिकारों के संरक्षक की भूमिका भी संभाल ली।

इस तरह, उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धान्त में जनता के अधिकारों और राज्य की सत्ता के बीच अंतर्विरोध माना जाता है। इसे पहली बार 1936 के पूर्व सोवियत संघ के संविधान में दूर किया गया, जिसमें अधिकारों का गठन एक सकारात्मक भाषा में किया गया, जिसके अनुसार यह राज्य की जिम्मेदारी थी कि वह उन अधिकारों की व्यवस्था करे। इसलिए, नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की संवैधानिक गारंटी आवश्यक हो जाती है।

पश्चिमी देशों के उदारवादी लोकतांत्रिक संविधानों में राजनीतिक अधिकारों पर अधिक जोर दिया गया है क्योंकि इनका सम्बन्ध राज्य की सत्ता से है। उदारवादी लोकतंत्र का आर्थिक दर्शन ‘अहस्तक्षेप’ की नीति का रहा है, जिसका यह आशय है कि यदि जनता को अकेला छोड़ दिया जाए तो वह अपने हितों की स्वयं रक्षा कर सकती है। राज्य को चाहिए कि वह अपने आपको कानून और व्यवस्था बनाए रखने तक सीमित रखें और नागरिकों के साथ कोई भेदभाव न करे। 1936 के सोवियत संघ के संविधान में सर्वाधिक जोर आर्थिक अधिकारों पर दिया गया, विशेषकर एक सुनिश्चित रोजगार के अधिकार पर। इसके पीछे यह विश्वास था कि रहन-सहन की अच्छी स्थितियों के अभाव में राजनीतिक अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु, यह व्यवस्था 1990 में ध्वस्त हो गई।

जब भारत का संविधान तैयार हो रहा था तो उस बीच भारत की संविधान सभा ने

कुछ सकारात्मक मूलभूत अधिकारों को सुनिश्चित करने की संभावना और वांछनीयता पर काफी बहस की। किन्तु, उदारवादी लोकतांत्रिक ढाँचे के अंदर उसे उपादेय नहीं माना गया। इसलिए, आयरिश संविधान के अनुसार, भारतीय नागरिकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से राज्य नीति के कुछ निदेशक सिद्धान्त उसमें डाल दिए गए।

सकारात्मक अधिकारों की व्यवस्था का प्रमुख दोष इसका मूलतः ऐच्छिक स्वरूप है। यदि राज्य उन्हें लागू नहीं कर पाता है तो उसे किसी भी प्रकार से उसके लिए कठघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता है। किसी भी सकारात्मक अधिकार के लिए कोई न्यायिक गारंटी नहीं दी जा सकती क्योंकि दोषी राज्य आसानी से अपनी असमर्थता व्यक्त कर सकता है। एक राज्य के कामों के बारे में केवल राजनीतिक निर्णय ही हो सकता है। दूसरी ओर, जब किसी नकारात्मक अधिकार का उल्लंघन होता है तो यह कहा जाता है कि राज्य ने अपनी सीमा पार कर दी है। अदालत यदि राज्य के किसी कानून या आदेश को नियम विरुद्ध मानती है तो वह उसे लागू करने से मना कर देगी और लोग उस कानून या आदेश का उल्लंघन करने को आजाद हो जाएंगे।

15.7 सारांश

इस इकाई में आपने यह पढ़ा कि 'राष्ट्र' और 'राज्य' की अवधारणाओं का इतिहास में समांतर विकास हुआ है, किन्तु दोनों का विस्तार आवश्यक रूप में साथ-साथ नहीं हुआ है। जहाँ राज्य एक प्रादेशिक अवधारणा है, वहीं राष्ट्र एक मानवीय अवधारणा है। राज्य की पहचान अक्सर 'राष्ट्र' की अवधारणा से होती है। साथ ही, ये दोनों अवधारणाएँ परस्पर संबंधित हैं। राष्ट्र निर्माण में जनता का आर्थिक विकास और मनोवैज्ञानिक एकीकरण दोनों ही आ जाते हैं। राज्य निर्माण में अधिकरण का निर्धारण और प्रादेशिक विस्तार और सत्ता के साथ अनुरूपता की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में, संविधानवाद महत्वपूर्ण है। विभिन्न देशों के संविधानों में राज्य निर्माण की निर्धारक विशेषताओं की व्याख्या की गई है। नागरिक समाज, कानून का शासन, सेना और नौकरतंत्र राज्य निर्माण में जबाबदेह संस्थाओं की भूमिका निभाते हैं। अधिकार भी राज्य निर्माण का अभिन्न अंग होते हैं। बल्कि, जनता के अधिकारों का संरक्षण और हितों की प्रोन्नति राज्य निर्माण के मूल तत्व हैं।

15.8 बोध प्रश्न

1. आप राज्य निर्माण और राष्ट्र निर्माण की अवधारणाओं में कैसे अंतर करेंगे? इन दोनों के अवयवों का विवेचन कीजिए।
2. 'संविधानवाद' का अर्थ बताइए। क्या 'संवैधानिक शासन' और 'लोकतंत्र' की अवधारणाओं में कोई अंतर्विरोध है?
3. प्रमुख पश्चिमी लोकतंत्रों के संविधानों के नमूनों का विवेचन कीजिए।

4. संविधानवाद के विकास के उदविकासात्मक और क्रान्तिकारी नमूनों की विवेचना कीजिए। उनके अंतर्गत् के संरचनागत निहितार्थ क्या हैं?
5. आज राज्य निर्माण के क्षेत्र में संविधानवाद की क्या प्रासंगिकता है?
6. संविधानवाद में अधिकारों की क्या प्रासंगिकता है? संवैधानिक व्यवस्थाएँ अधिकारों की रक्षा किस प्रकार करती हैं?

कुछ उपयोगी पुस्तकें

अहमद, एन. और नॉर्टन, पी. (सम्पा.), *पार्लियामेंट्स इन एशिया*, लंदन, फ्रैंक कसास, 1999।

अलेक्सिस दि तॉकविए, *डेमोक्रेसी इन अमेरिका*, न्यूयॉर्क, डबलडे, गार्डन सिटी, 1969।

ऑल्मंड, जी. और विंघेम पॉवेल, जी., *कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स टुडे: ए वर्ल्ड व्यू*, सातवां संस्करण, न्यूयॉर्क, हार्पर कॉलिन्स, 20।

ऐंडरसन, बेनडिक्ट, *इमैजिन्ड कम्युनिटीज़: रिफ्लेक्शंस ऑन दि ओरिजिन एण्ड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज़्म*, लंदन, वर्सा, 1991।

ऐंड्रूज, विलियम जी., *कांस्टीट्यूशंस एण्ड कांस्टीट्यूशनलिज़्म*, दिल्ली: एफिलिएटेड ईस्ट - वेस्ट प्रेस प्रा. लि., 1971।

ऐप्टर डेविड ई., *इंट्रोडक्शन टु पॉलिटिक्स ऐनलिसिस*, नई दिल्ली, प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया, 1970।

बालाकृष्णन, गोपाल (सं.) *मैपिंग द नेशन*, लंदन वर्सा, 1996।

बॉल, टी. और डैगर, आर., *पॉलिटिक्स आइडियॉलॉजील एण्ड द डेमोक्रेटिक आइडियल*, दूसरा संस्करण, न्यूयॉर्क, हार्पर कॉलिन्स, 1995।

बैरी, बी., *सोशियोलॉजिस्ट्स, इकॉनामिस्ट्स एण्ड डेमोक्रेसी*, शिकागो यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1988।

बत्तरा, टी. एस., *इंटरनेशनल इंस्टीट्यूशंस*, नई दिल्ली, बुक हाइव, 1987।

बेयर्ट, जे.-एफ., *दि स्टेट इन अफ्रीका: द पॉलिटिक्स ऑफ द बेली*, हार्लो एण्ड न्यूयॉर्क, लॉंगमैन, 1993।

ब्लॉमस्ट्रॉम, मैगनस, और हेटने, ब्योर्व, *डेवलपमेंट थ्योरी इन ट्रांजिशन: द डिपेन्डेंसी डिबेट एण्ड बियॉड*, लंदन, जेड बुक्स, 1984।

ब्रेटॉन, एम. और वान डि वाल, एन., *डेमोक्रेटिक एक्सपेरीमेंट्स इन अफ्रीका: रिजीम ट्रांजिशंस इन कम्पैरेटिव पर्सपेक्टिव*, केम्ब्रिज़ और न्यू यार्क, केम्ब्रिज़ यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997।

ब्रूली, जे., *नेशनलिज़्म एण्ड दि स्टेट*, दूसरा संस्करण, न्यूयॉर्क, सेंट मार्टिन्स प्रेस, 1993।

बुकर, पी., *ट्वेंटीएथ सेंचुरी डिक्टेटरशिप्स: दि आइडियोलॉजिकल वन-पार्टी स्टेट्स*, बेसिंगस्टोक, मैकमिलन, 1995।

बर्गेस, एम. और गैन्यन, ए., *कम्पैरेटिव फेडरलिज़्म एण्ड फेडरेशन: कम्पीटिंग ट्रेडिंशंस एण्ड फ्यूचर डाइरेक्शंस*, हमेल हेम्पस्टेड, हार्वेस्टर व्हीटशीफ, 1993।

कैलहून, क्रेग, नेशनलिज़्म, बकिधंम, ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997।

चंडोक, नीरा, स्टेट एण्ड सिविल सोसाइटी, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस, 1995।

चौबे, शिबानी किंकर, कास्टीट्यूट असेम्बली ऑफ इंडिया: स्प्रिंगबोर्ड ऑफ रिवोल्यूशन, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1973।

चज़ान, एन., पॉलिटिक्स एण्ड सोसाइटी इन कम्प्रेसेरी अफ्रीका, तीसरा संस्करण, बोल्डर, कॉलराडो, लिन राइनट, 1999।

चिलकोट रोनाल्ड एच., थ्योरीज़ ऑफ कम्परेटिव पॉलिटिक्स, बोल्डर, कॉलराडो, वेस्टव्यू प्रेस, 1981।

सिगलर, सी. और लूमिस बी., (सं.) इंटेरेस्ट ग्रुप पॉलिटिक्स, पाँचवा संस्करण, वॉशिंगटन, डी.सी., कांग्रेसनल क्वार्टली पेपर्स, 1995।

कोहन, जीन एल., और ऐंड्रू अराटो, सिविल सोसाइटी एण्ड पॉलिटिक्स थ्योरी, केम्ब्रिज़: एम आई टी प्रेस, मैसा., 1997।

डाल्टन, आर., मॉडर्न पॉलिटिकल ऐनलिसिस, पाँचवा संस्करण, एंगलवुड क्लिफ्स, एन. जे., प्रेंटिस हॉल, 1991।

डाल्टन, आर. और वाटेनबर्ग, एम., पॉलिटिक्स विदाउट पार्टिजन्स: पॉलिटिकल चेंज इन एडवांस्ड इंडस्ट्रीयल डेमोक्रेसीज़, ऑक्सफर्ड और न्यू यॉर्क, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000।

डायमंड, लैरी, डेवलपिंग डेमोक्रेसी: टुवर्ड कन्सोलिडेशन, बाल्टिमोर, जॉन्स हॉपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999।

डूचासेक, आई., 'कॉन्स्टीट्यूशंस/कॉन्स्टीट्यूशनलिज़्म' - द ब्लैकवेल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, सं., वी. बागडोनर, ऑक्सफर्ड और केम्ब्रिज़, मैसा., ब्लैकवेल, 1991, पृ. 142।

डनलीवी, पैट्रिक और ब्रेंडन ओ 'लियरी, थ्योरीज़ ऑफ दि स्टेट, लंदन, मैकमिलन, एजुकेशन, 1987।

ईस्टन, डेविड, द पॉलिटिकल सिस्टम, न्यू यॉर्क, ऐल्फ्रेड ए. नॉफ, 1981।

एल्पी, आर., पॉलिटिकल लीडरशिप इन लिबरल डेमोक्रेसीज़, बेसिंगस्टोक, मैकमिलन, 1995।

फाइनर, एस., कम्परेटिव गवर्नमेंट, हार्मन्ड्सवर्थ, पैग्विन, 1974।

फ्रैंक मैकडोनाल्ड और स्टीफन डियरडेन, (सं.), यूरोपियन इकॉनामिक इन्टीग्रेशन, ऑक्सफर्ड, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992।

गेलनर, ई., नेशनल्स एण्ड नेशनलिज़्म, ऑक्सफर्ड, ब्लैकवेल, 1983।

गिब्सन, जे. और हैंसन, पी., (सं.), ट्रांसफॉर्मेशन, फ्रॉम बिलो: लोकल पावर एण्ड द पॉलिटिकल इकॉनमी ऑफ पोस्ट कम्युनिस्ट ट्रांजिशन, ऐल्डरशॉट और ब्रुकफील्ड, वी टी., एडवर्ड एल्गर, 1996।

गिल्स, बी. और रोकमोरा, जे. और विल्सन, आर. (सं.), लो इन्टेंसिटी डेमोक्रेसी: पॉलिटिकल पावर इन द न्यू वर्ल्ड ऑर्डर, बोल्डर, कॉलराडो और लंदन, प्लूटो, 1993।

गफ, कैथरीन और एच. पी. शर्मा (सं.) इम्पीरियालिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन इन साउथ एशिया, न्यूयॉर्क, मंथली रिव्यू प्रेस, 1973।

ग्रीनफेल्ड, लीया, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज़्म, खंड 1, ऐकेडेमिक प्रेस, लंदन, 2001, पृ. 883-98।

गीबरनो मॉन्टसेराट, नेशनलिज़्म - द नेशन स्टेट एण्ड नेशनलिज़्म इन द ट्वेन्टिअथ सेंचुरी, लंदन, पॉलिटी प्रेस, 1996।

हेग, रॉड., और मार्टिन हैरप, कम्पैरेटिव गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स: ऐन इंट्रोडक्शन, पाँचवा संस्करण, न्यू यॉर्क, पालग्रेव, 2001।

हैरिस, ईरोल ई. और जेम्स ए. यंकर (सं.) टुवर्ड्स जेन्युइन ग्लोबल गवर्नेंस: क्रिटिकल रिऐक्शंस, 'आवर ग्लोबल नेबरहुड' में, वेस्टपोर्ट, सी टी, प्रेगर, 1999।

हैक्टर, एम., कन्टेनिंग नेशनलिज़्म, ऑक्सफर्ड और न्यूयॉर्क, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000।

डेविड हेल्ड, डेमोक्रेसी, द नेशन-स्टेट एण्ड द ग्लोबल सिस्टम, स्वरचित, 'पॉलिटिकल थ्योरी टुडे' में, लंदन, पॉलिटी, प्रेस, 1991।

डेविड हेल्ड और अन्य, ग्लोबल ट्रांसफॉर्मेशंस, पॉलिटिक्स, इकॉनामिक्स एण्ड कल्चर, लंदन, पॉलिटी, प्रेस, 1999।

हेल्ड, डी., डेमोक्रेसी एण्ड द ग्लोबल ऑर्डर, केम्ब्रिज़, पॉलिटी, 1995।

हेल्ड, डी., मॉडल्स ऑफ डेमोक्रेसी, केम्ब्रिज़ यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996।

हेटन, बी. (सं.), ग्लोबलिज़्म एण्ड द न्यू रिजनलिज़्म, बेसिंगरस्टोक, मैकमिलन, 1999।

हेवुड, ऐंड्रू, पॉलिटिकल आइडियोलॉजीज़, दूसरा संस्करण, बेसिंगरस्टोक मैकमिलन, 1998।

हेवुड, ऐंड्रू, पॉलिटिक्स, लंदन, मैकमिलन, 1997।

हॉब्सबॉम, ई.जे., नेशंस एण्ड नेशनलिज़्म सिंस 1780, केम्ब्रिज़, केम्ब्रिज़ यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990।

हावर्ड जे. वियार्डा (सं.), न्यू डाइरेक्शंस इन कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स, बोल्डर, कॉलराडो, वेस्टव्यू प्रेस, 1985।

हचिन्सन, जॉन, और ऐंटनी, डी. स्मिथ, नेशनलिज़्म, ऑक्सफर्ड रीडर्स, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994।

कविराज, सुदीप्ता और सुनील खिलनानी, सिविल सोसाइटी, केम्ब्रिज, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2002।

ओहमे, के., द बॉर्डरलेस वर्ल्ड, लंदन, कॉलिन्स, 1995।

पारख, बी., गांधीज़ पॉलिटिकल फिलॉसफी: ए क्रिटिकल इक्जामिनेशन, हाउंडमिल्स, मैकमिलन, 1989।

पटनैम, रॉबर्ट, मेकिंग डेमोक्रेसी वर्क: सिविक ट्रेडिंशंस इन मॉडर्न इटली, न्यू जर्सी, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993।

रॉय सी. मैकराइडिस (सं.), कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स, नोट्स एण्ड रीडिंग्स, 1986।

सारंगी, प्रकाश, लिबरल थ्योरीज़ ऑफ दि स्टेट: कन्टेम्प्रेरी पर्सपेक्टिव, नई दिल्ली, स्टर्लिंग, 1996।

सैसन, एस., लूज़िंग कंट्रोल? सॉवरेनटी इन ऐन एज ऑफ ग्लोबलाइज़ेशन, न्यू यॉर्क, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996।

स्मिथ, ए. डी., थ्योरीज़ ऑफ नेशनलिज़्म, लंदन, डकवर्थ, 1971।

स्ट्रांग, सी. एफ., मॉडर्न पॉलिटिकल कंस्टीट्यूशंस, लंदन सिजविक एण्ड जैकसन, 1963।

टॉर्नक्विस्ट, ऑले, पॉलिटिक्स एण्ड डेवलपमेंट: ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन, नई दिल्ली सेज़ पब्लिकेशंस, 1999।

वॉलरस्टाइन, इम्मानुएल, द मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम, न्यू यॉर्क, अकैडमिक प्रेस, 1974, 1979, दो खंडों में।

वॉल्टर्स, आर. और ब्लेक, डी., द पॉलिटिक्स ऑफ ग्लोबल इकॉनामिक रिलेशंस, चौथा संस्करण, एंगलवुड क्लिफ्स, ए जे, प्रेंटिस हॉल, 1992।

विलेट्स, पीटर, 'ट्रांसनेशनल ऐक्टर्स एंड इंटरनेशनल ऑर्गनाइज़ेशंस इन ग्लोबल पॉलिटिक्स', बेलिस, जॉन और स्मिथ, स्टीव (सं.) द ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स: एन इंट्रोडक्शन टु इंटरनेशनल रिलेशंस में, दूसरा संस्करण, ऑक्सफर्ड, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001।